यू.जी.सी. के नवीन दिशा-निर्देशों के अनुरूप प्रकाशित

ISSN 2231-1351

पदचिन्ह : बहुविषयक पीअर रिव्यूड एंड रेफेरीड जर्नल

Impact Factor: 8

Padchinha

January 2026 Volume: 15 Issue: 1

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal

www.muditeducation.com/Padchinha

Impact Factor (IIFS): 8 ISSN 2231-1351
UGC Approved Journal No. 49359 (Old) यू.जी.सी. के नवीन दिशा-निर्देशों के अनुरूप प्रकाशित

PADCHINHA

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal

January 2026 Volume: 15 Issue: 1

EDITOR
DR. AJAY PARMAR
B-30/239 Nagavan, Lanka, Varanasi - 221005

CO-EDITOR
DR. PANKAJ KUMAR SINGH
Mudit Shiksha Sanstha, Trimurti Nagar
Wardha (Maharashtra) PIN Code - **442001**

Contact: 9823696685 **E-mail: padchinha@muditeducation.com**

Note:
• The views expressed in the journal "Padchinha" are not necessarily the views of peer reviewing board or publisher. Neither any member of the peer reviewing board nor publisher can in anyway be held responsible for the views and authenticity of the articles, reports or research findings.
• All disputes are subject to Varanasi jurisdiction only.

www.muditeducation.com/Padchinha

संपादक-मंडल/ रेफेरीड बोर्ड

प्रो. प्रेमनारायण सिंह
निदेशक
अंतर विश्वविद्यालय अध्यापक शिक्षा केंद्र
बी. एच. यू. वाराणसी (उ. प्र.) पिन - 221005

प्रो. नृपेन्द्र प्रसाद मोदी
पूर्व अधिष्ठाता, संस्कृति विद्यापीठ
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन - 442001

डॉ. मनोज कुमार राय
एसोसिएट प्रोफेसर, गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन - 442001

डॉ. गोविन्द प्रसाद वर्मा
सहायक प्रोफेसर, मानविकी और भाषा संकाय
महात्मा गाँधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी
(बिहार) पिन - 845401

डॉ. अनिल कुमार
वरीय सहायक प्राचार्य, स्नातकोत्तर अर्थशास्त्र विभाग
भूपेंद्र नारायण मंडल विश्वविद्यालय, पश्चिमी परिसर
पी.जी. सेंटर सहरसा, बिहार. पिन : 852201

डॉ. रणजीत कुमार
सहायक प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग
मौलाना मजहरूल हक अरबी व फारसी विश्वविद्यालय
पटना (बिहार) पिन - 800001

डॉ. प्रदीप त्रिपाठी
सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक
(सिक्किम) पिन - 737102

प्रो. अमरेन्द्र त्रिपाठी
प्रोफेसर, हिंदी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
(उत्तर प्रदेश) पिन - 211002

डॉ. धीरेन्द्र कुमार राय
सहायक प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसंप्रेषण विभाग
काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ. प्र.) – 221005

डॉ. निमिषा त्रिपाठी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर-सह-अध्यक्ष,
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, डोरण्डा महाविद्यालय, राँची

डॉ. राम मनोहर मिश्र
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
अकबरपुर महाविद्यालय, अकबरपुर
कानपुर देहात (उ.प्र.) पिन : 209101

रवीन्द्र पाण्डेय
हिंदी विभाग, दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर (उ. प्र.) पिन - 273009

सलाहकार समिति

डॉ. राजीव रंजन गिरि
एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, कला संकाय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली – 110007

डॉ. रवेन्द्र राजपूत
एसोसिएट प्रोफेसर, शिक्षक-शिक्षा विभाग
श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़
उत्तर प्रदेश. पिन - 202001

डॉ. निशीथ राय
सहायक प्रोफेसर, मानवविज्ञान विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन – 442001

पदचिन्ह के लिए प्रकाशक अजय परमार, बी.- 30/239, नगवां, लंका वाराणसी द्वारा प्रकाशित और सूर्या आफसेट, 30, विवेकानंद कालोनी, मलदहिया, वाराणसी में मुद्रित। संपादक : अजय परमार

UGC Approved Journal No. 49359 (Old) Impact Factor: 8

यू.जी.सी. के नवीन दिशा-निर्देशों के अनुरूप प्रकाशित

पदचिन्ह PADCHINHA

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal

जनवरी (January) 2026 वर्ष (Vol.): 15 अंक (Issue): 1 खंड – अ

अनुक्रम

		पृष्ठ संख्या
	संपादकीय	
➢	कोशी के साहित्यिक परिदृश्य का ऐतिहासिक विश्लेषण _**अलका भारती** _**डॉ. इम्तियाज अंजुम**	01-08
➢	भारत छोड़ो आंदोलन, असहयोग आंदोलन एवं सविनय अवज्ञा आंदोलन का तुलनात्मक अध्ययन समानताएँ, अन्तर एवं प्रभाव _**सौरभ मिश्र**	09-15
➢	बैंको द्वारा प्रदत्त किसान क्रेडिट कार्ड का कृषकों की आर्थिक स्थिति पर प्रभाव : सहरसा जिले के नवहट्टा प्रखण्ड के विशेष संदर्भ में _**कुन्दन कुमार** _**डॉ. अनिल कुमार**	16-20
➢	The Sociological Study of Divorce: Causes and Consequences _**Dr. Mahendra Singh**	21-29
➢	संस्कृति के प्राण : राम _**डॉ. इन्दु दत्ता**	30-32
➢	Trailblazers of Women Empowerment in India _**Dr. Arti Kumari**	33-37
➢	भारतीय ज्ञान प्रणाली में गुरुकुल परंपरा : एक दार्शनिक एवं व्यावहारिक विश्लेषण _**साकेत तिवारी**	38-41
➢	भारत के संविधान निर्माण में बिहारियों की भूमिका _**अमित कुमार मिश्र**	42-44
➢	किन्नर समुदाय के विद्यार्थियों की शैक्षिक स्थितियों का अध्ययन_**प्रमोद कुमार**_**प्रो. डॉ. भरत कुमार पंडा**	45-54
➢	Learning Styles as Predictors of Schema Development in Elementary Language Education: An Experimental Study among Native Hindi Learners _**Ranu Mondal**	55-66
➢	Buddhism in the Paradigm of Vedanata Philosophy _**Dr. Neeru Choudhary**	67-74
➢	नीति से नीयत तक : 'पुरवाई' में समाहित भारतीय ज्ञान की परंपरा _**सुजाता दाश** _**डॉ. इसाबेला लकड़ा**	75-81
➢	SHGs में निर्णय-निर्माण और महिला सशक्तिकरण _**कुलदीप महतो**	82-87
➢	झारखण्ड में महिला शिक्षा और आर्थिक सशक्तिकरण का संबंध _**विवेक जायसवाल**	88-92
➢	समाज सुधार में रामानंद की भूमिका _**प्रतीक कुमार ओझा** _**डॉ. अंजनी कुमार श्रीवास्तव**	93-97
➢	वर्तमान परिप्रेक्ष्य में लोक साहित्य एवं लोक संस्कृति _**डॉ. संगीता रामनाथ देशमुख**	98-100
➢	खिलाफत आंदोलन में भारत विभाजन की विभीषिका के सूत्र _**राकेश कुमार**	101-106
➢	मानवीय मूल्यबोध के कवि निराला _**डॉ. कमला चौधरी**	107-111
➢	Silk Route In India: A Study _**Dr. Shiwashri Sinha**	112-117
➢	पर्यावरण, गांधी दृष्टि और हिंद स्वराज _**डॉ. मिथिलेश कुमार तिवारी**	118-123
➢	Controlled Inclusion: Patriarchal Gatekeeping and the Limits of Women's Substantive Representation in Indian Democracy _**Suraj Kumar Verma**	124-141
➢	दलित साहित्य में स्त्री का बदलता स्वरूप _**प्रेमकला यादव**	142-148

यू.जी.सी. के नवीन दिशा-निर्देशों के अनुरूप प्रकाशित

पदचिन्ह PADCHINHA

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal

जनवरी (January) 2026 वर्ष (Vol.): 15 अंक (Issue): 1 खंड – अ

- चुनावी और सरकारी भाषणों का तुलनात्मक राजनीतिक प्रोक्ति-विश्लेषण : इंदिरा गांधी, अटल बिहारी वाजपेयी और नरेंद्र मोदी के छह भाषणों का अध्ययन _**कनुप्रिया माली** 149-156
- नेपाल से सम्बन्धित फणीश्वर नाथ रेणु के रिपोर्ताज का शिल्पगत और भाषा वैशिष्ट्य _**डॉ. तुलसी छेत्री** 157-163
- Existential Thoughts in the Bhagavad Gita and the Bible: A Comparative Study _**DR. Rajeev Ranjan Tigga** 164-168
- Understanding 'Media Ecologies' in Contemporary Times: A Comparative Analysis of White Noise and Underworld by Don DeLillo _**Dr. Nivedita Bhardwaj** 169-176
- Themes and discourse in Modern Arabic literature and Hindi literature: A Comparative sketch _**Santosh Kumar** 177-181
- श्री अरविन्द का शैक्षिक दर्शन _**डॉ. रवेन्द्र राजपूत** 182-185
- Institutional Limits of District E-Governance: Evidence from Bhojpur _**Rocky Singh _Dr. Amir Mahmood** 186-193
- उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों में शैक्षिक तनाव, मानसिक स्वास्थ्य एवं समायोजन का समीक्षात्मक अध्ययन _**डॉ. रूपेन्द्र मुनी अरोड़ा _महेन्द्र कुमार यादव** 194-200
- आजमगढ़ जनपद (उ.प्र.) में अनुसूचित जाति की साक्षरता एवं उसको प्रभावित करने वाले कारक _**डॉ. जगदेव _पुष्कर** 201-205
- मरखाहवा कजरवा (2008): भोजपुरी धोबी लोकगीत का एक मानवशास्त्रीय एवं लोक सांस्कृतिक विश्लेषण _**डॉ. शिव कुमार** 206-217
- पञ्चक्लेशजनित व्याधियों का यम-नियम द्वारा प्रबन्धन : एक दार्शनिक विमर्श _**हिमांशु _डॉ. सेतवान** 218-222
- भाषा विज्ञान एवं विज्ञान की अन्य शाखाओं का अन्तःसंबंध _**डॉ. अभिषेक मिश्र** 223-226
- स्वत्रंतता आंदोलन का अभिनत अस्त्रः मद्य निषेध कार्यक्रम (छत्तीसगढ़ क्षेत्र के विशेष सन्दर्भ में) _**डॉ. अजय कुमार सिंह** 227-232
- एक राष्ट्र, एक चुनाव : भारतीय लोकतंत्र में संरचनात्मक सुधार _**हर्षा जैन _डॉ. संजय कुमार** 233-237
- Indian Knowledge System in Relation to Buddhism during the Mauryan Period _**Dr. Vishva Dutt _Shekhar Chandra** 238-244
- भिलाई और दुर्ग के औद्योगिक श्रमिकों में वित्तीय साक्षरता का आर्थिक सशक्तिकरण पर प्रभाव _**डॉ. शैमीना परवीन** 245-249
- आदिवासी साहित्य : प्रकृति के साथ सह अस्तित्व कवयित्रियों की कविताओं के संदर्भ में _**डॉ. महाँतेश आर अंची** 250-253
- 'मैं पायल…' उपन्यास में संघर्षरत किन्नर जीवन का यथार्थ चित्रण _**डॉ. अनिता कुमारी ठाकुर** 254-257
- छत्तीसगढ़ के ग्रामीण अनुसूचित जातियों की महिलाओं में सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन का अध्ययन _**आकांक्षा पाटिल _डॉ. भूमिका मिश्रा** 258-261
- उपन्यास लेखन में आंचलिकता : फणीश्वरनाथ रेणु के विशेष सन्दर्भ में _**प्रतिमा** 262-265
- रमा पाण्डेय कृत लल्लन मिस एक किन्नर संघर्ष _**डॉ. स्वाती सुरेश खळेकर** 266-268
- प्रथम विश्वयुद्ध और महात्मा गांधी _**अक्षय कुमार अंजनी** 269-272
- Notes For Authors

संपादकीय

नव वर्ष 2026 के शुभारंभ के साथ "पदचिन्ह" पत्रिका के 15वें वर्ष के प्रथम अंक को आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए अत्यंत हर्ष का अनुभव हो रहा है। यह अंक न केवल शैक्षणिक उत्कृष्टता का परिचायक है, बल्कि भारतीय ज्ञान प्रणाली की समकालीन प्रासंगिकता और वैश्विक संदर्भों में उसकी उपादेयता को भी रेखांकित करता है। कुल 44 शोध पत्रों के साथ यह अंक बहुविषयक अनुसंधान की समृद्ध परंपरा का प्रतिनिधित्व करता है।

अलका भारती और डॉ. इम्तियाज अंजुम द्वारा प्रस्तुत "कोशी के साहित्यिक परिदृश्य का ऐतिहासिक विश्लेषण" इस अंक की शुरुआत करता है। यह आलेख न केवल कोशी अंचल की साहित्यिक समृद्धता को उजागर करता है, बल्कि क्षेत्रीय साहित्य के राष्ट्रीय महत्व को भी स्थापित करता है। इसी क्रम में डॉ. इन्दु दत्ता का "संस्कृति के प्राण : राम" भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्वों की पहचान करता है, जहाँ राम केवल एक पौराणिक चरित्र नहीं, बल्कि भारतीय मानस के आदर्श प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

निराला जी के मानवीय मूल्यबोध पर डॉ. कमला चौधरी का विश्लेषण हिंदी साहित्य की प्रगतिशील परंपरा को नवीन आयाम प्रदान करता है। फणीश्वर नाथ रेणु के नेपाल संबंधी रिपोर्ताज का डॉ. तुलसी छेत्री द्वारा किया गया शिल्पगत अध्ययन आंचलिक साहित्य की शिल्पगत विशेषताओं को उद्घाटित करता है।

सौरभ मिश्र का "भारत छोड़ो आंदोलन, असहयोग आंदोलन एवं सविनय अवज्ञा आंदोलन का तुलनात्मक अध्ययन" स्वतंत्रता संग्राम की रणनीतियों और प्रभावों का गहन विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यह आलेख न केवल ऐतिहासिक घटनाओं का विवेचन करता है, बल्कि उनके समकालीन राजनीतिक आंदोलनों के लिए प्रासंगिकता भी स्थापित करता है। राकेश कुमार का "खिलाफत आंदोलन में भारत विभाजन की विभीषिका के सूत्र" धर्मनिरपेक्षता और सर्वधर्म समभाव के भारतीय आदर्श के संदर्भ में विशेष महत्व रखता है। अमित कुमार मिश्र द्वारा "भारत के संविधान निर्माण में बिहारियों की भूमिका" का अध्ययन संविधान निर्माण प्रक्रिया में क्षेत्रीय योगदान को रेखांकित करता है।

इस अंक की सबसे उल्लेखनीय विशेषता भारतीय ज्ञान प्रणाली के विविध पहलुओं पर केंद्रित शोध पत्रों की उपस्थिति है। साकेत तिवारी का "भारतीय ज्ञान प्रणाली में गुरुकुल परंपरा : एक दार्शनिक एवं व्यावहारिक विश्लेषण" समकालीन शिक्षा व्यवस्था के संकट के संदर्भ में गुरुकुल परंपरा की प्रासंगिकता स्थापित करता है।

डॉ. नीरू चौधरी का "Buddhism in the Paradigm of Vedanata Philosophy" भारतीय दार्शनिक परंपरा की समन्वयवादी प्रकृति को उजागर करता है। हिमांशु और डॉ. सेतवान का "पञ्चक्लेशजनित व्याधियों का यम-नियम द्वारा प्रबन्धन" योग दर्शन की चिकित्सा विज्ञान में उपादेयता को प्रमाणित करता है।

डॉ. विश्व दत्त और शेखर चंद्र का "Indian Knowledge System in Relation to Buddhism during the Mauryan Period" प्राचीन भारतीय ज्ञान प्रणाली के ऐतिहासिक विकास को दर्शाता है। डॉ. आरती कुमारी का "Trailblazers of Women Empowerment in India" महिला सशक्तिकरण के अग्रदूतों का सम्मानजनक स्मरण करता है। कुलदीप महतो का "SHGs में निर्णय-निर्माण और महिला सशक्तिकरण" और विवेक जायसवाल का "झारखण्ड में महिला शिक्षा और आर्थिक सशक्तिकरण का संबंध" समकालीन महिला सशक्तिकरण की चुनौतियों और संभावनाओं को उजागर करते हैं। Suraj Kumar Verma का "Controlled Inclusion: Patriarchal Gatekeeping and the Limits of Women's Substantive Representation in Indian Democracy" लोकतांत्रिक संस्थानों में महिला प्रतिनिधित्व की सीमाओं का गंभीर विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

प्रमोद कुमार और प्रो. डॉ. भरत कुमार पंडा का "किन्नर समुदाय के विद्यार्थियों की शैक्षिक स्थितियों का अध्ययन" समाज के हाशिए पर रहने वाले समुदायों की शिक्षा संबंधी चुनौतियों को उजागर करता है। डॉ. अनिता कुमारी ठाकुर और डॉ.

स्वाती सुरेश खळेकर के किन्नर समुदाय पर आधारित साहित्यिक अध्ययन सामाजिक समावेशन की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान हैं। कुंदन कुमार और डॉ. अनिल कुमार का "बैंको द्वारा प्रदत्त किसान क्रेडिट कार्ड का कृषकों की आर्थिक स्थिति पर प्रभाव" नीति निर्माण के संदर्भ में व्यावहारिक महत्व रखता है। यह अध्ययन सहरसा जिले के नवहट्टा प्रखंड के विशेष संदर्भ में किया गया है, जो स्थानीय स्तर पर नीतियों के प्रभाव का मूल्यांकन करता है।

Ranu Mondal का "Learning Styles as Predictors of Schema Development in Elementary Language Education" भाषा शिक्षा में आधुनिक मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का प्रयोग दर्शाता है। डॉ. रूपेंद्र मुनी अरोड़ा और महेंद्र कुमार यादव का "उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों में शैक्षिक तनाव, मानसिक स्वास्थ्य एवं समायोजन का समीक्षात्मक अध्ययन" समकालीन शिक्षा व्यवस्था की मानसिक स्वास्थ्य संबंधी चुनौतियों को संबोधित करता है।

Rocky Singh और Dr. Amir Mahmood का "Institutional Limits of District E-Governance: Evidence from Bhojpur" डिजिटल गवर्नेंस की व्यावहारिक चुनौतियों का विश्लेषण करता है। हर्षा जैन और डॉ. संजय कुमार का "एक राष्ट्र, एक चुनाव : भारतीय लोकतंत्र में संरचनात्मक सुधार" संवैधानिक सुधार की समसामयिक बहस में योगदान देता है। कनुप्रिया माली का "चुनावी और सरकारी भाषणों का तुलनात्मक राजनीतिक प्रोक्ति-विश्लेषण" भारतीय राजनीति के बदलते स्वरूप को समझने के लिए महत्वपूर्ण है।

Dr. Nivedita Bhardwaj का "Understanding 'Media Ecologies' in Contemporary Times: A Comparative Analysis of White Noise and Underworld by Don DeLillo" समकालीन मीडिया संस्कृति की जटिलताओं को साहित्यिक दृष्टिकोण से समझने का प्रयास है। Santosh Kumar का "Themes and discourse in Modern Arabic literature and Hindi literature: A Comparative sketch" भाषाई और सांस्कृतिक सीमाओं को पार करता हुआ तुलनात्मक साहित्य अध्ययन का उत्कृष्ट उदाहरण है। DR. Rajeev Ranjan Tigga का "Existential Thoughts in the Bhagavad Gita and the Bible: A Comparative Study" धर्मों के बीच दार्शनिक संवाद की संभावनाओं को तलाशता है।

डॉ. शैमीना परवीन का "भिलाई और दुर्ग के औद्योगिक श्रमिकों में वित्तीय साक्षरता का आर्थिक सशक्तिकरण पर प्रभाव" औद्योगिक विकास और श्रमिक कल्याण के बीच संतुलन की आवश्यकता को रेखांकित करता है। डॉ. मिथिलेश कुमार तिवारी का "पर्यावरण, गांधी दृष्टि और हिंद स्वराज" पर्यावरणीय संकट के समाधान में गांधीवादी दर्शन की प्रासंगिकता स्थापित करता है। यह आलेख सतत विकास की अवधारणा को भारतीय दार्शनिक परंपरा से जोड़ता है।

Dr. Mahendra Singh का "The Sociological Study of Divorce: Causes and Consequences" समकालीन पारिवारिक संरचना के बदलते स्वरूप का विश्लेषण करता है। डॉ. जगदेव और पुष्कर का आजमगढ़ जनपद में अनुसूचित जाति की साक्षरता पर अध्ययन सामाजिक न्याय की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान है।

डॉ. संगीता रामनाथ देशमुख का "वर्तमान परिप्रेक्ष्य में लोक साहित्य एवं लोक संस्कृति" और डॉ. शिव कुमार का "मरखाहवा कजरवा (2008): भोजपुरी धोबी लोकगीत का एक मानवशास्त्रीय एवं लोक सांस्कृतिक विश्लेषण" भारतीय लोक परंपरा के संरक्षण और संवर्धन की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य हैं। प्रतीक कुमार ओझा और डॉ. अंजनी कुमार श्रीवास्तव का "समाज सुधार में रामानंद की भूमिका" और श्री अरविंद के शैक्षिक दर्शन पर डॉ. रवेंद्र राजपूत का अध्ययन भारतीय दार्शनिक परंपरा की समकालीन प्रासंगिकता को उजागर करते हैं। आकांक्षा पाटिल और डॉ. भूमिका मिश्रा का "छत्तीसगढ़ के ग्रामीण अनुसूचित जातियों की महिलाओं में सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन का अध्ययन" सामाजिक न्याय और आर्थिक विकास के बीच सहसंबंध स्थापित करता है।

इस उत्कृष्ट अंक के लिए हम सभी लेखकों, समीक्षकों, और शोधार्थियों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। मुदित शिक्षा संस्था के संरक्षण में "पदचिन्ह" पत्रिका का यह सफर भारतीय शिक्षा और शोध जगत में नई दिशाओं का संकेत है। ज्ञान की यह यात्रा निरंतर चलती रहे और भारतीय चिंतन परंपरा विश्व कल्याण की दिशा में अपना योगदान देती रहे।

Received: 01.01.2026 | Accepted: 10.01.2026 | Published: 30.01.2026

कोशी के साहित्यिक परिदृश्य का ऐतिहासिक विश्लेषण

अलका भारती[*]
alkasaharsa@gmail.com

डॉ. इम्तियाज अंजुम[†]
ianjum96@gmail.com

शोध-सार :

प्रस्तुत शोध कोशी क्षेत्र के साहित्यिक परिदृश्य का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। कोशी नदी, जिसे 'बिहार का शोक' कहा गया—भूगोल, इतिहास और जनजीवन के स्तर पर निरंतर अस्थिरता, संघर्ष और विस्थापन का क्षेत्र रहा है। यही कारण है कि यहाँ का साहित्य केवल सौंदर्यपरक अभिव्यक्ति न होकर ऐतिहासिक यथार्थ, सामाजिक पीड़ा और मानवीय जिजीविषा का सशक्त दस्तावेज बन जाता है। लोककथाओं, लोकगीतों, मिथकों और मौखिक परंपराओं से विकसित होकर कोशी का साहित्य कथा, कविता, नाटक और कथेतर विधाओं तक विस्तृत हुआ है।

कोशी क्षेत्र में सहरसा, सुपौल, मधेपुरा पूर्णिया और आसपास के क्षेत्रों से जुड़ी बौद्ध, पौराणिक और लोकपरंपराएँ इस क्षेत्र की सांस्कृतिक जड़ों को रेखांकित करती हैं। लोरिक, विशुराउत जैसे लोकनायकों की वीरगाथाएँ और कोशी-केन्द्रित लोकविश्वास साहित्यिक चेतना के आधार स्तंभ हैं।

आधुनिक काल में फणीश्वरनाथ रेणु, राजकमल चौधरी, सतीनाथ भादुड़ी, विभूतिभूषण मुखोपाध्याय, चन्द्रकिशोर जायसवाल, ओमप्रकाश भारती सहित हिंदी, मैथिली, बांग्ला और उर्दू के रचनाकारों ने कोशी अंचल के सामाजिक यथार्थ, नदी-संस्कृति और विस्थापन की त्रासदी को साहित्य में व्यापक स्वर प्रदान किया।

बनैली–श्रीनगर राजवंश और फरकिया स्टेट का साहित्यिक संरक्षण इस क्षेत्र को एक सांस्कृतिक केंद्र के रूप में स्थापित करता है। समकालीन रचनाकारों की कृतियों में पर्यावरणीय संकट, हाशिए के समुदायों की आवाज़ और प्रतिरोध की चेतना प्रमुखता से उभरती है। इस प्रकार कोशी का साहित्य क्षेत्रीय होते हुए भी व्यापक हिंदी साहित्य से सघन संवाद करता है।

बीज शब्द :

कोशी अंचल, आंचलिक साहित्य, लोक-संस्कृति, नदी-संस्कृति, विस्थापन, सामाजिक यथार्थ, बहुभाषिक साहित्य, जनसंघर्ष, ऐतिहासिक चेतना, क्षेत्रीय साहित्य आदि।

मूल आलेख :

किसी भी क्षेत्र का साहित्य वहाँ के भूगोल, इतिहास, समाज और सांस्कृतिक चेतना का सजीव दस्तावेज़ होता है। कोशी क्षेत्र का साहित्यिक परिदृश्य भी इसी परंपरा का प्रतिनिधित्व करता है, जहाँ प्रकृति और मनुष्य के बीच सतत संघर्ष, विस्थापन, पीड़ा, आशा और जीवटता की अनुभूतियाँ साहित्यिक अभिव्यक्ति का आधार रही हैं। कोशी नदी के इर्द-गिर्द विकसित यह क्षेत्र केवल भौगोलिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी विशिष्ट पहचान रखता है। कोशी की बाढ़, उसका बार-बार मार्ग परिवर्तन और उससे उपजा सामाजिक–आर्थिक अस्थायित्व यहाँ के साहित्य को एक अलग संवेदनात्मक धरातल प्रदान करता है। अश्विनी कुमार आलोक के शब्दों में - *"कोसी नदी सप्तकोसी है, असंयमित और अस्थिर धाराओं वाली डरावनी नदी, कुर्सेला के कटरिया गाँव के करीब त्रिमोहिनी घाट पर कोसी के जलवाही आवेग का गंगा में आत्मसमर्पण भले अनायास नहीं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि कोसी अपना विस्मयकारी प्रवाह पूरी तरह समेट लें।"*[1]

[*] **शोधार्थी, इतिहास विभाग, भूपेन्द्र ना. मंडल विश्वविद्यालय, मधेपुरा – 852113 (बिहार)**

[†] **एसोसिएट प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग (पश्चिमी परिसर), भूपेन्द्र ना. मंडल विश्वविद्यालय, मधेपुरा**

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो कोशी क्षेत्र का साहित्य लोककथाओं, लोकगीतों, मिथकों और मौखिक परंपराओं से विकसित होकर आधुनिक साहित्यिक विधाओं तक पहुँचता है। प्राचीन काल में इस क्षेत्र की सांस्कृतिक चेतना लोकस्मृति और लोकविश्वासों के माध्यम से अभिव्यक्त होती रही। मैथिली, अंगिका, भोजपुरी और हिंदी की मिश्रित भाषिक परंपरा ने यहाँ के साहित्य को बहुभाषिक स्वरूप प्रदान किया। लोकगीतों में नदी, खेती, बाढ़, प्रेम, विरह और संघर्ष जैसे विषय प्रमुख रूप से उभरते हैं, जो इस अंचल के जनजीवन की यथार्थ झलक प्रस्तुत करते हैं।

आधुनिक काल में, विशेषतः औपनिवेशिक दौर और स्वतंत्रता के बाद, कोशी क्षेत्र का साहित्य सामाजिक यथार्थ की ओर अधिक उन्मुख हुआ। विस्थापन, गरीबी, जातिगत संरचना, श्रमजीवी वर्ग की पीड़ा तथा विकास के नाम पर उपेक्षा जैसे प्रश्न साहित्य के केंद्र में आए। कथा साहित्य, कविता और आत्मकथात्मक लेखन में कोशी क्षेत्र की त्रासदी और मानवीय संघर्ष को नई वैचारिक दृष्टि मिली। यह साहित्य केवल करुणा का आख्यान नहीं, बल्कि प्रतिरोध और चेतना का स्वर भी है।

समकालीन साहित्य में कोशी क्षेत्र का साहित्यिक परिदृश्य और अधिक बहुआयामी रूप में सामने आता है। यहाँ पर्यावरणीय संकट, विकास बनाम विनाश, राज्य और समाज की भूमिका, तथा हाशिए के समुदायों की आवाज़ को साहित्यिक विमर्श में प्रमुखता मिली है। विशेष रूप से दलित, स्त्री और वंचित समुदायों के अनुभवों ने कोशी के साहित्य को वैचारिक गहराई प्रदान की है, जिससे यह क्षेत्रीय साहित्य व्यापक हिंदी साहित्य की मुख्यधारा से संवाद करता प्रतीत होता है।

साहित्य और समाज के बीच घनिष्ठ एवं अनिवार्य संबंध होता है। साहित्य अपने संवेदनशील हृदय-पटल पर समाज के यथार्थ चेहरे को अंकित करता है तथा उसकी स्थिति और दिशा—दोनों का संकेत करता चलता है। यह मनुष्य की कलात्मक चेतना की परिणति है और अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म, स्थायी एवं व्यापक महत्व रखता है।

साहित्य किसी निश्चित भौगोलिक सीमा या कालखंड में बँधकर जन्म नहीं लेता। साहित्यकार न तो किसी क्षेत्र या युग की स्पष्ट रेखा खींचकर सृजन करता है, न ही वह विषय, विधा अथवा अपनी रचना की सामाजिक उपयोगिता का पूर्वनिर्धारण कर लेखन में प्रवृत्त होता है। वह इस चिंता से भी मुक्त रहता है कि साहित्यिक परंपरा में उसका स्थान क्या होगा या भविष्य में उसकी कृतियों का मूल्यांकन किस प्रकार किया जाएगा।

इस प्रकार लेखक अपने अंतःकरण की अनुभूतियों और विचार-तरंगों के प्रवाह में बहते हुए सृजन करता है और अनजाने ही किसी तट पर आकर ठहर जाता है। रचना-प्रक्रिया से विरत होने के पश्चात उस कृति का विवेचन, वर्गीकरण, मूल्यांकन और स्वरूप-निर्धारण समाज का—विशेषतः सजग पाठकों, समीक्षकों और अनुसंधानकर्ताओं का दायित्व बन जाता है।

किसी भी भाषा के साहित्य-सागर को समृद्ध करने में उस भाषा-क्षेत्र के विभिन्न भूभागों और कालों की असंख्य रचनात्मक धाराओं का योगदान निहित रहता है। यद्यपि ये धाराएँ प्रायः मुख्य साहित्यिक प्रवाह में प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर नहीं होतीं, तथापि उनके महत्व को नकारा नहीं जा सकता। इस दृष्टि से किसी विशेष काल या क्षेत्र से उपजी साहित्यिक रचनाओं का मूल्यांकन न केवल उचित, बल्कि साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से आवश्यक भी प्रतीत होता है।

क्षेत्रीय जीवन से उद्भूत साहित्य में उस क्षेत्र का सामाजिक यथार्थ प्रतिबिंबित होता है। ऐसे साहित्य को सही ढंग से समझने के लिए उस समाज के मूल बिंबों—परंपराओं, परिवेश और जीवन-स्थितियों का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि इन्हीं के संयोग से सामाजिक चित्तवृत्तियों का निर्माण होता है। ये चित्तवृत्तियाँ ही साहित्य में अभिव्यक्त होती हैं और साहित्य को विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती हैं। सामाजिक संरचना, भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक परिवेश, धार्मिक मान्यताएँ, आर्थिक दशाएँ, राजनीतिक परिस्थितियाँ, सांस्कृतिक परंपराएँ तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, ये सभी तत्व साहित्यिक सृजन को सूक्ष्म रूप में प्रभावित करते हैं।

हिन्दी साहित्य का इतिहास लगभग एक सहस्राब्दी में विस्तृत है। इस दीर्घ विकास-यात्रा के परिणामस्वरूप हिन्दी आज न केवल राष्ट्रीय, बल्कि वैश्विक स्तर पर भी प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुकी है। तथापि यह तथ्य भी विचारणीय है कि इसकी समृद्धि में विभिन्न कालों और क्षेत्रों के साहित्यिक योगदान की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। वस्तुतः कोई भी साहित्य, चाहे वह कितना ही सार्वकालिक और सार्वभौमिक क्यों न हो, किसी न किसी काल और क्षेत्र की उपज होता है। अतः क्षेत्रीय जीवन से संबद्ध साहित्य का अध्ययन अपेक्षित ही नहीं, बल्कि साहित्यिक इतिहास के पुनर्पाठ के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध होता है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में पूर्णियाँ प्रमंडल का योगदान उल्लेखनीय रहा है। इस क्षेत्र के रचनाकारों ने हिन्दी साहित्य को न केवल समृद्ध किया, बल्कि उसे नए वैचारिक और शिल्पगत आयाम भी प्रदान किए। प्रो. विनय कुमार चौधरी लिखते हैं – *"हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में-विशेषतः वर्त्तमान शताब्दी के स्वातन्त्रयोत्तर काल में - पूर्णियाँ अंचल का योगदान अत्यंत उल्लेखनीय है। इस क्षेत्र की प्रतिभाओं ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध ही नहीं किया, बल्कि उसे नये आयाम भी दिये। हिन्दी का आलोचना-साहित्य श्री लक्ष्मी नारायण 'सुधांशु का ऋणी है तो कथा साहित्य को अपनी देन के कारण अनूपलाल मंडल 'बिहार के प्रेमचंद कहलाने का गौरव प्राप्त कर सके। फणीश्वर नाथ रेणु ने कथा साहित्य में 'आंचलिकता' का एक नया अध्याय जोड़कर उस शब्द को शास्त्रीय स्वरूप ग्रहण करने का सुयोग दिया और महर्षि मेंहीं ने वर्त्तमान भौतिक एवं यांत्रिक युग में अपनी आध्यात्मिक अनुगुज से जीवन और जगत को सघन रूप से प्रभावित किया। इन विभूतियों का अवदान साहित्यिक घरातल पर इतना सशक्त और महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ कि वे अपने जीवन काल में ही समालोचना और शोध के विषय बन गये।"*[2]

बिहार के प्रेमचंद कहे जाने वाले और रेणु के पहले साहित्यिक गुरु अनूपलाल मंडल के संदर्भ में डॉ. लक्ष्मी प्रसाद श्रीवास्तव लिखते हैं – *"बिहार के हिन्दी उपन्यासकारों में प्रथम पांक्तेय परिगण्य समैली (कटिहार) निवासी मंडलजी का जन्म 1871 ई० में हुआ। उन्होंने प्राईमरी स्कूल से नौकरी आरम्भ कर स्वाध्याय की बदौलत यशस्वी योग्यता अजित की। कालान्तर में वे सेठिया कालेज, बीकानेर (राजस्थान) में अध्यापक बने। 1928 ई० तक शिक्षण कार्यविधि में उन्होंने उपन्यास, कहानी, आलोचना आदि विधाओं में जमकर लिखा।"*[3]

रेणु की सृजनात्मक परंपरा से आलोकित कोशी अंचल का ही एक महत्वपूर्ण, किंतु अपेक्षाकृत उपेक्षित हिस्सा मधेपुरा जिला है। यह क्षेत्र राजनीतिक, आर्थिक और भौगोलिक दृष्टि से पिछड़ेपन के साथ-साथ साहित्यिक रूप से भी लंबे समय तक अनालोकित और अनालोचित रहा है। यहाँ रेणु के संबंध में डॉ. रामनरेश भक्त और डॉ. लव कुमार का यह कथन उल्लेखनीय है – *"अपने उपन्यास और अपने कहानियों के द्वारा रेणु ने पूर्णिया के ग्राम्य जीवन की एक-एक बारीकी चित्रपट की भाँति पन्नों पर उतार दिया है।"*[4]

भौगोलिक और ऐतिहासिक दृष्टि से कोशी क्षेत्र का साहित्यिक परिदृश्य अत्यंत समृद्ध और बहुआयामी रहा है। कोशी की उपनदियों, बारंबार आने वाली बाढ़, भूगर्भीय अस्थिरता और प्राकृतिक आपदाओं ने यहाँ के सामाजिक जीवन को गहराई से प्रभावित किया है। इन परिस्थितियों का प्रभाव यहाँ के साहित्य में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है, जहाँ संघर्ष, विस्थापन, पीड़ा और जिजीविषा प्रमुख विषयों के रूप में उभरते हैं। इस प्रकार कोशी का साहित्यिक परिदृश्य केवल सौंदर्य-बोध का नहीं, बल्कि ऐतिहासिक यथार्थ और सामाजिक संघर्ष का जीवंत दस्तावेज बन जाता है।

कोशी अंचल की लोक-संस्कृति और लोक-साहित्य में कोशी नदी केवल एक प्राकृतिक जलधारा नहीं, बल्कि मानवीय संवेदना से युक्त सजीव प्रतीक के रूप में उपस्थित है। यहाँ के लोकगीतों और लोककथाओं में कोशी को 'कुमारी' रूप में चित्रित किया गया है, जो अपने यौवन के तीव्र आवेग में बढ़ती हुई सिंहेश्वर धाम तक जा पहुँची। लोकमान्यता है कि जब कोशी ने अपने उग्र प्रवाह से सिंहेश्वर मंदिर को क्षति पहुँचाने का प्रयास किया और मंदिर गिरने के कगार पर आ गया, तब भगवान शिव ने कोशी के मस्तक में सिंदूर भरकर उसे सुहागिन बना दिया। नवविवाहिता के रूप में कोशी लज्जा और संकोच से पीछे हट गई। कहा जाता है कि उसी सिंदूर की लालिमा से कोशी का जल गैरिक अथवा ललछौंह रंग का हो गया। इस विश्वास के प्रमाणस्वरूप गैड़थान (गणेश स्थान) के निकट किए गए बोरिंग से प्राप्त जल और मिट्टी के रंग का उल्लेख किया जाता है। सिंहेश्वर नाथ का मंदिर प्राचीन मयगिरि पर अवस्थित है और कोशी के कटाव से उसकी रक्षा हेतु पुरातत्व विभाग द्वारा कराई गई खुदाई से इन मान्यताओं से जुड़े ऐतिहासिक संकेत भी प्राप्त हुए हैं। इसका जिक्र डॉ. विनय कुमार चौधरी अपनी पुस्तक *'कोशी अंचल का साहित्यिक अवदान'*[5] में करते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह क्षेत्र बौद्ध धर्म से भी संबद्ध माना जाता है। परंपरा और स्थानीय विश्वासों के अनुसार भगवान बुद्ध के समय में यहाँ बौद्ध धर्म का पर्याप्त विकास हुआ था। "बुद्धम घाट, मठाही और पिठाही (सभी मधेपुरा प्रखंड) ग्रामों को भगवान बुद्ध का प्रवचन क्षेत्र बताया जाता है।"[6]

'चर्या' साहित्य में 'आपणि' शब्द का प्रयोग महिषी (सहरसा) के लिए हुआ है, जिसका अर्थ बाज़ार से है। बुद्धचर्या के अनुसार भगवान बुद्ध ने 'आपणि' से पूर्णारण्य (पूर्णिया) की यात्रा की थी, जिसका मार्ग मधेपुरा क्षेत्र से होकर गुजरता था।

इस तथ्य की पुष्टि क्षेत्र में की गई खुदाइयों से प्राप्त बुद्ध प्रतिमाओं के अवशेषों से होती है, जो गैडथान, श्रीनगर, बुधमा, सिंहेश्वर आदि स्थानों से मिले हैं।[7]

पौराणिक परंपरा के अनुसार श्रृंगी ऋषि द्वारा संपन्न राजा दशरथ के पुत्रेष्ठि यज्ञ का स्थल भी सिंहेश्वर को माना जाता है। सिंहेश्वर से पश्चिमोत्तर दिशा में स्थित सतोखर गाँव के समीप कोशी नहर निर्माण योजना के अंतर्गत हुई खुदाई में राख की सात परतें प्राप्त हुई थीं, जिन्हें आज भी पुत्रेष्ठि यज्ञ से संबद्ध 'सप्तपोखर' के भौतिक साक्ष्य के रूप में देखा जाता है।

इस क्षेत्र का संबंध मौर्य काल से भी जोड़ा जाता है। किशनगंज थाना क्षेत्र में प्राप्त एक मौर्य स्तंभ इस ऐतिहासिक कड़ी की पुष्टि करता है। सिंहेश्वर प्रखंड के रायनीर ग्राम में भार जाति के उदय का उल्लेख मिलता है, जिनका लगभग दो शताब्दियों तक यहाँ शासन रहा। वर्तमान सिंहेश्वर स्थान की भूमि को भी इसी राज्य का अंश माना जाता है।

सिंहेश्वर और सुपौल के मध्य 'हरदी चौघाड़ा' के समीप कोशी नहर निर्माण के दौरान एक विशाल गढ़ के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिन्हें इतिहास-प्रसिद्ध लोकनायक लोरिक मनियार का दुर्ग माना जाता है। लोरिक के व्यक्तित्व और कृतित्व पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। (देखें भागलपुर गजेटियर, पृष्ठ 48–50) में लोकमान्यता के अनुसार छठी शताब्दी में उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर से आए यादव वीर लोरिक दुर्गा-भक्त, मातृभक्त, संवेदनशील प्रेमी, पराक्रमी योद्धा तथा अन्याय और शोषण के प्रबल विरोधी थे। उन्होंने निम्न वर्गों की नवविवाहित स्त्रियों के साथ कुलीन वर्ग द्वारा किए जाने वाले प्रथम समागम की अनैतिक परंपरा का विरोध किया। लोकस्मृति में लोरिक को एक साथ अपने युग का गांधी और सुभाष माना जाता है। उनकी वीरगाथाएँ आज भी नेपाल, असम सहित दूर-दराज़ के क्षेत्रों में प्रचलित हैं और उनकी प्रतिमा दक्षिण भारत तक में स्थापित है। 'लोरिकाइन' नामक वीरगाथा काव्य को इस क्षेत्र में इतना महत्व प्राप्त है कि लोक में कहावत प्रचलित है — *"सात खंड रामायण एक ओर और लोरिकाइन एक ओर।"*[8]

इसी प्रकार भागलपुर गजेटियर में यादव वीर विशुराउत का भी उल्लेख मिलता है। विशुराउत सबौर (भागलपुर) से आकर चौसा के समीप घघरी नदी के तट पर बसे थे। लोकमानस में वे नैतिकता, साहस और आदर्श के प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। गायों की रक्षा के क्रम में एक बाघ का वध करने के पश्चात जब बाघिन उनसे युद्ध के लिए आई, तो उसे स्त्री मानकर उन्होंने उस पर प्रहार नहीं किया और इसी नैतिक निर्णय के कारण वीरगति को प्राप्त हुए। लोरिक और विशुराउत, दोनों आज भी यहाँ देवतुल्य पूजित हैं; उनके नाम पर मेलों का आयोजन होता है और शैक्षणिक संस्थान स्थापित किए गए हैं।

इनके अतिरिक्त भी इस क्षेत्र में अनेक ऐसे महापुरुष हुए हैं, जो लिखित इतिहास में पर्याप्त स्थान न पा सके, किंतु लोक-स्मृति में आज भी जीवित हैं। गाजी धोधन महाराज, शिवदत्त महाराज, कारू खिरहरी, आशा मंडल तथा ऋषिदेव (मुसहर) समाज में जन्मे बंधु-हृदय-दीना भद्री जैसे व्यक्तित्व सामाजिक चेतना और मानवीय मूल्यों के प्रतीक माने जाते हैं। सहरसा गजेटियर के अनुसार विराटपुर के चंडी स्थान के पुजारी कभी यादव हुआ करते थे। शिवदत्त महाराज को आज राजपूत समाज कुलदेवता के रूप में पूजता है, जबकि धोधन महाराज के नाम पर विद्यालय, पंचायत और अनेक ग्रामों में गहबर (पूजा स्थल) स्थापित हैं। इन लोकनायकों की वीरगाथाएँ आज भी जनस्मृति में विद्यमान हैं और उनके आदर्श समाज को प्रेरित करते हैं। इन कथाओं में प्रायः गाय और बाघ से संघर्ष की घटनाएँ मिलती हैं, जो इस क्षेत्र की वन्य-प्रकृति और यादव संस्कृति की प्राचीनता तथा निरंतरता की पुष्टि करती हैं।

आधुनिक इतिहास की दृष्टि से भी मधेपुरा का योगदान उल्लेखनीय रहा है। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में इस क्षेत्र ने सक्रिय भागीदारी निभाई। 1926 ई. से ही यहाँ संगठित राष्ट्रीय आंदोलन का सूत्रपात हो चुका था। 1930 के दशक में नमक सत्याग्रह, 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन तथा बाद के जनांदोलनों में मधेपुरा के अनेक स्वतंत्रता सेनानियों ने बलिदान दिया। 1942 में मधेपुरा कचहरी पर तिरंगा फहराने की घटना और 1974 के छात्र आंदोलन में सदानंद यादव की शहादत इस क्षेत्र की राजनीतिक चेतना के प्रमाण हैं।

स्वातंत्र्योत्तर काल में मधेपुरा की राजनीति प्रायः प्रतिरोध और जनांदोलन की राह पर रही, जिसके कारण यह क्षेत्र शासकीय उपेक्षा का शिकार भी हुआ। परिणामस्वरूप आर्थिक विकास की गति अपेक्षाकृत धीमी रही। किंतु इसी संघर्षपूर्ण इतिहास, लोकविश्वासों, सांस्कृतिक परंपराओं और सामाजिक चेतना से कोशी अंचल का साहित्यिक परिदृश्य आकार ग्रहण करता है। यह साहित्य केवल सौंदर्यात्मक अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि इतिहास, संस्कृति और जनसंघर्ष का जीवंत दस्तावेज है, जो कोशी क्षेत्र की आत्मा को अभिव्यक्त करता है।

बनैली–श्रीनगर राजवंश साहित्यिक परंपरा का ऐतिहासिक विश्लेषण :

पूर्णिया स्थित **बनैली राजवंश** और इसकी शाखा **श्रीनगर राज** कोशी अंचल में साहित्य और संस्कृति के महत्त्वपूर्ण संरक्षण-केन्द्र रहे हैं। इस राजवंश की विशेषता यह रही कि राजपरिवार के सदस्य केवल साहित्य के संरक्षक ही नहीं, बल्कि स्वयं सक्रिय रचनाकार भी थे। राजा वेदानंद सिंह, लीलानंद सिंह, पद्मानंद सिंह, कीर्त्यानंद सिंह, कमलानंद सिंह और कुमार गंगानंद सिंह जैसे व्यक्तित्वों ने इस परंपरा को सुदृढ़ किया।

फरकिया स्टेट के स्वामी **विजयगोविन्द सिंह** (1807–17 ई. के आसपास जन्म) की स्फुट काव्य-रचनाएँ औपनिवेशिक शोषण और व्यक्तिगत त्रासदी की अभिव्यक्ति हैं। उनकी कविता *"पामर पामरता दिखलाई"* तत्कालीन सत्ता-व्यवस्था पर तीखा व्यंग्य है। उनकी हस्तलिखित कृति *'दिल्लीनामा'* का उल्लेख हिंदी साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

राजा वेदानंद सिंह (1776–1851 ई.) एक सुयोग्य शासक, कवि और वैद्यक-विद्या के ज्ञाता थे। उनकी रचना *'वेदानंद विनोद'* हिंदी में लिखित एक उल्लेखनीय वैद्यक ग्रंथ है। उनके वंशजों ने इस साहित्यिक परंपरा को आगे बढ़ाया।

राजा कीर्त्यानंद सिंह (1883–1938 ई.) ने कोशी अंचल को आधुनिक हिंदी साहित्यिक संस्थाओं से जोड़ा। अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन और बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन में उनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण रही। उनकी अंग्रेजी कृति '*Purnea: A Shikarland'* तथा हिंदी लेखन इस क्षेत्र की सांस्कृतिक पहचान को व्यापक स्तर पर स्थापित करता है।

राजा कमलानंद सिंह (1876–1910 ई.) द्विवेदीयुगीन हिंदी साहित्य के प्रमुख कवि और संरक्षक थे। ब्रजभाषा, मैथिली और खड़ी बोली में रचित उनकी कृतियाँ—*मिथिला-चंद्रास्त* (1899), *वोट बत्तीसी* (1909) आदि राजनीतिक चेतना और सामाजिक व्यंग्य से युक्त हैं। बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय के *'आनंदमठ'* का प्रथम हिंदी अनुवाद (1906) उनका ऐतिहासिक योगदान है।

कुमार गंगानंद सिंह (1898–1970 ई.) आधुनिक मैथिली, हिंदी और अंग्रेजी साहित्य के सेतु के रूप में उभरते हैं। उनकी मैथिली उपन्यासिका *'अगिलही'* और एकांकी *'जीवन-संघर्ष'* आधुनिक मैथिली साहित्य में विशेष स्थान रखती हैं। उनके साहित्यिक योगदान पर विश्वविद्यालयीय शोध भी उपलब्ध है। देवेन्द्र कुमार देवेश के अनुसार - *"राजा कमलानंद सिंह के सुपुत्रा कुमार गंगानंद सिंह (जन्म: 24 सितंबर 1898 ई., निधन: 17 जनवरी 1970 ई.) भी हिंदी, संस्कृत, अंग्रेजी और मैथिली भाषाओं के अन्यतम विद्वान और लेखक थे। वे एक प्रतिष्ठित शिक्षाशास्त्री और राजनेता थे। विभिन्न शैक्षिक, साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं से वे जीवनपर्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिकाओं में सक्रिय संबद्ध रहे। कलकत्ता विश्वविद्यालय से 1921 ई. में 'भारतीय इतिहास एवं संस्कृति' विषय में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त कर उन्होंने वहीं पुरातत्त्व विभाग में भरहुत-शिलालेखों पर शोध-अनुसंधान का कार्य किया। बाद में रॉयल सोसायटी ऑव ग्रेट ब्रिटेन एंड आयरलैंड, रॉयल एशियाटिक सोसायटी, बंगाल एशियाटिक सोसायटी, बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी आदि संस्थाओं से जुड़कर उन्होंने महत्त्वपूर्ण अनुसंधान कार्य किए।"*[9]

बनैली–श्रीनगर राजवंश और फरकिया स्टेट का साहित्यिक योगदान कोशी अंचल को केवल आपदा-ग्रस्त भूभाग नहीं, बल्कि एक सशक्त साहित्यिक-सांस्कृतिक केंद्र के रूप में स्थापित करता है। यह परंपरा कोशी क्षेत्र के साहित्यिक इतिहास में राजाश्रय, लोक-संवेदना और आधुनिक चेतना के समन्वय का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

कोशी के आधुनिक कालीन साहित्य का ऐतिहासिक विश्लेषण :

फणीश्वर नाथ रेणु (1921–1977) हिंदी साहित्य में आंचलिक उपन्यास परंपरा के प्रवर्तक तथा ग्रामीण जीवन के यथार्थवादी चित्रकार माने जाते हैं। उनके साहित्य में बिहार के पूर्णिया अंचल की लोक-संस्कृति, सामाजिक संरचना और राजनीतिक यथार्थ का सजीव अंकन मिलता है। **प्रमुख रचनाएँ** — उपन्यास: *मैला आँचल* (1954), *परती परिकथा* (1957), *दीर्घतपा* (1963), *जुलूस* (1965), *पलटू बाबू रोड* (1979)।

कहानी-संग्रह : *ठुमरी* (1961), *अग्निखोरा* (1960), *आदिम रात्रि की महक* (1967), *एक श्रावणी दोपहर की धूप* (1972)।

रिपोर्ताज/अन्य: *ऋणजल-धनजल* (1977), *वनतुलसी की गंध* (1967), *श्रुतपूर्वा* (1967)।

राजकमल चौधरी (1929–1967) :

राजकमल चौधरी हिंदी और मैथिली साहित्य के उन सशक्त रचनाकारों में हैं, जिनकी काव्यात्मकता और कथात्मकता आधुनिक संवेदना, विद्रोह और अस्तित्व-बोध से निर्मित है। उनकी पहली हिंदी कविता **'बरसात: रात: प्रभात'** (सितंबर 1956) तथा पहली कहानी **'सती धनुकाइन'** (मार्च 1958) प्रकाशित हुई। अपने अल्प जीवन में उन्होंने हिंदी में लगभग **250 कविताएँ** और **92 कहानियाँ** लिखीं।

(क) कविता-संग्रह – स्वरगन्धा(1966),मुक्ति-प्रसंग(1969)(मरणोपरांत),कंकावती(1969), कविता राजकमलक(1981) (मरणोपरांत संकलन)

(ख) उपन्यास - मछली मरी हुई (1966), अग्निस्नान(1966), नदी बहती थी(1966), ताश के पत्तों का शहर(1966), देहगाथा(1969) (मरणोपरांत)

(ग) कहानी-संग्रह - मछलीजाल(1966), प्रतिनिधि कहानियाँ(1994) (संकलन)

(घ) रचनावली - राजकमल चौधरी रचनावली — 8 खंड, 2015 (इसमें कविता, कहानी, उपन्यास, गद्य तथा अप्रकाशित/दुर्लभ रचनाएँ उनके मूल प्रकाशन-वर्षों सहित संकलित हैं।

राजकमल चौधरी की अधिकांश महत्त्वपूर्ण रचनाएँ **1960 के दशक**, विशेषतः **1966 ई.** के आसपास प्रकाशित हुईं, जो उनके रचनात्मक उत्कर्ष का काल है। उनकी रचनाओं में कोशी अंचल की सामाजिक विडंबनाएँ, नदी-संस्कृति, विस्थापन और आधुनिक व्यक्ति की आंतरिक त्रासदी ऐतिहासिक अनुभव के रूप में अभिव्यक्त होती है। इस दृष्टि से उनका साहित्य कोशी क्षेत्र के आधुनिक साहित्यिक इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है।

(क) बांग्ला भाषा के साहित्यकार :

सतीनाथ भादुड़ी (1906–1965) : सतीनाथ भादुड़ी बांग्ला साहित्य के महत्त्वपूर्ण यथार्थवादी उपन्यासकार हैं। उनके उपन्यास *'जागरी'* और *'ढोड़ायचरितमानस'* में कोशी अंचल के सीमावर्ती क्षेत्रों का ग्रामीण जीवन, विस्थापन और सामाजिक संघर्ष प्रभावशाली रूप में चित्रित है।

विभूतिभूषण मुखोपाध्याय : विभूतिभूषण मुखोपाध्याय की कृति *'कोसी प्रांगणेर चिट्ठी'* कोशी अंचल के प्राकृतिक परिवेश, नदी-जीवन और मानवीय संवेदना का आत्मीय दस्तावेज है। इसमें कोशी के साथ मनुष्य के संबंधों का भावनात्मक अंकन मिलता है।

केदारनाथ बंद्योपाध्याय : केदारनाथ बंद्योपाध्याय के उपन्यास *'आई हैज'* में कोशी अंचल में व्याप्त महामारी, निर्धनता और सामाजिक अव्यवस्था का यथार्थपरक चित्रण है, जो नदी-केन्द्रित सामाजिक संकट को उभारता है।

(ख) हिन्दी भाषा के साहित्यकार

फणीश्वरनाथ रेणु हिंदी के प्रमुख आंचलिक कथाकार हैं। *'मैला आँचल', 'परती परिकथा'* और *'ऋणजल धनजल'* में कोशी अंचल का जनजीवन, लोकसंस्कृति और बाढ़-जनित त्रासदी सजीव रूप में उपस्थित है। चंद्रकिशोर जायसवाल के उपन्यास *पलटनिया* और *सात* फेरे तथा कहानियों में कोशी क्षेत्र के ग्रामीण समाज, विस्थापन और बदलते सामाजिक मूल्यों का यथार्थ चित्र मिलता है।

शालिग्राम के उपन्यास 'किनारे के लोग' में शालिग्राम ने कोशी नदी के तटवर्ती समाज, हाशिये पर खड़े लोगों और उनकी जीवन-संघर्ष की कथा को केंद्र में रखा है। मधुकर गंगाधर उपन्यास *'सुबह होने तक'* में कोशी अंचल की सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों और आमजन की असुरक्षा को संवेदनशील ढंग से प्रस्तुत किया गया है। अनिलचंद्र ठाकुर का *'एक घर सड़क पर'* उपन्यास में कोशी क्षेत्र के विस्थापित जीवन और शहरी-ग्रामीण द्वंद्व को रेखांकित किया गया है। रामधारी सिंह दिवाकर का उपन्यास *'अकालसंध्या'* कोशी अंचल की प्राकृतिक आपदाओं और उससे उपजे सामाजिक संकट का यथार्थपरक चित्र प्रस्तुत करता है।

(ग) मैथिली भाषा के साहित्यकार :

मायानंद मिश्र के उपन्यास *'माटी के लोग : सोने की नैया'* में कोशी अंचल की माटी, नदी और श्रमशील समाज की जीवन-संघर्षपूर्ण गाथा चित्रित है। साकेतानंद का मैथिली उपन्यास *'सर्वस्वांत'* में कोशी क्षेत्र के सामाजिक-सांस्कृतिक बदलाव और नदी-जनित त्रासदी का विश्लेषणात्मक रूप मिलता है। **रमेश** की कविता का संग्रह *'कोसी घाटी सभ्यता'* में कोशी को एक सभ्यतागत प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसमें इतिहास, संस्कृति और पीड़ा समाहित है। ललित (ललितेश्वर मल्लिक) की *'पृथ्वीपुत्र'* तथा *'सप्तकोसी'* जैसी रचनाओं में कोशी की लोकस्मृति, मिथक और जनजीवन का सशक्त चित्रण है।

(घ) उर्दू भाषा के साहित्यकार : तारिक जमीली की उर्दू काव्य पुस्तिका *'पूर्णिया'* में कोशी अंचल के सामाजिक यथार्थ, सांस्कृतिक बहुलता और मानवीय संवेदना की अभिव्यक्ति मिलती है।

(ङ) लोक, कविता और गीत परंपरा

रामदेनी तिवारी 'द्विजदेनी' की *'श्री कौशिकी माहात्म्य'*(1925) कोशी नदी की पौराणिक-सांस्कृतिक महत्ता को स्थापित करने वाली प्रारंभिक काव्य कृति है। सुरेन्द्र स्निग्ध का उपन्यास *छाड़न* और कोशी-आधारित कविताओं में नदी की छाड़न धाराओं, विस्थापन और लोकजीवन का मार्मिक चित्रण है। नवल, नंदकिशोर लाल 'नंदन', रामकृष्ण झा 'किसुन' के मैथिली गीतों और कविताओं में कोशी की बाढ़, मातृत्व-बिंब और जनवेदना लोकस्वर में व्यक्त होती है।

कोशी अंचल का साहित्य बहुभाषिक होते हुए भी नदी-केन्द्रित पीड़ा, संघर्ष और लोकसंस्कृति की साझा संवेदना से जुड़ा है। इन रचनाकारों का लेखन कोशी को केवल भौगोलिक इकाई नहीं, बल्कि एक जीवित सांस्कृतिक-ऐतिहासिक सत्ता के रूप में स्थापित करता है। "मैथिली कहानियाँ 'अपराजिता' (राजकमल चौधरी), 'डर' (केदार कानन), 'परलय' (सुभाषचंद्र यादव), 'कोसी' (नारायणजी) के साथ-साथ हिन्दी में नवरंग जायसवाल की कहानी 'कोसी मैया का दरेज' और चंद्रकिशोर जायसवाल की कहानियाँ 'अगले साल फिर अगले साल', 'बिशनपुर प्रेतस्य' एवं 'हिंगवा घाट में पानी रे' इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। तीसरे सप्तक के कवि मदन वात्स्यायन की कविता 'कोसी', कोसी की लोककथाओं पर आधारित सुरेन्द्र स्निग्ध की कविताएँ, रामकृष्ण झा 'किसुन' की मैथिली कविता 'कोसीक बाढ़ि', मैथिली गीतकार नवल का गीत 'मलहवा रे...', नंदकिशोर लाल 'नंदन' का गीत 'निष्ठुर कोसी माय' और कोसी की छाड़न धाराओं पर रचित नारायण प्रसाद वर्मा के हिन्दी गीत भी यहाँ याद आते हैं।"

प्रो० (डॉ०) विनय कुमार चौधरी (मधेपुरा) एक बहुआयामी साहित्यकार एवं शिक्षाविद् हैं, जिनकी प्रबंधात्मक/काव्यात्मक रचनाओं में *चित्रकूट की अवशयात्रा* (1997, 2015), *कोशी पुत्र* (1998, 2019), *दलित द्रौपदी के करतार* (2004) तथा *जिंदा तुम्हें कबीर मिलेगा* (2016) उल्लेखनीय हैं; नाटक के क्षेत्र में उन्होंने *कालेज उद्योग* (2013) और *दधीचि की हड्डी* (2016) की रचना की है, जबकि अकादमिक ग्रंथों में *स्नातक हिन्दी रचना* (2003), *पत्रकारिता के सैद्धान्तिक आयाम* (2005), *प्रयोजनमूलक हिन्दी : विविध संदर्भ* (2007) तथा *प्रयोजनमूलक हिन्दी एवं पत्रकारिता के नये परिप्रेक्ष्य* (2007) शामिल हैं; इसके अतिरिक्त उनके शोध ग्रंथों में *कोशी अंचल का साहित्यिक अवदान* (2010), *कोशी अंचल के लोकगीतों का समाजशास्त्रीय अध्ययन* (2010) और *कोशी अंचल के लोकसाहित्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन* (2015) विशेष महत्त्व रखते हैं।

इसके अतिरिक्त समकालीन दौर की प्रमुख रचनाएं निम्नलिखित हैं - **संकल्प शिखर**(मधेपुरा) की मन की डोर (कविता संग्रह), **डॉ. आलोक कुमार (**मधेपुरा) की *घोघोरानी कितना पानी*(नाटक, अप्रकाशित), *हेल्पर*, *बदलाव की बयार*, *नई सुबह*, **डॉ. मणिमाला कुमारी** की *धर्मवीर भारती की कविताओं में आधुनिक जीवन बोध* (शोध प्रबंध), **डॉ. मंजुश्री वात्स्यायन** की औरत होने की जिद (कविता संग्रह, प्रकाश्य) **सियाराम यादव 'मयंक'**(मधेपुरा) की *मुहब्बत के चिराग* (ग़ज़ल संग्रह), **प्रमोद कुमार सूरज**(सुपौल) की *परिवर्तन की प्यास* (कविता संग्रह), *इज्जत गरीबों की* आदि, **देवनारायण पासवान 'देव'** (बिहारीगंज, मधेपुरा) की *विजेता कौन* (नाटक), *मस्जिद से उठी अज़ान* (नाटक), *फूल और शूल* (कविता संग्रह), *आख़िरी नमाज़* (कहानी संग्रह) आदि **संतोष कुमार** (मधेपुरा) की *आकाश के फूल* (काव्य संग्रह) **डॉ. अलका वर्मा** की (त्रिवेणीगंज, सुपौल) की *मुझे मेरे नाम से पुकारो* (2016), *कही-अनकही* (2017), *एक मुट्ठी इंजोर* (2018), **उमेश पंडित 'उत्पल'**(दहगाना, खगड़िया) की *माधुर्य* (1997), **मांगन मिश्र 'मार्तण्ड'** (परसाहाट, अररिया) की *अग्नि शिखा*, *दुर्वादल के*

ज़ख्म, *सांस-सांस पर पहरा है,* **मणिभूषण वर्मा** (मधेपुरा) की *धुएँ के देश में* (कविता संग्रह), *सृष्टि का श्रृंगार* (प्रबंध-काव्य), **डॉ. विश्वनाथ विवेका**(मधेपुरा) की *School of Thoughts in Literature*, *परिधि के पार* (कविता संग्रह), **डॉ. भूपेन्द्र नारायण यादव 'मधेपुरी'**(मधेपुरा) की *बूंद-बूंद सच एक सागर का* (1988), *दृष्टिकोण* (2001), *छोटा लक्ष्य एक अपराध है* (2006), **डॉ. एहसान 'शाम'** की *धूप सफर* (ग़ज़ल संग्रह) और **डॉ. शांति यादव** (मधेपुरा) की *चुप रहेंगे कब तलक*, *उदास शहर में* (ग़ज़ल संग्रह), *जनसेवा एक्सप्रेस* (कविता संग्रह) आदि रचना प्रमुख है।

निष्कर्ष : कोशी क्षेत्र का साहित्यिक परिदृश्य गहन ऐतिहासिक चेतना, लोक-संवेदना और सामाजिक संघर्ष से निर्मित हुआ है। कोशी नदी केवल भौगोलिक सत्ता नहीं, बल्कि इस क्षेत्र के साहित्य में एक जीवंत सांस्कृतिक और मानवीय प्रतीक के रूप में उपस्थित है। उसकी बाढ़, मार्ग-परिवर्तन और विनाशकारी प्रवृत्तियाँ यहाँ के जनजीवन को जितना प्रभावित करती हैं, उतना ही साहित्य को भी संवेदनात्मक गहराई प्रदान करती हैं। यही कारण है कि कोशी का साहित्य करुणा तक सीमित न रहकर प्रतिरोध, चेतना और जिजीविषा का स्वर ग्रहण करता है।

लोककथाओं, मिथकों और वीरगाथाओं से लेकर आधुनिक उपन्यास, कविता और नाटक तक, हर स्तर पर इस क्षेत्र का साहित्य सामाजिक यथार्थ का सशक्त साक्ष्य प्रस्तुत करता है। फणीश्वरनाथ रेणु द्वारा विकसित आंचलिक चेतना ने कोशी अंचल को हिंदी साहित्य की मुख्यधारा में प्रतिष्ठित किया, जबकि राजकमल चौधरी और अन्य समकालीन रचनाकारों ने आधुनिक व्यक्ति की आंतरिक त्रासदी और सामाजिक विडंबनाओं को अभिव्यक्त किया। मैथिली, बांग्ला, उर्दू और हिंदी भाषाओं में सृजित साहित्य इस अंचल की बहुभाषिक और बहुसांस्कृतिक पहचान को पुष्ट करता है।

बनैली–श्रीनगर राजवंश और फरकिया स्टेट की साहित्यिक परंपरा यह सिद्ध करती है कि कोशी अंचल केवल आपदा-ग्रस्त भूभाग नहीं, बल्कि सुदृढ़ सांस्कृतिक चेतना से युक्त क्षेत्र रहा है। समकालीन साहित्य में दलित, स्त्री और वंचित समुदायों की आवाज़ों का उभार कोशी साहित्य को वैचारिक रूप से अधिक समृद्ध बनाता है।

अतः कोशी क्षेत्र का साहित्यिक अध्ययन न केवल क्षेत्रीय साहित्य के मूल्यांकन के लिए आवश्यक है, बल्कि हिंदी साहित्य के इतिहास के पुनर्पाठ और सामाजिक यथार्थ की गहरी समझ के लिए भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। यह साहित्य इतिहास, संस्कृति और जनसंघर्ष का जीवंत दस्तावेज है।

संदर्भ :

1. भक्त, रामनरेश, एवं कुमार, लव (संपा.). (2025). *त्रिदल: अनूपलाल मंडल, सतीनाथ भादुड़ी एवं फणीश्वरनाथ 'रेणु' की कृति-चेतना*. दिल्ली: लोकमित्र प्रकाशन, पृ. 44.
2. चौधरी, विनय कुमार. (2007). *कोशी अंचल का साहित्यिक अवदान*. मधेपुरा: संदर्भ प्रकाशन, यूनिवर्सिटी एरिया, पृ. 8.
3. श्रीवास्तव, लक्ष्मी प्रसाद. (1990). *बिहार लोक संस्कृति कोश (मिथिला-खंड)*. दरभंगा: सीताराम प्रकाशन, पृ. 16.
4. भक्त, रामनरेश, एवं कुमार, लव (संपा.). (2025). *त्रिदल: अनूपलाल मंडल, सतीनाथ भादुड़ी एवं फणीश्वरनाथ 'रेणु' की कृति-चेतना*. दिल्ली: लोकमित्र प्रकाशन, पृ. 6.
5. चौधरी, विनय कुमार. (2007). *कोशी अंचल का साहित्यिक अवदान*. मधेपुरा: संदर्भ प्रकाशन. पृ. 10.
6. जिला सांख्यिकी कार्यालय, मधेपुरा. (1986). *जिला सांख्यिकी हस्तपुस्तिका: मधेपुरा (1985–86)*. मधेपुरा: बिहार सरकार, पृ. 1–2.
7. चौधरी, विनय कुमार. (2007). *कोशी अंचल का साहित्यिक अवदान*. मधेपुरा: संदर्भ प्रकाशन, पृ. 10.
8. लोक प्रचलित स्थानीय कहावत (मौखिक परंपरा स्रोत).
9. Kavita-Kosi Blog. (2010, अगस्त 20). *ब्लॉग पोस्ट*. प्राप्त किया गया: https://share.google/4KhIvIwLKemk9S5Jc
10. Kavita-Kosi Blog. (2009, दिसंबर 23). *ब्लॉग पोस्ट*. प्राप्त किया गया: https://kavita-kosi.blogspot.com/2010/08/blog-post.html

Received: 01.01.2026 | Accepted: 10.01.2026 | Published: 30.01.2026

असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन एवं भारत छोड़ो आंदोलन का तुलनात्मक अध्ययन: समानताएँ, अन्तर एवं प्रभाव

सौरभ मिश्र*

saurabhm.20006@gmail.com

शोध सार

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में महात्मा गांधी के नेतृत्व वाले तीन प्रमुख आंदोलन—असहयोग आंदोलन (1920-22), सविनय अवज्ञा आंदोलन (1930-34) और भारत छोड़ो आंदोलन (1942)—अहिंसा एवं सत्याग्रह की मूल भावना पर आधारित थे, किंतु इनकी प्रकृति, उद्देश्य, तरीके तथा ऐतिहासिक संदर्भ में स्पष्ट अंतर थे। यह अध्ययन इन तीनों आंदोलनों की तुलनात्मक जांच करता है, जिसमें असहयोग आंदोलन ब्रिटिश संस्थाओं से सहयोग-त्याग (बहिष्कार) पर केंद्रित था, सविनय अवज्ञा आंदोलन में अन्यायपूर्ण कानूनों (जैसे नमक कानून) का सक्रिय उल्लंघन प्रमुख था, जबकि भारत छोड़ो आंदोलन द्वितीय विश्व युद्ध के संकटकाल में 'करो या मरो' के नारे के साथ ब्रिटिश शासन के तत्काल अंत की मांग करता था। अध्ययन का मुख्य उद्देश्य इन आंदोलनों में समानताओं (अहिंसा का सिद्धांत, व्यापक जन-भागीदारी, ब्रिटिश दमन का सामना) तथा अंतरों (उद्देश्यों की तीव्रता, प्रतिरोध के तरीके, वैश्विक संदर्भ) का विश्लेषण करना तथा इन तीनो के प्रभाव पर प्रकाश डालना है ।

***कीवर्ड्स**:*

भारत छोड़ो आंदोलन, असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन, महात्मा गांधी, अहिंसा, स्वतंत्रता संग्राम।

असहयोग आंदोलन (1920-22):

इस आंदोलन के तरीके मुख्य रूप से निष्क्रिय प्रतिरोध पर आधारित थे, जहां लोगों ने ब्रिटिश संस्थाओं और प्रतीकों से सक्रिय सहयोग छोड़ दिया, लेकिन कोई प्रत्यक्ष कानून तोड़ने या हिंसक कार्रवाई नहीं की गई।बहिष्कार इस आन्दोलन का एक प्रमुख घटक था जिसके तहत हजारों छात्रों ने सरकारी स्कूल-कॉलेज छोड़ दिए। 1920-21 में बिहार और उत्तर प्रदेश के कई स्कूलों में छात्रों ने सामूहिक रूप से पढ़ाई छोड़ दी, और राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान (जैसे काशी विद्यापीठ और गुजरात विद्यापीठ) स्थापित किए गए। अदालतों और सरकारी नौकरियों का त्याग किया गया । मोतीलाल नेहरू और सी.आर. दास , राजेंद्र प्रसाद , वल्लभ भाई पटेल जैसे प्रमुख वकीलों ने अपनी प्रैक्टिस छोड़ दी और कांग्रेस को मजबूत किया। इसी प्रकार विदेशी वस्तुओं का भी बहिष्कार किया गया ,ब्रिटिश कपड़ों की होली जलाई गई। 1921 में बॉम्बे और कलकत्ता में बड़े पैमाने पर विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई, और चरखा चलाकर स्वदेशी को बढ़ावा दिया गया। यह बहिष्कार इतनी तक ही सीमित नही था अपितु सरकारी पदवियों का भी बहिष्कार किया गया और अंग्रेजो द्वारा दिए गए खिताब लौटा दिए। उपाधियाँ लौटाना केवल प्रतीकात्मक कदम नहीं था, बल्कि यह ब्रिटिश शासन की वैधता के विरुद्ध नैतिक विद्रोह था। इसका उद्देश्य जनता में यह संदेश देना था कि देश के प्रमुख बुद्धिजीवी और नेता अब ब्रिटिश सत्ता को स्वीकार नहीं करते। उदाहरण: रवींद्रनाथ टैगोर ने 1919 में 'नाइटहुड' की उपाधि लौटा दी (जो जलियांवाला बाग के बाद हुआ, लेकिन असहयोग में प्रेरणा बनी)। स्वदेसी और बहिष्कार के इन कार्यक्रमों का दोहरा प्रभाव पड़ा। एक ओर ब्रिटिश व्यापार और प्रशासनिक ढाँचे को आर्थिक और नैतिक चुनौती मिली, दूसरी ओर भारतीय समाज में आत्मनिर्भरता, राष्ट्रीय गर्व और एकता की भावना मजबूत हुई। स्वदेशी और बहिष्कार ने स्वतंत्रता आंदोलन को केवल राजनीतिक न रखकर आर्थिक और सामाजिक आयाम भी प्रदान किए। ये तरीके एक प्रकार से

* **पीएच. डी. शोधार्थी, गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रिय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा**

शांतिपूर्ण प्रतिरोध के रूप में थे जिससे कारण आंदोलन नियंत्रित रहा था , हालांकि चौरी-चौरा कांड (5 फरवरी 1922) में हिंसा से गांधीजी ने इसे स्थगित कर दिया।[1,2,3]

सविनय अवज्ञा आंदोलन (Civil Disobedience Movement, 1930-1934)

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का एक निर्णायक और सबसे व्यापक जन-आंदोलन था, जिसका नेतृत्व महात्मा गांधी ने किया। यह आंदोलन ब्रिटिश सरकार के अन्यायपूर्ण कानूनों का *सविनय* (शांतिपूर्ण, जानबूझकर और नैतिक आधार पर) उल्लंघन करने पर केंद्रित था, जिसमें अहिंसा का सिद्धांत सर्वोपरि था। इस आंदोलन ने न केवल लाखों भारतीयों को सड़कों पर उतारा, बल्कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नैतिक और आर्थिक कमजोरी को विश्व स्तर पर उजागर किया। यह असहयोग आंदोलन की तुलना में अधिक सक्रिय प्रत्यक्ष संघर्ष और कानून-उल्लंघन पर आधारित था, जबकि भारत छोड़ो आंदोलन की तुलना में अधिक संगठित और प्रतीकात्मक था।

1929 के लाहौर कांग्रेस अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में *पूर्ण स्वराज* का संकल्प लिया गया और 26 जनवरी 1930 को पहला स्वतंत्रता दिवस मनाया गया। गांधीजी ने वायसराय लॉर्ड इरविन को 11 सूत्री मांगे प्रस्तुत की जिसमें नमक कर समाप्त करना, भूमि राजस्व में 50% कमी, सैन्य व्यय में कटौती, राजनीतिक कैदियों की रिहाई, विदेशी कपड़ों पर टैरिफ आदि शामिल थे। ब्रिटिश सरकार ने इन मांगों को 31 जनवरी 1930 तक अस्वीकार कर दिया। मुख्य कारण थे—ग्रेट डिप्रेशन (1929) से भारतीय अर्थव्यवस्था पर बोझ, नमक पर ब्रिटिश एकाधिकार जो निर्धन तबके के लिए सबसे बड़ा बोझ था, साइमन कमीशन का विरोध, और ब्रिटिश दमनकारी नीतियाँ। गांधीजी ने इसे ब्रिटिश शासन के खिलाफ नैतिक युद्ध घोषित किया।[4]

आंदोलन की प्रतीकात्मक शुरुआत दांडी मार्च से हुई । गांधीजी ने 12 मार्च 1930 को साबरमती आश्रम (अहमदाबाद, गुजरात) से 78 चुने हुए सत्याग्रहियों के साथ 'दांडी' (गुजरात के अरब सागर तट पर स्थित गाँव) के लिए 240 मील (लगभग 385 किमी) की पैदल यात्रा शुरू की। यात्रा 24 दिनों तक चली, जिसमें रास्ते में गांधीजी ने गांवों में रुककर भाषण दिए और हजारों लोग शामिल होते गए। 6 अप्रैल 1930 को दांडी पहुँचकर गांधीजी ने समुद्र के पानी से नमक बनाया और ब्रिटिश नमक कानून *Salt Act, 1882* को तोड़ा। यह प्रतीकात्मक कृत्य था, क्योंकि नमक एक सामान्य आवश्यकता थी और इसका कर गरीबों पर सबसे अधिक बोझ डालता था। इस घटना ने पूरे देश में नमक सत्याग्रह को प्रेरित किया, जहां लोग समुद्र तटों पर नमक बनाकर कानून तोड़ने लगे। यह तरीका प्रतीकात्मक सत्याग्रह और जन-भागीदारी का उत्कृष्ट उदाहरण था।

5 मई 1930 को गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया गया उसके बाद सरोजिनी नायडू, इमाम साहिब और मणिलाल गांधी ने धरासना नमक कारखाने (गुजरात, दांडी से 40 किमी दक्षिण) पर अहिंसक छापेमारी का नेतृत्व किया। 21 मई को लगभग 2,500 सत्याग्रहियों ने शांतिपूर्ण मार्च किया, लेकिन ब्रिटिश पुलिस ने लाठीचार्ज किया। सैकड़ों घायल हुए और दो की मौत हो गई। सत्याग्रहियों ने अहिंसा का पालन करते हुए कोई प्रतिकार नहीं किया। यह घटना अंतरराष्ट्रीय मीडिया में छा गयी (अमेरिकी पत्रकार वेब मिलर ने इसे "क्रूरता का दृश्य" कहा) जिससे ब्रिटिश क्रूरता विश्व स्तर पर उजागर हुई। यह अहिंसक प्रतिरोध और पुलिस दमन का सामना करने का प्रमुख उदाहरण था। इसी प्रकार सी. राजगोपालाचारी ने तिरुचिरापल्ली से वेदारण्यम (तमिलनाडु के समुद्र तट) तक नमक मार्च निकाला। यह दांडी मार्च का दक्षिणी संस्करण था, जिसमें हजारों लोग शामिल हुए और नमक कानून तोड़ा गया। यह इस आन्दोलन क्षेत्रीय प्रसार और स्थानीय नेतृत्व का उदाहरण था। वहीं खान अब्दुल गफ्फार खान जीने सीमान्त गांधी भी कहा जाता था ने पेशावर में ख़ुदाई खिदमतगारों को संगठित किया। 23 अप्रैल 1930 को क़िस्सा ख़्वानी बाज़ार में ब्रिटिश सेना ने अहिंसक भीड़ पर गोली चलाई, जिसमें 200-250 लोग मारे गए। गढ़वाल राइफल्स के सैनिकों ने गोली चलाने से इनकार किया, जिसके लिए उन्हें सजा मिली। यह मुस्लिम भागीदारी और अहिंसक शैली का नया मील का पत्थर था।

इसके अतिरिक्त पूरे देश में समुद्र तटों पर नमक बनाया गया (असम, आंध्र प्रदेश, मालाबार आदि में। शराब और अफीम दुकानों पर पिकेटिंग में महिलाओं ने प्रमुख भूमिका निभाई ,बॉम्बे, मद्रास और कलकत्ता में महिलाओं ने अग्रणी भूमिका निभाते हुए इसका नेतृत्व किया । लाखों लोगों ने विदेशी कपड़े, शराब और अन्य वस्तुओं का बहिष्कार किया, ब्रिटिश कपड़ों की होली जलाई और खादी अपनाने पे जोर दिया । छात्रों ने स्कूल-कॉलेज छोड़े, कर्मचारियों ने सरकारी

नौकरियों से इस्तीफे दिए। यह सब स्वदेशी और बहिष्कार घटक के अनुपालन में किया गया। किसानों ने लगान और चौकीदारी कर न चुकाने का आन्दोलन चलाया, गुजरात के खेड़ा और बारडोली में किसानों ने कर विरोध किया। आंदोलन के दौरान कांग्रेस पर प्रतिबंध लगा दिया गया लेकिन आंदोलन भूमिगत रूप से जारी रहा। अंततः गांधी-इरविन पैक्ट (5 मार्च 1931) से आंदोलन स्थगित हुआ जिसमे नमक बनाने की अनुमति, राजनीतिक कैदियों की रिहाई और दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भागीदारी का प्रावधान हुआ। हालांकि 1932 में आंदोलन फिर शुरू हुआ, लेकिन 1934 तक यह कमजोर पड़ चुका था।[5]

यह आंदोलन भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का सबसे व्यापक जन-आंदोलन था, जिसमें महिलाएँ, किसान, युवा और विभिन्न वर्ग शामिल हुए। इसने अहिंसा की शक्ति को सिद्ध किया और ब्रिटिश शासन की नैतिकता पर सवाल उठाए। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर गांधीजी की छवि मजबूत हुई और 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन की नींव रखी।

भारत छोड़ो आंदोलन :

भारत छोड़ो आंदोलन, जिसे अगस्त क्रांति या क्विट इंडिया मूवमेंट के नाम से भी जाना जाता है, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का एक निर्णायक चरण था, भारत छोड़ो आंदोलन की पृष्ठभूमि द्वितीय विश्व युद्ध (1939-45) के दौरान ब्रिटिश साम्राज्य की बढ़ती कमजोरी और भारतीय राष्ट्रवादियों के असंतोष से जुड़ी हुई थी। 1942 में क्रिप्स मिशन (सर स्टैफोर्ड क्रिप्स के नेतृत्व में) ब्रिटेन ने भारत को युद्ध में सहयोग के बदले डोमिनियन स्टेटस का प्रस्ताव दिया, लेकिन इसमें तत्काल स्वतंत्रता का वादा नहीं था, जिससे कांग्रेस ने इसे अस्वीकार कर दिया। महात्मा गांधी ने इसे "पोस्ट-डेटेड चेक" कहा, और 8 अगस्त 1942 को बॉम्बे के गोवालिया टैंक मैदान में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी सत्र में 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पारित किया। गांधीजी का प्रसिद्ध भाषण "करो या मरो" इस आंदोलन का घोषणा-पत्र बना, जिसमें उन्होंने कहा, "हमने सब कुछ सहा, लेकिन अब और नहीं। या तो आजादी मिले या मरना पड़े।" का ऐतिहासिक नारा दिया, जिसमें ब्रिटिश शासन से तत्काल स्वतंत्रता की मांग की गई थी। आंदोलन का मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्यवाद को भारत छोड़ने पर मजबूर करना था, और इसमें अहिंसा के सिद्धांत पर जोर दिया गया था हालाँकि 9 अगस्त को गांधीजी, जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल समेत प्रमुख नेताओं की गिरफ्तारी के बाद पूरे देश में स्पॉन्टेनियस जन-उभार में गया। छात्रों, किसानों, महिलाओं और मजदूरों ने सरकारी संपत्तियों (रेलवे स्टेशन, डाकघर, पुलिस थाने) पर हमले किए, टेलीग्राफ लाइनें काटीं और समांतर सरकारें स्थापित कीं—जैसे बलिया (उत्तर प्रदेश) में चित्तू पांडे की सरकार, मिदनापुर (बंगाल) में तमलुक की 'जातीय सरकार' और सतारा (महाराष्ट्र) में 'प्रति सरकार'। ब्रिटिश सरकार ने इसे दबाने के लिए कठोर दमन किया, जिसमें लगभग 94,000 लोग गिरफ्तार हुए, 1,000 से अधिक मौतें हुईं और कई क्षेत्रों में मार्शल लॉ लगाया गया। आंदोलन ने ब्रिटिश अर्थव्यवस्था को हिला दिया, युद्ध प्रयासों को प्रभावित किया और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ध्यान आकर्षित किया, जिससे 1947 में स्वतंत्रता की प्रक्रिया तेज हुई। हालांकि, मुस्लिम लीग की असहमति (जिन्ना ने इसे 'ब्लैकमेल' कहा) और कुछ हिंसक घटनाओं के कारण गांधीजी ने इसे नियंत्रित करने की कोशिश की, लेकिन यह आंदोलन भारतीय राष्ट्रवाद की पराकाष्ठा साबित हुआ, जो आज भी अहिंसा और जन-शक्ति की प्रेरणा देता है।[6]

अंदोलन कि प्रमुख घटनाओं में शमिल था उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में चित्तू पांडे के नेतृत्व में 18 अगस्त को समांतर सरकार स्थापित होना शामिल था, जो एक सप्ताह चली और जेल तोड़कर कैदियों को मुक्त किया; बंगाल के मिदनापुर में तामलुक और महिषदल में 'जातीय सरकार' (1942-44) चली, जिसमें स्थानीय प्रशासन, शिक्षा और स्वास्थ्य व्यवस्था संचालित की गयी ; महाराष्ट्र के सतारा में स्थापित 'प्रति सरकार' (1943-45) ने गांधी विवाह, निषेध और न्याय मंडल चलाए। अन्य घटनाओं में रेलवे लाइनें काटना, डाकघर और पुलिस थाने जलाना, हड़तालें (बॉम्बे, अहमदाबाद, कलकत्ता में) और महिलाओं की भूमिका भूमिगत रेडियो प्रसारण में उल्लेखनीय थी जैसे अरुणा असफ अली और उषा मेहता ने गुप्त रेडियो चलाया।, सुचेता कृपलानी ने भूमिगत कार्य किया। ब्रिटिश दमन अत्यंत क्रूर था: वायसराय लिनलिथगो ने इसे "सबसे बड़ा विद्रोह" कहा; लगभग 94,000 गिरफ्तारियां, 1,028 मौतें हुई। 18,000 से अधिक घायल हुए और लाखों पर जुर्माना लगाया गया। साथ ही मार्शल लॉ, आन्दोलनकारियों पे गोलीबारी और गांवों में खुले आम लूटपाट हुई। मुस्लिम लीग (मोहम्मद अली जिन्ना ने इसे 'हिंदू विद्रोह' कहा) और कम्युनिस्ट पार्टी ने समर्थन नहीं दिया जिससे विभाजन की नींव पड़ी। फिर भी, आंदोलन ने ब्रिटिश अर्थव्यवस्था को हिला दिया। युद्ध प्रयासों को बाधित किया और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर (अमेरिका, चीन) समर्थन जुटाया।

आंदोलन में जनता की भूमिका :

प्रबल जनभागीदार इसकी सबसे प्रमुख विशेषता थी। यह आंदोलन कांग्रेस के अन्य आंदोलनों से अलग था क्योंकि नेताओं की गिरफ्तारी के बाद (9 अगस्त 1942 से) यह नेतृत्वहीन हो गया और आम जनता ने स्वयं इसका संचालन संभाला। लाखों साधारण लोग—छात्र, किसान, मजदूर, महिलाएँ, युवा, मध्यम वर्ग और ग्रामीण जनता—ने इसमें सक्रिय भाग लिया जिसने इसे एक सच्चा "जन-आंदोलन" बना दिया। गांधीजी, नेहरू, पटेल आदि की गिरफ्तारी के बाद आंदोलन का नेतृत्व स्थानीय स्तर पर आम लोगों के हाथ में आ गया। लोग अपने-अपने क्षेत्रों में जुलूस निकालते, हड़तालें करते और सरकारी संपत्तियों पर हमले करते थे। यह स्पॉन्टेनियस (स्वतःस्फूर्त) उभार था, जिसमें कोई केंद्रीय कमान नहीं थी, लेकिन जनता की एकजुटता ने ब्रिटिश शासन को हिलाकर रख दिया। आंदोलन में समाज के हर वर्ग ने हिस्सा लिया शहरों से लेकर गाँवों तक। यह पहला बड़ा आंदोलन था जिसमें ग्रामीण जनता और निम्न मध्यम वर्ग इतनी बड़ी संख्या में शामिल हुए।[7]

विभिन्न वर्गों की प्रमुख भूमिका

छात्रों और युवाओं की भूमिका : छात्रों ने आंदोलन को सबसे ज्यादा गति दी। स्कूल-कॉलेज बंद कर जुलूस निकाले, पर्चे बांटे और भूमिगत गतिविधियाँ चलाईं। पटना और बनारस (वाराणसी) के छात्रों ने मिलिटेंट प्रदर्शन किए। बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में छात्रों ने रेलवे स्टेशन और डाकघरों पर हमले किए। युवाओं ने भूमिगत रेडियो और पर्चे वितरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया। किसानों ने ग्रामीण क्षेत्रों में आंदोलन को फैलाया। लगान न देने, सरकारी संपत्ति पर हमले और समांतर सरकारों में भाग लिया। पूर्वी उत्तर प्रदेश (जैसे बलिया) और बिहार में किसानों ने पुलिस थानों और तहसीलों पर कब्जा किया। बलिया में चित्तू पांडे के साथ किसानों ने समांतर सरकार चलाई। मिदनापुर (बंगाल) में किसानों ने 'जातीय सरकार' में सहयोग किया। मजदूरों ने फैक्टरियों और युद्ध उद्योगों में हड़तालें कीं, जिससे ब्रिटिश युद्ध प्रयास प्रभावित हुए। बॉम्बे, अहमदाबाद और कलकत्ता में कपड़ा मिलों और अन्य फैक्टरियों में महीनों तक हड़तालें चलीं। मजदूरों ने सरकारी रेलवे और संचार लाइनों को बाधित किया।

महिलाओं की भूमिका

महिलाओं ने आंदोलन को नई ऊर्जा दी। वे जुलूसों में शामिल हुईं, पिकेटिंग कीं और भूमिगत कार्य संभाले। अरुणा असफ अली ने गोवालिया टैंक मैदान पर तिरंगा फहराया और भूमिगत रेडियो चलाया। उषा मेहता ने 'क्विट इंडिया रेडियो' संचालित किया। सुचेता कृपलानी और अन्य महिलाओं ने प्रदर्शन और संगठन में भाग लिया। ***मातंगिनी हजरा*** (73 वर्षीय) ने तमलुक में पुलिस स्टेशन पर धावा बोलते हुए शहीद हो गईं। ***कनकलता बरुआ*** (17 वर्ष) ने असम में 'मृत्यु बहिनी' का नेतृत्व किया और झंडा फहराते हुए शहीद हुईं। विभिन्न पर्चे छापे, भूमिगत साहित्य वितरित किया। ***कमलादेवी चट्टोपाध्याय*** ने कर्नाटक में आन्दोलन का नेतृत्व किया वे अखिल भारतीय महिला सम्मेलन की संस्थापक सदस्य थीं 1942 में उन्होंने आंदोलन में सक्रिय भाग लिया, जुलूस निकाले और ब्रिटिश आदेशों का उल्लंघन किया। वे गिरफ्तार हुईं और जेल गईं। स्वतंत्रता के बाद उन्होंने हस्तशिल्प, लोककला और थिएटर को पुनर्जीवित किया। उन्हें पद्म विभूषण (1987) मिला। ***अनुसूयाबाई काले*** मध्य प्रदेश (तत्कालीन सेंट्रल प्रॉविंस) की स्वतंत्रता सेनानी थीं। 1942 में उन्होंने मध्य प्रदेश (विशेषकर नागपुर और चिमूर क्षेत्र) में आंदोलन चलाया। चिमूर और आष्टी में ब्रिटिश दमन के खिलाफ विरोध प्रदर्शन किए, जहाँ ब्रिटिश ने हिंसा की थी। उन्होंने पीड़ितों के लिए न्याय की मांग की और कैदियों की रिहाई के लिए प्रयास किए। 1946 में वे 'कैपिटल पनिशमेंट रिलीफ सोसाइटी' की अध्यक्ष बनीं और चिमूर- आष्टी के कैदियों के लिए काम किया (जिन्हें ब्रिटिश ने फाँसी की सजा सुनाई थी)।

ए.वी. कुत्तिमालु अम्मा केरल की प्रमुख स्वतंत्रता सेनानी थीं। वे खादी समर्थक थीं और कांग्रेस की सक्रिय सदस्य।1942 में कलकट (कोझिकोड) में उन्होंने 2 महीने के बच्चे को गोद में लिए हुए एक जुलूस का नेतृत्व किया, जिसमें 'मथृभूमि' अखबार पर प्रतिबंध के खिलाफ प्रदर्शन किया गया। वे गिरफ्तार हुईं और **2 साल की सजा** भुगती (प्रेसिडेंसी जेल, मद्रास में)। जेल में उन्होंने बच्चे को साथ रखने की मांग की, जिससे जनता में आक्रोश फैला और सरकार को आदेश वापस लेना पड़ा। स्वतंत्रता के बाद वे मद्रास असेंबली में नामित हुईं और 'मथृभूमि' अखबार की निदेशक रहीं।

जनता की भूमिका का महत्व:

आंदोलन को "जनआंदोलन" बनाने में जनता की भूमिका निर्णायक थी। नेताओं की अनुपस्थिति में आम लोग स्थानीय नेता बन गए और ब्रिटिश शासन को अस्थिर कर दिया। जिसने भारत पे लम्बे समय तक शासन की उनकी मंशा को गहरा धक्का लगा। आंदोलन में बड़े पैमाने पे तोड़ फोड़ की घटनाएँ हुई जैसे संपत्ति नष्ट करना, लेकिन जनता की एकजुटता और बलिदान ने इसे ऐतिहासिक बना दिया। यह आंदोलन साबित करता है कि स्वतंत्रता संघर्ष में नेताओं से ज्यादा जनता की शक्ति महत्वपूर्ण होती है।

तुलनात्मक अध्ययन

ये तीनों आंदोलन अहिंसा और सत्याग्रह की मूल भावना पर आधारित थे, किंतु इनकी प्रकृति, उद्देश्य और ऐतिहासिक संदर्भ में स्पष्ट अंतर थे। प्रमुख प्रश्न को संबोधित किया गया है जिसमे पहला है कि तीनों आंदोलनों में समानताएं क्या हैं? दूसरा कि इनमें प्रमुख अंतर क्या हैं? और तीसरा कि इन आंदोलनों ने भारतीय स्वतंत्रता की प्रक्रिया पर क्या प्रभाव डाला?

समानताएं:

तीनों आंदोलनों में कई समानताएं विद्यमान हैं जो गांधीवादी दर्शन की एकता को दर्शाती हैं। सबसे प्रमुख समानता अहिंसा और सत्याग्रह का सिद्धांत है। असहयोग में बहिष्कार अहिंसक था, सविनय अवज्ञा में कानून उल्लंघन सत्याग्रही था, और भारत छोड़ो में 'करो या मरो' अहिंसा पर आधारित था, हालांकि स्वतः स्फूर्त हिंसा हुई । सभी में जन-भागीदारी व्यापक थी: असहयोग में हिंदू-मुस्लिम एकता, सविनय अवज्ञा में महिलाएं और किसान, तथा भारत छोड़ो में छात्र और ग्रामीण जनता की सक्रिय भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय थे ।

दूसरी समानता ब्रिटिश दमन का सामना है। सभी में गिरफ्तारियां, लाठीचार्ज और दमन हुआ असहयोग में हजारों गिरफ्तार हुए, सविनय अवज्ञा में 90,000 से अधिक और भारत छोड़ो में 94,000 से अधिक लोग गिरफ्तार हुए। इससे जन-आक्रोश बढ़ा और आंदोलन मजबूत हुए। तीसरी समानता वैचारिक आधार है: सभी स्वराज/स्वतंत्रता की मांग पर आधारित थे, और तीनो में किसी न किसी स्तर पर स्वदेशी, खादी तथा आर्थिक आत्मनिर्भरता को बढ़ावा दिया । उदाहरण के लिए, असहयोग में विदेशी कपड़ों का बहिष्कार, सविनय अवज्ञा में नमक उत्पादन, और भारत छोड़ो में सरकारी संपत्तियों का विरोध सभी ब्रिटिश आर्थिक शोषण के खिलाफ थे। ये समानताएं दिखाती हैं कि तीनों आंदोलन एक क्रमिक विकास थे, जहां गांधीजी ने जनता को अहिंसक प्रतिरोध की शिक्षा दी।[8]

अंतर : तीनों आंदोलनों में प्रमुख अंतर उद्देश्य, तरीके, संदर्भ और प्रभाव के स्तर पर देखे जा सकते हैं। इनकी तुलना से स्पष्ट होता है कि असहयोग आंदोलन सबसे प्रारंभिक चरण का था, सविनय अवज्ञा ने इसे विस्तार दिया, जबकि भारत छोड़ो आंदोलन सबसे उग्र और निर्णायक साबित हुआ।

उद्देश्य के स्तर पर देखें तो असहयोग आंदोलन का मुख्य उद्देश्य स्वराज (स्वशासन) प्राप्त करना था, जो ब्रिटिश शासन के खिलाफ सहयोग-त्याग पर आधारित था। यह खिलाफत आंदोलन और जलियांवाला बाग हत्याकांड से प्रेरित था, लेकिन पूर्ण स्वतंत्रता की बजाय सीमित स्वायत्तता पर केंद्रित था। इसके विपरीत, सविनय अवज्ञा आंदोलन 'पूर्ण स्वराज' की मांग करता था जहां ब्रिटिश कानूनों का उल्लंघन कर आर्थिक अन्याय को चुनौती दी गई। भारत छोड़ो आंदोलन (1942) सबसे उग्र था, जो 'तत्काल स्वतंत्रता' के उद्देश्य और बिना किसी समझौते के 'करो या मरो' नारे के साथ ब्रिटिश शासन का अंत करने पर केन्द्रित था। इनसे गांधीवादी आंदोलनों की क्रमिक तीव्रता स्पष्ट तौर से देखी जा सकती है।

तरीके/माध्यम के स्तर पर असहयोग आंदोलन में तरीके मुख्यतः बहिष्कार पर आधारित थे, जैसे ब्रिटिश शिक्षा, अदालतों, विदेशी वस्तुओं और पदवियों का त्याग। यह *निष्क्रिय प्रतिरोध* का उदाहरण था। वहीँ सविनय अवज्ञा आंदोलन में तरीके कानून उल्लंघन पर केंद्रित थे, जैसे नमक सत्याग्रह और दांडी यात्रा, जो सक्रिय सविनय अवज्ञा का रूप था। भारत छोड़ो आंदोलन में तरीके विशाल जन उभार से सम्बंधित थे जिसमें समांतर सरकारें स्थापित करना, सरकारी संपत्तियों पर हमले

और भूमिगत गतिविधियां शामिल थीं, जो नेताओं की गिरफ्तारी के बाद स्पॉन्टेनियस और उग्र हो गईं। यह अंतर आंदोलनों की रणनीतिक विकास और जनता की संगठनात्मक क्षमता को दर्शाता है।

पृष्ठभूमि की दृष्टि से असहयोग आंदोलन प्रथम विश्व युद्ध के बाद हुआ, जहां ब्रिटिश वादों की असफलता तथा जैसे रॉलेट एक्ट जैसे मुद्दे प्रमुख थे। सविनय अवज्ञा आंदोलन के समय पश्चिम में ग्रेट डिप्रेशन (1929) के आर्थिक संकट का दौर था, जहां वैश्विक मंदी ने भारतीय अर्थव्यवस्था को भी प्रभावित किया और नमक कर जैसे मुद्दे उभरे।[9] वहीं भारत छोड़ो आंदोलन द्वितीय विश्व युद्ध के विस्तृत प्रभाव और उससे अभिक्रियात्मक गतिविधियों का परिणाम था, जहां क्रिप्स मिशन की असफलता, जापानी खतरा और युद्ध जनित आर्थिक समस्याओं और ब्रिटिश सरकार अड़ियल रवैय्ये ने तत्काल स्वतंत्रता की मांग को एक विस्फोटक रूप दे दिया । ये संदर्भ आंदोलनों की समयबद्धता को स्पष्ट करते हैं, जहां वैश्विक घटनाएं भारतीय राष्ट्रवाद को प्रभावित करती रहीं।[10]

प्रभाव

इन तीन प्रमुख आंदोलनों का समेकित प्रभाव अत्यंत गहरा और निर्णायक था। इन आंदोलनों ने न केवल ब्रिटिश साम्राज्यवाद को कमजोर किया, बल्कि भारतीय जनता में राष्ट्रवाद की भावना को जागृत करने में अभूतपूर्व भूमिका निभाई जिसके फलस्वरूप जन-भागीदारी को बढ़ाया जा सका। समेकित रूप से, इन आंदोलनों ने भारत को एकजुट किया, अहिंसा की वैश्विक छवि स्थापित की और ब्रिटिश नीतियों में जनदबाव में बदलाव लाया, जैसे

तीनों आंदोलनों ने आम जनता को स्वतंत्रता संग्राम से जोड़ा। असहयोग ने बहिष्कार के माध्यम से जनता को ब्रिटिश संस्थाओं से दूरी सिखाई, सविनय अवज्ञा ने कानून उल्लंघन से सक्रिय भागीदारी बढ़ाई, और भारत छोड़ो ने 'करो या मरो' नारे से अंतिम उभार पैदा किया। समेकित प्रभाव: भारत में राष्ट्रवाद की लहर उठी, ग्रामीण-शहरी भागीदारी (भारत छोड़ो में) तक विस्तार किया। उदाहरण: असहयोग में 30,000+ गिरफ्तारियाँ, सविनय अवज्ञा में 90,000+, और भारत छोड़ो में 94,000+ गिरफ्तारियाँ ने जनता को बलिदान की शिक्षा दी। यह प्रभाव 1947 की आजादी में स्पष्ट था, जहां इन आंदोलनों ने ब्रिटिश को जन-शक्ति का अहसास कराया। [11]

समेकित रूप से इन आन्दोलनों ने ब्रिटिश शासन पर आर्थिक और राजनीतिक दबाव निर्मित किया और ब्रिटिश अर्थव्यवस्था को हिलाकर रख दिया। असहयोग में विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार ,सविनय अवज्ञा में नमक कर उल्लंघन (राजस्व हानि), और भारत छोड़ो में हड़तालों से युद्ध प्रयास बाधित हुए। राजनीतिक प्रभाव के रूप में अंग्रेजो को बात चीत और समझौतों के लिए कई बार बाध्य होना पड़ा। जैसे गांधी-इरविन पैक्ट (1931) से कांग्रेस की मान्यता वापस मिली । भारत छोड़ो ने द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान ब्रिटिश को कमजोर कर 1945 में लेबर पार्टी की सत्ता में आने और 1947 की स्वतंत्रता को मजबूत किया। उदाहरण: भारत छोड़ो में 550 डाकघर और 250 रेलवे स्टेशन क्षतिग्रस्त होने से ब्रिटिश प्रशासन पंगु हो गया। इसके अतिरिक्त आंदोलनों ने अहिंसा को वैश्विक मंच पर स्थापित किया। फलस्वरूप अमेरिका और यूरोप का ध्यान आकर्षित किया, भारत छोड़ो आन्दोलन ने द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान मित्र राष्ट्रों (अमेरिका) को ब्रिटिश नीतियों पर सवाल उठाने पर मजबूर किया। गांधी की अहिंसा ने मार्टिन लूथर किंग और नेल्सन मंडेला जैसे वैश्विक नेताओं को प्रेरित किया। इन राजनीतिक आन्दोलनों ने सामाजिक परिवर्तन को भी गति दी आन्दोलनों से जो सामाजिक जागृति पैदा हुई उसने महिलाओं, किसानों और मजदूरों की भागीदारी बधाई। यद्यपि राजनीतिक आन्दोलन का एक परिणाम यह भी हुआ यह भारत में यह विभाजन की पृष्ठभूमि भी बना। [12, 13]

सन्दर्भ:

[1] Non-Cooperation Movement. (2024). Non-cooperation movement. *International Journal for Multidisciplinary Research*, *6*(2). https://doi.org/10.36948/IJFMR.2024.V06I02.14925

[2] Publisher, S. K. (2022). *A historical review of Mahatma Gandhi's non-cooperation movement*. SK International Journal of Multidisciplinary Research Hub.

[3] Gadgil, G. A. U. R. A. V. (2018). Non-cooperation movement and the colonial state. *Research Directions.*

[4] *Oak, Alok. (2022). Saving Indian Villages: British Empire, the Great Depression and Gandhi's Civil Disobedience Movement. Studies in Indian Politics. 10. 227-241. 10.1177/23210230221135834.*

[5] *Civil disobedience movement and the quit India movement" (PDF, All Study Journal, 2025)*

[6] *THE QUIT INDIA MOVEMENT: REVOLUTIONARY SPIRIT OF A NATION" (ResearchGate, 2024)*

[7] *"Quit India Movement: An Analysis of Its Nature and Ideas Behind it" (IJSSL, 2023)*

[8] *"Non-Cooperation, Civil Disobedience and Quit India Movement" (Scribd, 2016)*

[9]*Oak, Alok. (2022). Saving Indian Villages: British Empire, the Great Depression and Gandhi's Civil Disobedience Movement. Studies in Indian Politics. 10. 227-241. 10.1177/23210230221135834.*

[10] *Ibid*

[11] *Hiranandani, V. (2014). A Gandhian approach to peace movements in the 21st century.*

[12] *Clements, K. (2015). Rediscovering Gandhi and Principled Nonviolence: An Imperative for the 21st Century. Thammasat Review.*

[13] *ziraf, accounts.* Study on impact of Gandhian Satyagraha aspects over school/college students. *Zenith.*

Received: 02.01.2026 | Accepted: 10.01.2026 | Published: 30.01.2026

बैंको द्वारा प्रदत्त किसान क्रेडिट कार्ड का कृषकों की आर्थिक स्थिति पर प्रभाव: सहरसा जिले के नवहट्टा प्रखण्ड के विशेष संदर्भ में

कुन्दन कुमार* **डॉ. अनिल कुमार†**

kundankumar.ku73@gmail.com **dr.anileco@gmail.com**

सारांश (Abstract)

किसान क्रेडिट कार्ड (KCC) योजना का मुख्य उद्देश्य भारतीय कृषकों को आसानी पूर्वक ऋण मुहैया करवाना है। इस शोध पत्र में KCC योजना के द्वारा कृषकों की आर्थिक स्थिति में समय-समय पर किए गए सुधारों का बहुत ही गहनता पूर्वक अध्ययन किया गया है। कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ की हड्डी है एवं लगभग आधा से अधिक जनसंख्या के जीवन-यापन का प्रमुख स्रोत है। सरकार द्वारा कृषि क्षेत्र में कृषकों के आर्थिक सुधार हेतु अनेक प्रकार के योजनाएँ एवं नीतियाँ समय-समय पर लागू की जाती रही है। इनमें से एक महत्वाकांक्षी योजना किसान क्रेडिट कार्ड (KCC) भी है, जिसे 1998 में भारतीय रिजर्व बैंक (RBI) एवं नाबार्ड (NABARD) के द्वारा संचालित किया गया था, के. सी.सी अल्पकालीन (लगभग 5 वर्ष) के लिए दिए जाने वाला एक कृषि ऋण है, जो कृषकों की खेती में आने वाली खर्चों को पूरा करने के लिए दिया जाता है। भारतीय कृषि प्रणाली में कृषकों के लिए वित्तीय संसाधनों की जरूरत एक महत्वपूर्ण पहलू रहा है। विशेष रूप से लघु एवं सीमांत कृषक अपनी कृषि आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु साहूकारों एवं गैर-संस्थागत ऋण मुहैया करने वालों पर निर्भर रहते हैं, जिससे वे ऊँची ब्याज दरों के जाल में धीरे-धारे फँसते जाते है। बिहार की कृषि व्यवस्था मुख्य रूप से परंपरागत ढाँचे पर आधारित है, जहाँ जोतों का आकार अत्यंत लघु है, सिंचाई की सुविधा भी सीमित है एवं आधुनिक तकनीक का प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है।

मुख्य शब्द (Key Words) :- *किसान क्रेडिट कार्ड, आर्थिक सुधार, कृषि ऋण, कृषि विकास, नाबार्ड।*

परिचय (Introduction)

कृषि क्षेत्र आरंभ से ही हमारे भारतीय, अर्थव्यवस्था का आधार है। आदिकाल से ही लोग अपना जीवन-यापन कृषि के माध्यम से करते आ रहे है। कृषि हमारे देश का आर्थिक स्तंभ होने के बावजूद वित्तीय समस्याओं से जुझ रही है। कृषकों के वितीय समस्याओं को दूर करने के लिए केन्द्र सरकार ने वर्ष 1998 में किसान क्रेडिट कार्ड (KCC) योजना आरंभ की। यह योजना मुख्य रूप से कृषकों को ऋण मुहैया कराने पर केन्द्रित है। इस योजना के माध्यम से कृषकों को अपने कृषि कार्य हेतु जैसे:- भूमि, जोत, खाद, बीज, कीटनाशक एवं फसल कटाई हेतु आसानी पूर्वक ऋण उपलब्ध करवाया जाता है। सहरसा जिले के नवहट्टा प्रखण्ड में भी यह योजना सफलता पूर्वक चलाई जा रही है। जिला सहकारी बैंक, राष्ट्रीयकृत बैंक एवं अन्य वित्तीय संस्थाओं के द्वारा इस योजना को कृषकों तक पहुँचाने का कार्य किया जा रहा है। जिससे अब यहाँ के कृषक साहूकारों एवं अन्य गैर-संस्थागत स्रोतों से प्राप्त होने वाली ऋणों पर निर्भर नहीं रहे। इसके चलते उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है, इस शोध पत्र में विशेष रूप से सहरसा जिले के नवहट्टा प्रखण्ड में किसान क्रेडिट कार्ड योजना के महत्व का विश्लेषण किया गया है ताकि यह समझा जा सके की यह योजना किस प्रकार कृषकों के लिए आवश्यक है एवं इसके किन-किन पहलुओं में सुधार की जरूरत है यह योजना भारत के सभी राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको द्वारा सफलता पूर्वक चलाई जा रही है। KCC योजना के अन्तर्गत आने वाले कृषकों को क्रेडिट कार्ड एवं पासबुक या क्रेडिट कार्ड – सह- दी जाती है, जिसमें कृषकों के नाम, पता, भूमि उधार सीमा एवं वैधता अवधि का विवरण होता है। ऋण की सीमाएँ पूरे साल की सभी ऋण

* **शोधार्थी, विश्वविद्यालय अर्थशास्त्र विभाग, बी. एन. म. यू. मधेपुरा, बिहार**

† **वरीय सहायक प्राचार्य, अर्थशास्त्र विभाग, भू० ना० मंडल विश्वविद्यालय पश्चिमी परिसर, पी० जी० सेन्टर, सहरसा**

उत्पादन आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए निर्धारित की जाती है। बैंकिंग क्षेत्र एवं सरकार के सहयोग ने इस योजना की प्रभावशीलता को बढ़ाया है। इस योजना में ऋण राशि के वितरण में लगातार हो रही वृद्धि ने कृषकों की वित्तीय स्थिति को सुधारा है एवं उनकी कृषि उत्पादकता में वृद्धि की है। वर्तमान समय में KCC योजना में अनेक महत्वपूर्ण सुधार एवं विस्तार किए गए है। 2004 में इस योजना में मछली पालन एवं पशुपालन को शामिल किया गया, जिससे कृषकों को विभिन्न कृषि सम्बन्धी गतिविधियों के लिए भी ऋण मिलना शुरू हुआ। इसके चलते उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है। (Areendam Chanda, May 2012)

उद्देश्य (Objective)

इस अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य किसान क्रेडिट कार्ड (KCC) योजना के द्वारा नवहट्टा प्रखण्ड के कृषकों को ऋण की सहायता प्रदान करना है। अध्ययन का मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित है –

i. यह जानकारी प्राप्त करना कि KCC कृषकों को बैंको के माध्यम से ऋण प्राप्त करने में किस प्रकार से सहायता करती है।
ii. कृषि कार्य में लगे कृषकों की किसान क्रेडिट कार्ड की वर्तमान स्थिति को समझना
iii. KCC के माध्यम से कृषकों की किसान क्रेडिट कार्ड की वर्तमान स्थिति को समझना।
iv. यह समझना कि बैंकिंग प्रणाली के माध्यम से कृषकों को कम ब्याज दर पर पर्याप्त और सही समय पर ऋण सहायता मिल रही है।
v. कृषकों की आर्थिक समस्याओं को पहचानना एवं KCC के द्वारा उसके समाधान हेतु संभावनाओं की पता लगाना।

परिकल्पना (Hypothesis) –

i. KCC के माध्यम से प्राप्त ऋण कृषकों की आर्थिक स्थिति को मजबूत बनाती है।
ii. किसान क्रेडिट कार्ड योजना से कृषकों को उच्चे ब्याज दरों से छुटकारा मिल रही है।
iii. अलग-अलग एजेंसियों द्वारा केसीसी वितरण में वृद्धि देखने को मिला है।
iv. लम्बी समय तक चलनी वाली कागजी प्रक्रिया में कमी हुई।
v. किसान क्रेडिट कार्ड योजना कृषकों के वित्तीय समस्याओं को दूर करने में बहुत हद तक सफल हुई है।

अध्ययन विधि (Method of Study)

प्रस्तुत शोध अध्ययन मुख्य रूप से प्राथमिक आँकड़ों पर आधारित है, जिनका संग्रहण अनुसूची के द्वारा किया गया है। प्रस्तुत शोध अध्ययन में वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन विधि को अपनाया गया है। प्राथमिक आँकड़ों की जानकारी हेतु बैंकों के माध्यम से KCC प्राप्त लाभार्थियों से व्यक्तिगत जानकारी प्राप्त व प्रत्यक्ष अवलोकन कर यह समझने का प्रयास किया गया है, कि KCC के माध्यम से मिलने वाली ऋण कृषकों को कृषि कार्य में किस प्रकार से सहायता करती है। शोध अध्ययन को और अत्यधिक विश्वसनीय बनाने हेतु द्वितीयक आँकड़ों का भी सहारा लिया गया है, जिसके लिए सरकारी रिपोर्ट, विभिन्न शोध पत्र, एवं अन्य संबंधित साहित्य को शामिल किया गया है।

साहित्य समीक्षा (Review of literature)

मेहता आर. (2023), उन्होंने अपने अध्ययन में किसान क्रेडिट कार्ड की वर्तमान स्थिति एवं उस योजना में आने वाली चुनौतियों का विश्लेषण किया है। मेहता जी ने पाया कि इस योजना के द्वारा कृषकों को तुरंत ऋण की सुविधा मिल रही है, किन्तु ऋण लेने की प्रक्रिया में जटिलता एवं जागरूकता की कमी अभी भी एक बड़ी चुनौती है। उन्होंने अपना सुझाव दिया है कि KCC योजना की प्रक्रिया को और अत्यधिक सरल एवं त्वरित बनाने के लिए डिजिटल उपकरणों का अधिक उपयोग किया जाना चाहिए।

पूर्णिमा दास (2015), इनके अनुसार देखा गया कि वित्तीय क्षेत्र में निरंतर प्रयासों के बावजूद कृषि ऋण की आपूर्ति एवं आपूर्ति की आवश्यकताओं के बीच एक बड़ा अंतर विद्यमान है। पूर्णिमा दास एवं अन्य ने इस अध्ययन में पाया कि औपचारिक क्रेडिट प्रणाली के विस्तार के बाद भी KCC योजना के माध्यम से संस्थागत ऋण की मात्रा संतोषजनक नहीं है।

उन्होंने अपना सुझाव दिया कि वाणिज्यिक बैंकों के द्वारा ग्रामीण क्षेत्र के लघु एवं सीमांत कृषकों के समस्या मुक्त क्रेडिट को लोकप्रिय बनाने हेतु प्रयास करनी चाहिए।

शर्मा आर. (2016), इनके अध्ययन में KCC योजना के प्रभावों का अध्ययन किया गया। शर्मा जी ने पाया कि किसान क्रेडिट कार्ड योजना ने कृषकों को त्वरित एवं सस्ती ऋण सुविधा प्रदान की है जिनसे उनकी कृषि उत्पादकता एवं वित्तीय स्थिति में सुधार हुआ है। इसमें उन्होंने अपना सुझाव दिया कि योजना की प्रभावशीलता को बढ़ाने के लिए कुछ सुधार की आवश्यकता है।

सिंह ए (2018), इस शोध ने KCC योजना तहत डिजिटल बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार का अध्ययन किया। सिंह जी ने पाया की डिजिटल बैंकिग सुविधाओं जैसे एटीएम कार्ड एवं मोबाईल बैंकिग के द्वारा कृषकों को ऋण प्रक्रिया में आसानी मिली है। जिससे कृषकों की बैंकिंग प्रणाली में विश्वास को बढ़ाया है एवं उनकी वित्तीय समावेशन को बढ़ावा दिया है।

वर्मा पी. (2020), वर्मा के अध्ययन ने KCC योजना के ऋण वितरण के पैटर्न का विश्लेषण किया। उन्होंने अध्ययन में पाया कि योजना के माध्यम से दी जाने वाली ऋण राशि में समय के साथ वृद्धि हुई है, लेकिन इसके बावजूद ग्रामीण एवं दूरदराज के क्षेत्रों में अभी भी जागरूकता की कमी है उन्होंने सुझाव दिया कि सरकार एवं बैंकिंग संस्थानों को जागरूकता बढ़ाने हेतु अभियान चलाने की जरूरत है।

उपर्युक्त शोध साहित्य से यह स्पष्ट होता है कि KCC योजना के द्वारा कृषकों को त्वरित ऋण की सुविधा, ऋण की आपूर्ति, किसान क्रेडिट कार्ड की वर्तमान स्थिति ऋण वितरण के बारे में विशेष रूप से चर्चा की गई है। इस शोध अध्ययन में यह भी बताया गया है कि KCC योजना में दी जाने वाली राशि में समय के साथ वृद्धि हुई है परन्तु कृषकों के आर्थिक स्थिति पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है, इन पहलुओं पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया है। सभी साहित्य विद्वान लगभग एक जैसे परिणाम पर पहुँचे हैं। ग्रामीण क्षेत्र के सीमांत एवं लघु कृषक साहूकार से उच्च ब्याज दर पर ऋण पाते है एवं ताउम्र ऋणों से उबर नहीं पाते है, एवं KCC योजना का कृषकों के आर्थिक स्थिति के प्रभावों, इन सभी पक्षों में शोध का अभाव दिखाई दे रहा है।

कृषि उत्पादकता में बढ़ोतरी -

KCC योजना लागू होने के उपरांत कृषकों ने अपने कृषि कार्य में आधुनिक कृषि तकनीकों एवं संसाधनों का उपयोग करना शुरू किया है। अब वे उन्नत बीज, एवं गुणवत्ता वाले खाद-बीज एवं आधुनिक कृषि यंत्रों का प्रयोग कर पा रहे हैं। जिससे उनके फसल की उत्पादन क्षमता में वृद्धि हुई है। सिंचाई सुविधा में सुधार होने साथ-ही साथ फसल की गुणवत्ता भी बेहतर हुई है, जिससे कृषकों को अधिक लाभ मिलने लगा है।(तन्वी देश पांडे मार्च 2017) कृषि विज्ञान केन्द्र सहरसा के अनुसार नवहट्टा प्रखण्ड के कृषकों का मुख्य फसल धान एवं मक्का है। पहले जहाँ इसकी उत्पादकता काफी कम थी, लेकिन वर्तमान समय में ऋण की उपलब्धि के कारण धान की उत्पादकता लगभग 38 क्विंटल/हेक्टेयर हो गई है, एवं मक्का की उत्पादकता लगभग 67.3 क्विंटल/हेक्टेयर तक की वृद्धि देखने को मिला है। इसके साथ-साथ नवहट्टा प्रखण्ड जो एक बाढ प्रभावित इलाका है जहाँ की मैदानी भाग मखाना उत्पादन के लिए भी प्रसिद्ध है। इस प्रकार हम देख रहे है कि KCC योजना के कारण यहाँ के कृषकों की कृषि उत्पादकता में लगातार वृद्धि हो रही है। (कृषि विज्ञान केन्द्र सहरसा रिपोर्ट, 2025)

ऋण सुलभता एवं कृषकों की निर्भरता:

इस अध्ययन में सहरसा जिला के नवहट्टा प्रखण्ड में यह देखा गया कि KCC योजना लागू होने के पश्चात कृषकों की ऋण लेने की प्रक्रिया सरल हुई है। पहले जहाँ कृषक साहूकार एवं गैर- संस्थागत स्त्रोतों से ऋण लेते थे, वहीं अब बैंकों के माध्यम से सरलता पूर्वक ऋण प्राप्त कर रहें हैं। जिनसे न केवल उनकी ऋण चुकाने की क्षमता में सुधार हुआ है, बल्कि उच्च व्याज दरों के जाल से भी बच वे पाए हैं। जिसके कारण अब यहाँ के कृषक पहले की अपेक्षा अपना कृषि कार्य बड़ी ही आसानी पूर्वक कर पा रहें है। अध्ययन से पता चला है कि राज्य में 72 लाख से अधिक कृषक है, लेकिन 2025 तक नया-पुराना मिलाकर कुल 616047 कृषकों को ही KCC का लाभ मिला है। वहीं सहरसा जिले में वर्ष 25-26 के तहत 9363 के लिए 131 करोड़ एवं नवीकरण के तहत 230007 के लिए 322 करोड़ का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। इस प्रकार हम देख रहे है कि कृषकों के लिए ऋण की उपलब्धि में पहले से तीव्र वृद्धि हो रही है एवं KCC योजना के प्रति कृषकों की निर्भरता भी बढ़ा है। (हिन्दुस्तान, 2026)

कृषकों की आय एवं जीवन स्तर में सुधार : -

KCC योजना का प्रभाव कृषकों की आय एवं जीवन स्तर पर स्पष्ट रूप से देखने को मिल रहा है। अध्ययन से पता चला है कि KCC धारक कृषकों की आय में 15-20 प्रतिशत की वृद्धि हुई हैं। साथ ही अब यहाँ के कृषकों का रहन-सहन की स्थिति भी पहले से बेहतर हुई है, कृषक अब किसान क्रेडिट कार्ड के माध्यम से सस्ती दर पर ऋण प्राप्त कर रहें है एवं आधुनिक खेती, ड्रिप सिंचाई जैसे उन्नत तरीकों को अपनाने से कृषकों की आर्थिक स्थिति मजबूत हो रही है, KCC ने वित्तीय समावेशन को बढ़ाया है, परन्तु कृषकों की आय दोगुनी करने के लिए अभी भी कृषि से आय के स्त्रोतों एवं विपणन सुविधाओं को बढ़ाने की आवश्यकता है। जिससे कृषकों को अपनी रोजमरा की जरूरतों पर अधिक खर्च करने का अवसर मिला है। इसके अलावे, कृषक सब अपने बच्चों की शिक्षा एवं स्वास्थ्य पर पहले से अधिक ध्यान दे पा रहें है, जिससे उनका जीवन स्तर पहले से बेहतर हुआ है। (भारत सरकार, 2022) अध्ययन से जानकारी प्राप्त हुई है कि सहरसा जिले के नवहट्टा प्रखण्ड के कृषकों की आय एवं जीवन स्तर में सुधार हेतु किसान क्रेडिट कार्ड (KCC) योजना एक मुख्य साधन के रूप में उभड़कर आई है। KCC के माध्यम से कृषकों को कम ब्याज दर पर ऋण की उपलब्धि, उन्नत खाद, बीज एवं आधुनिक कृषि यंत्रों की खरीदारी में आसानी हो रही है, जिससे कृषकों की प्रति एकड़ उत्पादकता बढ़ रही है, एवं उसका जीवन-स्तर पहले से बेहतर स्थिति में है।(वार्षिक रिपोर्ट, 2023-24)

विश्लेषण एवं परिणाम (Analysis and Results)

किसान क्रेडिट कार्ड (KCC) योजना जो कि पूर्ण रूप से बैंकों के माध्यम से वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने वाली योजना है। इस शोध अध्ययन में यह स्पष्ट हुआ कि किसान क्रेडिट कार्ड योजना सहरसा जिले के नवहट्टा प्रखण्ड के कृषकों के लिए महत्वपूर्ण साबित हुई है। इस योजना ने यहाँ के कृषकों के कृषि उत्पादन, आय में वृद्धि, ऋण चुकाने की क्षमता एवं जीवन स्तर में सुधार लाने में प्रमुख योगदान दिया है। यहाँ के कृषक अब पारंपरिक ऋणदाताओं की तुलना में संस्थागत बैंकों के माध्यम से सस्ती ब्याज दरों पर ऋण प्राप्त कर सकते हैं, जिससे उनका वित्तीय बोझ कम हुआ है। परन्तु वर्तमान समय में अभी भी जिले के बड़ी संख्या में कृषकों को KCC ऋण नहीं मिल पा रही है। बैंक KCC ऋण देने में उदासीनता बरत रहीं है, जिसके कारण कृषक परेशान रहते है। खास करके कृषकों को किसान क्रेडिट कार्ड नहीं बनने से कृषक कम ब्याज वाले सरकारी ऋण से वंचित हो रहें है। जिससे कृषकों को खेती के लिए खाद-बीज या छोटे मोटे धंधे के लिए अधिक ब्याज पर ऋण लेना पड़ता है। अधिकांश लघु एवं मध्यम कृषकों को KCC से संबंधित जानकारी नहीं होने के कारण ऐसे कृषक अधिक ब्याज पर ऋण प्राप्त कर खेतीबारी करते हैं, जिससे कृषकों को KCC का समय पर लाभ नहीं मिल पा रहा है। खास करके बिहार में किसान क्रेडिट कार्ड(KCC) ऋण वितरण के मामले में काफी पीछे है, बैंकों की उदासीन रवैया के कारण चालू वित्तीय वर्ष की पहली दो तिहाईयों में केवल 18.89% उपलब्धि दर्ज की गई। 37,400 करोड़ रुपये के लक्ष्य के मुकाबले मात्र 7,066.58 करोड़ रुपये वितरित हुए है। वहीं वर्ष 25-26 के तहत सहरसा जिले में नए 9363 के लिए 131 करोड़ एवं नवीकरण के तहत 230007 के लिए 322 करोड़ लक्ष्य दिया गया है, जिस लक्ष्य के विरूध नए के तहत मात्र 961 को 14 करोड़ 83 लाख एवं नवीकरण के तहत 12419 को 176 करोड़ से अधिक राशि दी गई है। कुल मिलाकर देखें तो अभी तक लगभग 43 प्रतिशत लक्ष्य की प्राप्ति हो पाई है, ऐसे में बड़ी संख्या में अभी भी नए एवं नवीकरण लक्ष्य बाकी है। जबकि यहाँ के कृषकों का कहना है कि KCC कार्ड बनवाने में पसीना छूट जाता है, बैंकों द्वारा विभिन्न तरह के कागजात की माँग की जाती है। सभी कागजात अगर दे भी दिया जाता है तो इसके बाद भी बैंकों द्वारा टालमटोल किया जाता है, जिससे खेती करते समय ऋण उपलब्ध नहीं हो पाता है एवं मजबूरी में खाद बीज दुकानदारों से ही या अन्य लोगों से अधिक ब्याज लेना पड़ता है। हालांकि KCC योजना के अन्तर्गत पहले की अपेक्षा ऋण चुकाने की प्रक्रिया अधिक सुगम गई है, जिससे यहाँ के कृषक अब बिना किसी अतिरिक्त आर्थिक दबाव के अपनी वित्तीय देनदारियों पूरी कर पा रहें हैं।

निष्कर्ष (Conclusion)

बैंकों के माध्यम से दी जाने वाली किसान क्रेडिट कार्ड योजना सहरसा नवहट्टा प्रखण्ड के कृषकों के लिए ऋण प्राप्ति हेतु एक कारगर योजना साबित हुई है। इस योजना के माध्यम से कृषकों को न केवल ऋण की प्राप्ति होती है बल्कि उन्हें गैर-संस्थागत ऋण मुहैया करने वालों एवं साहूकारों के चंगुल से भी मुक्ति दिलाने का काम करती है। इस का योजना के लागू होने से पूर्व जहाँ कृषकों को उच्ची ब्याज दरों पर ऋण लेने के लिए मजबूर होना पड़ता था. जिनके कारण वे ऋण के जाल में हमेशा के लिए फंस जाते थे। परन्तु जब से किसान क्रेडिट कार्ड की सुविधा कृषकों को मिलने लगी है तब से वो इन सुविधाओं का

लाभ उठाकर अपने आर्थिक स्थिति को ठीक करने में सफल रहें हैं। हालांकि इस योजना में अभी भी काफी को चुनौतियों एवं सुधार की आवश्यकता है अभी भी कई कृषकों को इस योजना के बारे में पूरी तरह से जागरूक नहीं है जिससे वे इसके लाभ से वंचित रह जाते हैं। क्योंकि कुछ बैंकिंग प्रक्रिया जटिल होने के कार कारण कृषकों ऋण प्राप्त करने में कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। यदि इस योजना के और अधिक आसानी एवं पारदर्शी बनाया जाए तो यह और अधिक कृषकों तक पहुँच सकती है एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास में अपना महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। अतः स्पष्टतः हम कह सकते है कि बैंकों द्वारा दी जाने वाली किसान क्रेडिट कार्ड योजना सहरसा जिले नवहट्टा प्रखण्ड के कृषकों के जीवन में एक सकारात्मक परिवर्तन लाने में सहायक रही है। यदि इस योजना को और अधिक व्यापक रूप से प्रचारित किया जाए तो यह योजना भविष्य में कृषि क्षेत्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देने का काम करेगी।

सुझाव (Suggestion)

यद्यपि किसान क्रेडिट कार्ड योजना कृषकों के लिए अति आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है फिर भी इसके आवश्यकता एवं महत्व को बढ़ाने के लिए निम्नलिखित सुझाव दी जा सकती है।

1. कृषकों को इस योजना के बारे में अधिक जानकारी होनी चाहिए जिससे अधिक से अधिक कृषक इस योजना का लाभ उठा सकें।
2. डिजिटल बैंकिंग प्रक्रिया को बढ़ावा दिया जाना चाहिए, ताकि कृषकों को बैंकों का चक्कर लगाने की जरूरत ना हो।
3. किसान क्रेडिट कार्ड की ऋण सीमा को बढ़ाया जाना चाहिए, ताकि कृषक अधिक से अधिक नवीन संसाधनों का उपयोग कर सके।
4. लघु, भूमिहीन कृषकों एवं महिला कृषकों को भी प्राथमिकता मिलनी चाहिए, ताकि वे भी इस योजना का लाभ उठा सके।
5. लघु एवं सीमांत कृषकों को KCC के लिए कुछ सहूलियत दी जाए, ताकि अधिक से अधिक कृषक लाभान्वित हो सके।
6. कृषकों को समय पर किसान क्रेडिट कार्ड उपलब्ध कराया जाए जिससे खेतीबारी में लाभ मिल सके।

सन्दर्भ (Reference)

Chanda, Areendam. (2012 May). *Evaluating the Kisan credit card scheme*. pp 2-5.

Dey, P. D. (2015). Performance of Institutional Agricultural credit in Hailkandi District of Assam with special Reference to Kisan credit card scheme. *Journal of Agriculture and veterinary science*, 62-68

Mehta, R. (2023). Current status and challenges of the kisan credit card scheme. *Journal of Agricultural finance*, 40 (2), 155-172.

Singh, A. (2018). Expansion of Digital Banking facilities under the kisan credit card Scheme. Journal of Agricultural Economics, 27 (3), 112-128

Verma, P. (2020). Analysis of Loan Distribution Patterns Under the Kisan credit card scheme. *Indian Journal of Rural studies*, 32(1), 45-59.

देशपांडे तन्वी. (2017). भारत में कृषि की स्थिति, पृ. 6-8

भारत सरकार. (2022). *किसान क्रेडिट कार्ड योजना*, कृषि एवं किसान मंत्रालय. पृ. 12-15

भारत सरकार. (2024). *कृषि एवं कल्याण मंत्रालय वार्षिक रिपोर्ट*, 2023-24. पृ. 143-146

शर्मा, आर. (2016). किसान क्रेडिट कार्ड योजना का प्रभाव, *बैंकिंग रिसर्च जर्नल*, 14(2), 123-138

हिन्दुस्तान. (2026). पेपर 23 जनवरी, site-www.livehindustan.com

Received: 03.01.2026 | Accepted: 10.01.2026 | Published: 30.01.2026

The Sociological Study of Divorce: Causes and Consequences

DR. MAHENDRA SINGH*
drmahen.02@gmail.com

Abstract

Divorce has emerged as one of the most significant indicators of transformation within the institution of family in contemporary society. Historically regarded as rare, deviant, and morally unacceptable, divorce has increasingly become normalized and legally accessible across cultures and regions. Rapid processes such as industrialization, urbanization, women's education and employment, legal reforms, and changing social values have reshaped both the meaning of marriage and the stability of family life. While divorce provides individuals with the opportunity to escape abusive, oppressive, or unsatisfactory relationships and pursue personal well-being, it simultaneously produces emotional, economic, psychological, and social challenges for spouses, children, and communities. From a sociological perspective, divorce cannot be understood simply as an individual or moral failure; rather, it is a structural and institutional phenomenon influenced by broader social forces and transformations. This paper examines divorce through major sociological theories, analyses its primary causes, evaluates its consequences at individual, familial, and societal levels, and explores emerging patterns in the Indian context. The study argues that divorce reflects the evolving and adaptive nature of modern families and highlights the need for social policies and support systems that minimize its adverse effects while protecting individual rights and dignity.

Keywords:

Divorce, Marriage, Family change, Gender roles, Children, Modernization, Indian society

Introduction

Marriage has long been regarded as the cornerstone of social organization and the foundation upon which family life is built. Across cultures and historical periods, marriage has functioned not only as a personal bond between two individuals but also as a social contract that regulates reproduction, inheritance, kinship relations, and moral behavior. For centuries, the stability of marriage was considered essential for maintaining social order and continuity. Religious institutions, customary laws, and community norms strongly emphasized the permanence of marriage, and divorce was often discouraged or prohibited. Individuals were expected to adjust to marital difficulties, tolerate conflicts, and prioritize family honor over personal satisfaction.

However, the contemporary world has witnessed profound changes in the structure and meaning of marriage. In the 21st century, marriage is increasingly defined by emotional companionship,

* **Professor & Head, Department of Sociology, Madhav University, Pindwara, Sirohi**

equality, mutual respect, and personal fulfillment. As expectations from marriage have shifted, so too has the willingness to dissolve relationships that fail to meet these expectations. Divorce rates have increased in many societies, reflecting changing attitudes toward individual autonomy and self-realization.

These developments raise important sociological questions. Why are more marriages ending in divorce today than in the past? What social and economic forces contribute to this trend? How does divorce affect individuals, children, and society as a whole? Addressing these questions requires a sociological approach that goes beyond personal explanations and examines the broader structural transformations shaping family life. Divorce must be understood as a reflection of modernization, gender equality, legal reform, and evolving cultural values.

This paper explores divorce as a social institution and analyses its causes and consequences through theoretical and empirical perspectives. By doing so, it seeks to provide a comprehensive understanding of how divorce both shapes and is shaped by contemporary society.

Sociological Concept of Divorce

Divorce refers to the legal dissolution of marriage by judicial or recognized authority. In sociological terms, divorce is not merely a legal or personal act but a social process that reflects changing norms, expectations, and power relations within society. It signifies the breakdown of a socially recognized relationship and often involves complex emotional, economic, and familial adjustments.

Historically, marriage served economic and survival functions. Families depended on collective labor, shared resources, and kinship networks. Under such circumstances, divorce was economically risky and socially undesirable. However, with modernization, many of these functions shifted to external institutions such as schools, markets, and welfare systems. As a result, individuals became less dependent on marriage for survival, making divorce a more feasible option. Cherlin (2016) argues that modern marriages are based increasingly on emotional satisfaction rather than economic necessity. When these emotional expectations are unmet, couples may view divorce as a rational and acceptable solution. Thus, divorce becomes both a symptom of changing family structures and a driving force behind further transformation.

Theoretical Perspectives

Functionalist Viewpoint: Functionalists views, society as a system of interrelated parts that work together to maintain stability and order. The family, from this perspective, performs crucial functions such as socialization, emotional support, reproduction, and regulation of behavior (Parsons & Bales, 1955). Divorce is often seen as disruptive because it weakens these functions, particularly affecting children's development and social stability.

However, functionalists also recognize that institutions must adapt to social change. Divorce may serve a positive or adaptive function by allowing individuals to leave dysfunctional or conflict-ridden marriages. In this sense, divorce can prevent prolonged tension and restore social equilibrium. Therefore, divorce is not purely destructive but may contribute to social adjustment.

Conflict Perspective: Conflict theorists emphasize inequality, competition, and power struggles within social institutions. They argue that family life often reflects broader economic and social inequalities related to class, property, and gender (Engels, 2010). Marriage may involve unequal distribution of resources and authority, leading to tension and dissatisfaction.

From this viewpoint, divorce occurs when conflicts become intolerable. Rising divorce rates indicate structural inequalities rather than personal incompatibility. For example, financial stress, unemployment, or unequal domestic labor may create persistent disputes. Divorce thus becomes a consequence of systemic power imbalances.

Feminist Perspective: Feminist sociologists highlight the patriarchal nature of traditional marriage systems. Historically, women were economically dependent on husbands and confined to domestic roles. Marriage often involved unpaid labor, limited autonomy, and vulnerability to abuse.

The feminist perspective views rising divorce rates as evidence of women's empowerment. Education, employment, and legal rights provide women with the resources to leave oppressive relationships (Hochschild, 2012). Divorce can therefore represent resistance to patriarchy and a step toward gender equality.

Symbolic Interactionist Perspective: Symbolic interactionists focus on everyday interactions and meanings individual attach to their social actions. They argue that marriages break down gradually due to poor communication, unmet expectations, and declining emotional intimacy. Divorce results from the accumulation of small conflicts and misunderstandings rather than a single dramatic event. This perspective highlights the importance of subjective experiences in marital stability.

Major Causes of Divorce

Divorce is rarely the result of a single isolated factor; rather, it emerges from a complex interaction of economic, social, cultural, legal, and interpersonal dynamics. Sociologists emphasize that marital breakdown must be understood within broader structural transformations that shape individual choices and relationships. As societies modernize, expectations surrounding marriage, gender roles, emotional fulfillment, and personal autonomy evolve, often creating tensions between traditional norms and contemporary realities. These tensions, combined with changing institutional frameworks and everyday relational challenges, contribute significantly to rising divorce rates. Thus, divorce should be interpreted not merely as a personal failure but as a social phenomenon influenced by multiple interconnected causes operating at different levels of society.

Economic Independence of Women: One of the most significant factors contributing to rising divorce rates in contemporary societies is women's economic empowerment. Historically, women's dependence on husbands for financial security limited their ability to exit unsatisfactory or abusive marriages. Marriage functioned as an economic arrangement in which men served as breadwinners and women as homemakers. This dependency often compelled women to tolerate neglect, exploitation, or violence for the sake of survival. However, the expansion of female education and their workforce participation has dramatically altered this dynamic.

Today, women increasingly pursue higher education, professional careers, and independent incomes. Financial self-sufficiency enhances their bargaining power within marriage and provides the resources necessary to make autonomous decisions. According to Giddens (2013), economic

independence enables women to evaluate marriage in terms of emotional satisfaction rather than economic necessity. When relationships fail to provide respect, companionship, or equality, women are more likely to consider separation as a viable option. From a feminist perspective, rising divorce rates may therefore reflect not family decline but greater gender equality and personal agency. Divorce becomes a mechanism through which women resist patriarchal control and assert their rights.

Industrialization and Urbanization: Industrialization and urbanization have fundamentally reshaped family organization and social relationships. In agrarian societies, extended families provided economic cooperation, shared childcare, and emotional support, creating a collective environment that helped manage marital conflicts. Elders often mediated disputes and offered guidance, thereby maintaining stability. However, the shift toward industrial economies has encouraged migration to urban centers, where nuclear families predominate.

Urban life often involves demanding work schedules, long commutes, high living costs, and competitive environments. These pressures reduce the time couples spend together and increase stress within relationships. The absence of extended kin networks deprives couples of traditional sources of advice and support, making them more vulnerable to conflict. Additionally, urban housing constraints limit co-residence with relatives, further isolating families. As Goode (1963) argued, modernization tends to weaken traditional family bonds while strengthening individual autonomy, which may increase the likelihood of marital dissolution. Thus, industrial and urban lifestyles indirectly contribute to divorce by intensifying strain and reducing support systems.

Changing Social Values: Cultural shifts toward individualism and self-fulfillment have also played a key role in transforming attitudes toward marriage and divorce. In traditional societies, marriage was regarded as a sacred and permanent institution tied to religious obligations and social honor. Divorce carried heavy stigma, often resulting in social exclusion. Individuals were expected to prioritize family reputation over personal happiness.

In contrast, modern societies increasingly emphasize personal freedom, emotional satisfaction, and self-expression. Marriage is now viewed as a voluntary partnership based on love, compatibility, and mutual respect rather than duty alone. When these expectations are not met, individuals are less willing to endure dissatisfaction. The emphasis on “quality of life” encourages people to seek relationships that enhance well-being rather than merely preserve social conformity. Consequently, divorce has become socially acceptable and sometimes even normalized. From a symbolic interactionist perspective, this shift reflects changing meanings attached to marriage, where personal happiness outweighs traditional obligations.

Legal Reforms: Legal transformations have significantly influenced divorce patterns by reducing institutional barriers to marital dissolution. In many countries, earlier divorce laws were restrictive, expensive, and time-consuming, making separation difficult even in cases of severe conflict or abuse. Over time, governments introduced reforms such as no-fault divorce, mutual consent divorce, family courts, and legal protections against domestic violence. These changes have simplified procedures and provided individuals with accessible avenues for ending marriages.

Such reforms empower spouses, particularly women, to assert their rights without fear of legal or social retaliation. Legal recognition also reduces stigma by framing divorce as a legitimate solution

rather than moral deviance. In the Indian context, acts such as the Hindu Marriage Act and Special Marriage Act provide grounds for divorce, including cruelty, desertion, and mutual consent. These provisions reflect the state's acknowledgment of individual autonomy within marriage. Therefore, legal modernization does not create divorce but enables individuals to act upon existing marital dissatisfaction.

Domestic Violence and Abuse: Domestic violence and abuse remain critical factors leading to divorce across societies. Physical, emotional, psychological, and economic abuse severely undermine trust and safety within marriage. Historically, many victims, especially women; remained trapped due to financial dependence, fear of stigma, or lack of legal protection. However, increased awareness of human rights, support services, and protective legislation has encouraged victims to leave harmful relationships.

Divorce in such circumstances represents not failure but survival and self-preservation. Sociologically, this reflects changing norms that no longer tolerate violence within the private sphere of the family. As societies recognize domestic abuse as a social problem rather than a private matter, separation becomes an acceptable and necessary option. Thus, rising divorce rates may partly indicate growing intolerance of injustice and greater commitment to personal dignity.

Communication Breakdown: At the interpersonal level, communication problems are among the most immediate causes of marital breakdown. Effective communication is essential for resolving conflicts, expressing emotions, and maintaining intimacy. However, contemporary lifestyles often undermine meaningful interaction. Long working hours, digital distractions, and competing responsibilities reduce opportunities for quality time between partners.

Misunderstandings, lack of empathy, and unresolved conflicts gradually erode trust and emotional closeness. Small disagreements may accumulate over time, leading to resentment and alienation. Symbolic interactionists focused that divorce often results from a slow process of "uncoupling," where partners reinterpret their relationship negatively through everyday interactions. Without open dialogue and mutual understanding, marriages become fragile and susceptible to dissolution.

Unrealistic Expectations: Another important cause of divorce stems from unrealistic expectations about marriage. Media representations, films, and social media often portray idealized images of romance, wealth, and perfect relationships. These portrayals create fantasies that real-life marriages rarely match. When everyday challenges such as financial strain, domestic responsibilities, or personality differences arise, individuals may feel disappointed or deceived.

Modern culture encourages the belief that relationships should provide constant happiness and excitement. This "high expectation marriage," as described by contemporary sociologists, can paradoxically increase dissatisfaction. Couples may lack patience or commitment to navigate ordinary difficulties, leading them to interpret normal conflicts as signs of incompatibility. Consequently, unrealistic standards contribute to lower tolerance for compromise and higher likelihood of separation.

Interrelated Factors: Beyond these primary causes, several supplementary factors further influence divorce trends. Substance abuse, mental health issues, infertility, financial instability, and interference from extended family members can intensify marital tensions. Early or forced

marriages may also increase the risk of incompatibility. Similarly, social media and online platforms sometimes facilitate extramarital relationships or create mistrust between partners. These factors illustrate that divorce results from a combination of structural pressures and personal experiences rather than any single determinant.

Consequences of Divorce

Divorce has wide-ranging consequences that extend beyond the separation of two individuals. Its effects are emotional, economic, psychological, and social, influencing not only spouses but also children, extended families, and the broader community. Sociologists emphasize that divorce should be understood as a multidimensional process with both negative and positive outcomes. While it may disrupt family stability and create temporary hardship, it can also provide opportunities for personal growth, independence, and healthier relationships. Therefore, the consequences of divorce are complex and vary depending on the circumstances surrounding the marital breakdown, the availability of social support, and the socio-economic position of the individuals involved.

Emotional Consequences: At the emotional level, divorce often results in stress, loneliness, anxiety, and depression. The dissolution of marriage represents the loss of companionship, shared routines, and long-term expectations about the future. Individuals may experience feelings of rejection, guilt, anger, or failure, particularly in societies where marriage is highly valued. The process of legal proceedings, custody disputes, and social adjustments can intensify emotional strain. For many, divorce resembles a grieving process similar to bereavement, involving stages of denial, sadness, and eventual acceptance.

However, emotional outcomes are not universally negative. For individuals trapped in toxic, abusive, or highly conflictual marriages, divorce may bring relief, safety, and improved mental health. Leaving an oppressive relationship can restore self-esteem and provide opportunities for personal development. From a psychological perspective, well-being often improves when individuals escape environments characterized by constant stress or fear. Thus, the emotional consequences of divorce depend largely on the quality of the marriage prior to separation.

Economic Consequences: Divorce frequently produces significant economic challenges, particularly for women and children. The transition from a dual-income household to a single-income family often reduces financial stability. Legal costs, division of property, and child-rearing expenses may further strain limited resources. Single parents, especially mothers, may struggle to balance employment with caregiving responsibilities, leading to lower earning capacity. Studies consistently show that women experience a sharper decline in living standards after divorce compared to men, reflecting persistent gender inequalities in wages and employment opportunities.

Children in single-parent households may also face reduced access to educational and recreational resources. Financial hardship can increase stress within the family, indirectly affecting emotional well-being and social development. Nevertheless, economic consequences vary across class backgrounds. Middle- and upper-class families with greater resources may adapt more easily, while economically disadvantaged families face more severe challenges. These disparities highlight how divorce interacts with broader patterns of social inequality.

Impact on Children: Children are often the most vulnerable to the effects of divorce. Parental separation may create feelings of insecurity, confusion, or divided loyalty. Changes in residence, school, and daily routines can disrupt stability and lead to behavioral or academic difficulties. Some children may experience anxiety, aggression, or withdrawal, while others struggle with trust and relationship formation later in life.

However, research suggests that the level of parental conflict plays a more decisive role than family structure alone. As Amato (2010) notes, children raised in low-conflict single-parent households often fare better than those living in high-conflict intact families. Continuous exposure to hostility and tension can be more damaging than separation itself. Supportive parenting, open communication, and stable routines can mitigate many negative outcomes. Therefore, the quality of family relationships is more important than whether parents remain married.

Social Consequences

At the societal level, rising divorce rates influence kinship patterns, community life, and cultural norms. Divorce may weaken traditional extended family bonds and reduce intergenerational support networks. Elderly parents, for instance, may receive less assistance from fragmented households. Some critics argue that high divorce rates contribute to social instability and declining family cohesion.

Conversely, divorce also promotes greater flexibility and democratization of relationships. Marriages increasingly depend on mutual consent rather than social compulsion, encouraging equality and respect between partners. Society becomes more accepting of diverse family forms, including single-parent households, cohabiting couples, and blended families. From this perspective, divorce reflects not moral decline but social transformation toward individual rights and personal choice.

Remarriage and Blended Families: Divorce frequently leads to remarriage and the formation of stepfamilies or blended families. These arrangements illustrate the growing diversity of contemporary kinship structures. While remarriage may provide emotional support and financial stability, it also introduces new challenges. Adjusting to step-parents, step-siblings, and altered roles can create tension and require negotiation. Issues of loyalty, discipline, and inheritance may complicate relationships.

Nevertheless, many blended families successfully establish supportive environments through communication and cooperation. Their existence demonstrates that family life is not fixed but adaptable, capable of evolving in response to changing social circumstances.

Divorce in the Indian Context

India traditionally viewed marriage as sacred and permanent. Divorce was rare due to social stigma and economic dependence. However, modernization and Globalisation and other related processes have altered these patterns. Urbanization, education, and women's employment also contributed in increased divorce cases, especially in metropolitan areas.

Family courts in cities like Delhi and Mumbai report growing petitions. Legal provisions under the Hindu Marriage Act and Special Marriage Act allow divorce on multiple grounds. Although stigma persists, younger generations increasingly accept divorce as a practical solution to marital conflict.

As Sharma (2013) notes, Indian families are shifting from arranged, duty-based marriages to relationships emphasizing personal compatibility and choice. This transition contributes to both higher expectations and higher divorce rates.

Policy Measures and Recommendations

- Pre-marital counseling
- Family mediation
- Child psychological services
- Financial support for single parents
- Gender equality policies
- Workplace flexibility
- Public awareness programs

These interventions can reduce the negative impacts of divorce while safeguarding rights.

Conclusion

Divorce is a complex sociological phenomenon that reflects broader structural transformations in modern society rather than simply individual failure or moral decline. It emerges from multiple interrelated factors, including women's economic independence, industrialization, urbanization, changing cultural values, legal reforms, and growing demands for equality within intimate relationships. As these forces reshape expectations surrounding marriage, family life has become more fluid and negotiable. Consequently, divorce has increasingly become a socially accepted response to marital dissatisfaction or conflict.

Although divorce may generate emotional distress, economic hardship, and challenges for children, it can also function as a pathway to safety, autonomy, and improved well-being. For individuals trapped in abusive or oppressive relationships, separation represents liberation rather than breakdown. In this sense, divorce reflects the democratization of family life, where relationships are sustained by mutual respect and choice rather than compulsion or tradition. From a sociological perspective, this shift indicates progress toward individual rights and gender equality. Therefore, the consequences of divorce must be evaluated with sensitivity to both its costs and its potential benefits.

At the same time, rising divorce rates highlight the need for supportive social policies and preventive measures. Counseling services, family mediation, economic assistance for single parents, childcare support, and awareness programs on healthy communication can help reduce unnecessary marital breakdowns and mitigate adverse outcomes. Strengthening social institutions that support families is more constructive than stigmatizing those who separate. Governments, communities, and educational systems must work collectively to promote relationship skills, gender justice, and emotional well-being.

Ultimately, divorce should not be viewed as the end of family life but as evidence of its ongoing evolution. Families today are more diverse, flexible, and adaptive than ever before. Understanding divorce sociologically enables us to appreciate these changes and respond with empathy and informed policy rather than judgment. By recognizing both the challenges and opportunities it presents, society can better support individuals in building healthier and more meaningful relationships.

References

Amato, P. R. (2010). Research on divorce: Continuing trends and new developments. *Journal of Marriage and Family, 72*(3), 650–666. Retrieved from: https://doi.org/10.1111/j.1741-3737.2010.00723.x

Beck, U., & Beck-Gernsheim, E. (2002). *Individualization: Institutionalized individualism and its social and political consequences*. Sage Publications.

Cherlin, A. J. (2016). *Public and private families: An introduction* (8th ed.). McGraw-Hill Education.

Engels, F. (2010). *The origin of the family, private property and the state*. Penguin Books. (Original work published 1884)

Giddens, A. (2013). *Sociology* (7th ed.). Polity Press.

Goode, W. J. (1963). *World revolution and family patterns*. Free Press.

Hochschild, A. R. (2012). *The second shift: Working families and the revolution at home* (Rev. ed.). Penguin Books.

Parsons, T., & Bales, R. F. (1955). *Family, socialization and interaction process*. Free Press.

Sharma, K. L. (2013). *Indian social structure and change*. Rawat Publications.

Uberoi, P. (2006). *Freedom and destiny: Gender, family, and popular culture in India*. Oxford University Press.

United Nations. (2020). *World family trends and policies report*. United Nations Publications.

Received: 03.01.2026 | Accepted: 10.01.2026 | Published: 30.01.2026

संस्कृति के प्राण : राम

डॉ. इन्दु दत्ता*
indu.dutta@pgdav.du.ac.in

सारांश

प्रस्तुत शोध आलेख में भारतीय संस्कृति के मूल प्राणतत्त्व के रूप में श्रीराम की अवधारणा का विवेचन किया गया है। समाज की पहचान उसके इतिहास, साहित्य और संस्कृति से होती है तथा भारतीय संस्कृति में राम आदर्श, मूल्य और मर्यादा के सर्वोच्च प्रतीक हैं। वेद, उपनिषद, रामायण और अन्य धर्मग्रंथों के संदर्भों के माध्यम से राम को सत्य, अहिंसा, त्याग, मर्यादा, धर्म, समरसता और मानवता के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। राम का व्यक्तित्व आदर्श पुत्र, पति, पिता, भाई, राजा और मित्र के रूप में सामाजिक, पारिवारिक और राजनीतिक जीवन के आदर्श स्थापित करता है। रामराज्य की अवधारणा सामाजिक न्याय, समानता, लोककल्याण और शरणागत रक्षा के सिद्धांतों पर आधारित है। लेख में राम को सांस्कृतिक विरासत, राष्ट्रीय एकता और मानवीय मूल्यों का केंद्रबिंदु बताया गया है।

अध्ययन यह निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि श्रीराम भारतीय संस्कृति की आत्मा हैं, जिनके आदर्श युगों से मानवता को प्रेरणा देते रहे हैं और भविष्य में भी समाज के नैतिक एवं सांस्कृतिक मार्गदर्शन का आधार बने रहेंगे।

मुख्य शब्द :

श्रीराम, भारतीय संस्कृति, रामराज्य, मर्यादा, सामाजिक मूल्य, धर्म, समरसता, मानवता, भारतीय दर्शन, सांस्कृतिक विरासत

"एक स्वस्थ समाज की पहचान उसके इतिहास, संस्कृति और साहित्य से होती है। परंपरा और परिवर्तनों के फलस्वरूप उस पुराने की पड़ताल से भी उभरती है जो रूढ़ियों और परिवर्तनों के फलस्वरूप जनमानस की सोच में लगातार बने रहते हैं और उसके स्वभाव, रुचि और सोच के अटूट अंग हो जाते हैं।"[1] भारतीय समाज के इतिहास, संस्कृति और साहित्य-समाज के प्राण हैं-राम। राम भारतीय सनातन संस्कृति की दिव्य रश्मियों से आभासित तथा महिमा मंडित वह दिव्य आलोक हैं जिनमें सर्वश्रेष्ठ मूल्यों, परंपराओं, सिद्धांतों, दिव्यताओं, श्रेष्ठ हिंदू संस्कृति के प्राण, वेदों की साकार सत्ता जैसी अन्यानेक विशेषताओं के दर्शन होते हैं। हमारी विराट संस्कृति के आदर्श हैं राम। उनकी पूर्णता उनके मर्यादित व्यक्तित्व में है और मर्यादा जीवन की कसौटी है। ऋग्वेद में कहा गया है -

"तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि ज्यातिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान।

अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुभव जनया दैव्यं जनम्।।

(ऋ. 10-53-6)

हे मनुष्य ! तू अपने जीवन-तंतु का विस्तार करता हुआ लोकमात्र को प्राप्त हो। तू बुद्धि से निष्पादित ज्योतिष्मान् मार्गों की रक्षा कर। स्तुति शब्द करने वाले विद्वानों के उलझन रहित कर्मरूप वस्त्र को बुन। तू मनु अर्थात् मननशील मनुष्य बन, अपने को देवश्रेणी का जन बना। ..... मनुष्य का लक्ष्य देवश्रेणी में पहुंचना है। और देव क्या है? देव वह है जो दान दे, जो अपने ज्ञान से तेजस्वी हो और दूसरों को भी तेजस्वी बनाए देव त्यागी है, देव उदार है। ये श्रेष्ठ मानवता के गुण हैं।"[2]

वाणी पर असाधारण अधिकार, सद्व्यवहार, असाधारण शिष्टाचार, स्थितप्रज्ञ पुरुष हैं राम जिनके जीवन में मूल्यों के साक्षात् दर्शन होते हैं। राम को भगवान नहीं मानने वाले भी राम को 'आचरण के मापदंडों पर खरा' स्वीकार करने में हिचकते नहीं हैं। आदर्श पुत्र, आदर्श पिता, आदर्श भाई, आदर्श पति, आदर्श राजा, आदर्श सखा इत्यादि रामत्व की सकारता है।

* **असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, पी. जी. डी. ए. वी. (प्रातः) कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली**

क्योंकि "परिवार ही वह स्थान है जहां मनुष्य बाल्यावस्था में विशेष सामाजिक गुणों को संजोता है। वह ऐसा शिक्षण स्थल है जहां से मनुष्य पूर्ण आयु के लिए संस्कार लेकर चलता है .... इसीलिए अथर्ववेद के प्रसिद्ध सौमनस्य सूक्त में माता-पिता, भाई-भाई, भाई-बहिन, पति-पत्नी में पूर्ण सौमनस्य की कामना व्यक्त की गई है। -

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शंतिवाम्।
मा भ्रता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यंचः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।

(अथर्व. 3-30-2,3)"[3]

भारतीय समाज के दिशा निर्देशक, प्रकाश स्तंभ श्री राम की रामकथा युग की सांस्कृतिक उपलब्धियों, उच्च जीवन मूल्यों के साथ जुड़ती चली गई और राम भारत की सांस्कृतिक विरासत के सर्वोच्च और सर्वश्रेष्ठ प्रतीक बन गए। राम भारत के गौरवशाली भूतकाल, वर्तमान काल और भविष्यकाल का अंग सदैव हैं और बने रहेंगे। उन्हें यदि हृदय में बसा लिया तो सभी दुःख-दोषों से मुक्ति संभव है -

काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा।
जिन्ह के कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह के हृदय बसहु रघुराया।[4]

तथा

जति पाति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई।
सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई, तेहि के हृदयं रहहु रघुराई।।[5]

सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, स्वाध्याय, संतोष, तप आदि यही शाश्वत धर्म हैं। भारतीय समाज की पूर्ण आस्था, श्रद्धा या विश्वास हमारे धर्म ग्रंथों पर है। सभी धर्म-संप्रदाय अंततः एक ही हैं। पिता धर्म, पुत्र धर्म, पति धर्म और राज धर्म की परिभाषा है - राम।

काम, क्रोध, मद, लोभ सब, नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहि, भजहुं भजहिं जेहि संत।[6]

राम संत शिरोमणि भी हैं-

सम दम नियम नीति नाहि डोलहि।
परुष बचन कब हूं नहि बोलहि।[7]

संतजन समभाव, आत्म नियंत्रण, नियम और नीति या सिद्वांतों से कभी विचलित नहीं होते, वे कभी मुख से कठोर वचन नहीं बोलते।

उन्होंने सामाजिक समरसता को अपने शासन का आधार बनाया। उनका अद्भुत व्यक्तित्व वीरता, उदारता, सत्यनिष्ठा, निर्भीकता, धैर्य, दृढ़ता, दार्शनिक दृष्टि युगों तक प्रेरित करते रहेंगे।

'न राम सदृशो राजा पृथिव्याम् नीतिमानभूत' यानि पूरी पृथ्वी पर श्रीराम के जैसा नीतिवान शासक कभी हुआ ही नहीं।

राम मानते हैं कि उनके राज्य में -

'नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।'(कोई भी दुःखी न हो गरीब न हो।)

'प्रहृष्ट नर नारीक, समाज उत्सव शोभितः।' (नर-नारी सभी समान रूप से सुखी हों।)

'जो सभीत आवा सरनाई, रखिहंउ ताहि प्रान की नाई।' (जो शरण में आए उसकी रक्षा करना सभी का कर्तव्य है।)

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।' (मां और जन्मभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर होती है।)

परिवर्तन और आधुनिकता के पक्षधर राम समय, स्थान और परिस्थिति के अनुसार ही बात करते हैं। -

'देशकाल अवसर अनुहारी, बोल बचन बिनीत बिचारी।'

राम ने सद्भाव एवं समरसता की बात की वह भील, केवट, शबरी, वानरों आदि सभी को साथ लेकर चले।

नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना।
नहि कोउ अबुध न लच्छन हीना।

राम राज्य में न कोई दरिद्र है, न दुखी है और न ही दीन है। कोई मूर्ख और लक्षणहीन भी नहीं है। यानि सभी सुखी और गुणवान हैं।

मन, वचन व कर्म से जीवन के प्रत्येक क्षण में यदि राम का स्मरण-अनुकरण किया जाए तो धैर्य, साहस और जीवनदायी शक्ति की प्राप्ति होती है। लोकनायक, नेतृत्व का अद्भुत कौशल, प्रबंधन की योग्यता, प्रेम, विश्वास, दयालुता, करुणा, प्रकृति प्रेम तथा जीवन मूल्यों, राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक-पारिवारिक मूल्यों की आधारशिला हैं राम।

सूर्य समान उनका तेज, पृथ्वी समान उनकी क्षमा, बृहस्पति समान उनकी बुद्धि, इंद्र समान कीर्ति और सत्य की अडिगता के केंद्र पर घूमता उनका चरित्र है। उन्होंने गुरु वशिष्ठ से ज्ञान, केवट से प्रेम, शबरी से मातृत्व, हनुमानजी और वनवासियों से प्रेम और प्रजा से विश्वास ही नहीं पाया बल्कि एक गिलहरी के महत्व को भी स्वीकार किया। अद्भुत व्यक्तित्व, वीरता, उदारता, आदर्शवाद के स्वामी श्री राम सदियों तक प्रेरित करते रहेंगे।

भारतवर्ष एक समृद्ध सांस्कृतिक विरासत वाला विविधताओं से परिपूर्ण देश है। यह विविधताएँ इसके मूल्यों में परिलक्षित होती हैं। भारतीय मूल्य धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मान्यताओं का मिश्रण है जो पीढ़ियों से चले आ रहे हैं। इन मूल्यों ने भारतीय समाज को आकार देने में मदद की है जिससे यह एक अनूठी और जीवंत संस्कृति बन गई है। भारतीय संस्कृति, उसके अतीत, उसकी आस्था, आदर्शों, दिव्यता और दर्शन में विराजमान हैं - राम। अनेकता में एकता के सूत्र हैं - राम। उनकी महिमा अनंत है, अपरिमित है, अथाह है। मानवता का उद्धार करने वाले राम को जाति, धर्म और काल में सीमित करना अज्ञानता है। संस्कृति के प्राण या आत्मा श्री राम को शब्दों में वर्णित व्याख्यायित करना सूर्य को दीपक दिखाने जैसा ही होगा।

संदर्भ :

1. सोबती, कृष्णा. (2018). *लेखक का जनतंत्र: कृष्णा सोबती से साक्षात्कार*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृ. 146.
2. लाल, कृष्ण. (1993). *वेद परिचय*. दिल्ली: हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, पृ. 171.
3. लाल, कृष्ण. (1993). *वेद परिचय*. दिल्ली: हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, पृ. 172.
4. तुलसीदास. *श्रीरामचरितमानस: अयोध्याकाण्ड*. गोरखपुर: गीता प्रेस, संकलन: डिस्कवरी पुस्तकालय, पृ. 234.
5. तुलसीदास. *श्रीरामचरितमानस: अयोध्याकाण्ड*. गोरखपुर: गीता प्रेस, संकलन: डिस्कवरी पुस्तकालय, पृ. 235.
6. तुलसीदास. *श्रीरामचरितमानस: सुंदरकाण्ड*. गोरखपुर: गीता प्रेस, संकलन: डिस्कवरी पुस्तकालय, पृ. 733.
7. तुलसीदास. *श्रीरामचरितमानस: उत्तरकाण्ड*. गोरखपुर: गीता प्रेस, संकलन: डिस्कवरी पुस्तकालय, सप्तम सोपान.

Received: 04.01.2026 | Accepted: 10.01.2026 | Published: 30.01.2026

Trailblazers of Women Empowerment in India

DR. ARTI KUMARI*
artinitya1985@gmail.com

Abstract

"Man is defined as a human being and woman as a female- Whenever she behaves as a human being, she is said to imitate the male."

No doubt basic unit of society is a woman. A woman is a full circle. Within her is the power to create, nurture and transform. But unfortunately, woman in this male dominating society finds herself living in a world where man compels her to assume the status of the other. But there are some trailblazing women who completely changed how we see and move through the world. This article is dedicated to those unheard women stories in India who has inspired future generations of women to continue to make a difference in their communities and beyond. It may be possible that their stories may not have reached to too many lives, but it remains especially for women to be inspired by. They are Savitribai Phule, Dr. Rukhmabai and Sudha Murthy.

Keywords

Women Empowerment, Trailblazer, Education, Society

"A wife should always be few feet behind her husband and if he is an M.A you should be a B.A. If he is 5 feet 4 inch tall you shouldn't be more than 5 feet 3inch tall. If he is earning five hundred rupees you should never earn more than four hundred and ninety-nine rupees. That's the rule……"

Although women are an important part of society, throughout history they have been suppressed, marginalized, and even abused. However, it is women who have ensured the stability, progress and long-term development of the world. They make the world a better place to live to their power, determination and belief whether as homemakers, engineers, teachers, doctors e.t.c.

"Savitribai Phule's feminism shook rocks and empowered women when women were not allowed to leave their houses. This is the day of Resistance."

Education is a foundation stone for the empowerment of women and is the dominant tool to change women's position in the world. Women education in India has been a necessity for years and now has become the supreme need of the hour. Women empowerment has always been in news and will continue to be. Much has been discussed, debated and written about 'womenissues'. Notwithstanding the plethora of showcasing of the plights of women and their state of existence in the global society, we are to witness a phenomenal success. However, the positive changes that took

* **Assistant Professor, Department of Sahitya, Brajbhushan Sanskrit College, Gaya Ji**

place from the ancient age to modern age are impressive but not certainly not enough. It seems impossible without the courageous contributions of women like Savitribai Phule, Dr. Rakhmabai, Sudha Murthy and many more.

Women's education is crucial for empowerment and empowered women are the success maker of a country's advancement. Savitribai Phule was a trailblazer in providing education for girls and for ostracized portions of society. Women of the Indian society may not be aware of the greatness of Savitribai Phule, who dared to pursue the noble profession of teaching in the 'Dark Age'. The time when women were mere objects-to-be-used, education for women was considered no less than a punishable crime; she dared to speak against the unpardonable boundaries imposed on women in Indian society, she ignited millions lives, for which today's women and everyone should be grateful to her .She became the first female teacher in India (1848) and opened a school for girls with her husband, Jyotirao Phule. Her life is heralded as a beacon of women's rights in India. She is often referred to as the *'mother of Indian feminism'*. and Jyotirao established an education society that opened more schools for girls and women from all classes, in surrounding villages. Sympathizing with the plight of widows in India, Savitribai opened a shelter for them in 1854. After years of continuous reform, she paved the way to build a long shelter in 1864 for destitute women, widows and child brides cast aside by their families. She educated them all. In 1873, Savitribai started the practice of "Satyashodhak Marriage", where couples took an oath of education a d equality. Her life and work is a testament of social reform and female empowerment in Indian society. She remains an inspiration for many women rights' activists in modern times. In addition to her efforts as a social reformer, Savitribai Phule was a skilled poet. She published *Kavya Phule* in 1854 and *Bavan Kashi Subodh Ratnakar* in 1892, along with a notable poem titled "*Go, Get Education."* Her work in poetry reflected her commitment to education and empowerment. One of her famous quotes captures her belief in the importance of education: "**A Woman without education is like a banyan tree without roots or leaves."**

Dr. Rukhmabai's hard work and determination is testament of her remarkable strength and resilience. She was a pioneer in the field of medicine and women's rights in the19th century. Her efforts to be granted the right to choose was instrumental in raising the age of consent for women in 1891. She went on to study in the London school of Medicine for women in a hospital in 1894, she became India's first practicing lady doctor. Rukhmabai Bhikaji was born to Jayantibai and Janardhan on November 22, 1864. Owing to social norms that existed at that time, Rukhhmabai got married at 11- years of age to the 19- year old Dadaji Bhikaji. As was convention at the time, she stayed at her parents house, this was the time she spent in educating herself under the guidance of her stepfather. When she was still in school, her husband insisted that Rukhmabai come and live with him in his house. She, not one to blindly follow convention, refused. Dadaji soon filed a petition in the court of law. Early in 1884, one of India's most influential and publicized trials began. After her refusal to stay with her husband, the court gave her two options- to either comply or face imprisonment. Rukhmabai told the court that she would rather go to jail than live with her husband. The case sparkled debates on the age of consent for marriage when Rakhmabai refused to obey. The case spanned 4 years until Dadaji was "compensated" in 1888, outside of court. The case was instrumental in the drafting of the Age of Consent Act in 1891.

In the months leading up to the trial, Rukhmabai began writing letters to The Times of India under the pseudonym, '*A Hindu Lady'.* The first letter was published on 26th June, 1884 and it questioned the status of Hindu women in society.

"This wicked practice of child marriage has destroyed the happiness of my life. It comes between me and the things which I prize above all others – study and mental civilization. Without the least fault of mine I am doomed to seclusion; every aspiration of mine to rise above my ignorant sisters is looked down upon with suspicion and is interpreted in the most uncharitable manner."

Under the guidance and support of Edith Pechey Phipson, the British director of the Cama Hospital in Bombay, she went to England to study in the London School of Medicine for women in 1889.During the course of her education, she travelled to Glasgow, Brussels, and Edinburgh and obtained qualifications before graduating in 1894. After her graduation, she returned to India in 1894. She first practiced medicine in Bombay marking her historical milestone of becoming India's first practicing lady doctor. She then went to Surat and between 1918 and 1930, she worked as the Chief Medical Officer at Rajkot's Zenana State hospital. This marked the beginning of an illustrious career in medicine . Apart from breaking the glass ceiling in the field of medicine, she became a major force against child marriage and other social evils in India. Rukhmabai's contributions in the areas of medicine and social justice formed the foundation of the subsequent Indian feminist movements.

Sudha Murthy, a name not unknown to all is no doubt a living inspiration to many, with the multiple roles she has over the years of an engineer, author, philanthropist, homemaker and many more. It appeared in most pictures that ladies who carry dark attire, wacky haircut, tattoos and pull off insane tricks are boss, yet do they realize that a lady wearing a straightforward cotton dhoti can be an all-out boss, in the real world where we normal people live? Mother Teresa was one of those ladies. Furthermore, Padma Shri Sudha Murthy is one more name that goes on that rundown. She is a person who has marked her presence by doing the extreme works in that era or that period where in women, in general, were neither given any support nor were appreciated to work and study. Life is not always easy to her. She has faced various societal oppositions in life for challenging the male dominance in spheres of education and employment but she always fought and stood up for what was right.

"Out of 600 students at her engineering college, she was the only girl. Out of hundreds of, engineers at TELCO, she was the only female engineer."

She has always been vocal about women's rights and gender equality, most of her books portray woman in the glory of her simplicity and strength. A woman plays numerous roles throughout her life, while facing the challenges posed by society. Women empowerment does not look at roles like wife, daughter, sister or mother and depends on economic development, education and strategies applied. The key underlying concepts that relate to women empowerment are:1.Choices; 2. Control; 3.Power. Choices like pursuing education, participating in community activity, associating with organizations, volunteering services, expressing ideas not boosts self-esteem; but provides access to the knowledge resources encouraging to carve her authentic self; she may reach to the top level run with knowledge dissemination and thereby controls the process of decision making in home affairs, career and its progress, financial matters, freedom of expression, mobility, and thereby achieve

power over tangible and intangible frames. In a way all this helps to minimize the negative portrayal of woman as timid, beauty-conscious, ornament-lovers, an epitome of motherhood, an epitome of divinity, goddess of home. The positive portrayal of a woman with all her positive and negative attributes provide a better life in parents'/ in-laws home and in community. She has to be treated naturally and with a sense of recognition.

Sudha Murthy in her short stories 'How I Taught My Grandmother to Read' and 'The Real Jewels' depict the state of women education in the olden days, the value of education in general and how when a woman understands the significance of education it not only benefits her but also the society.

Women empowerment refers to giving power to women, which technically means to provide each women with opportunities to flourish financially, academically, and socially. Gender inequality refers to discrimination on the basis of gender which leads to unequal access to rights, stereotyped social and cultural roles.

In short story 'Appro J.R.D' Sudha Murthy talks about her very first experience of gender discrimination. When she came across a job requirement notice from TELCO. It stated that the company required young, bright engineers, hard working with excellent academic background etc. At the bottom there was a small line: 'Lady candidates need not apply.' Sudha decided to voice against this discrimination and in anger wrote a postcard to JRD Tata which led to an interview call at TELCO Pune. During the interview the interviewer asked Sudha,

Do you know why we said that lady candidates need not apply?

The reason is that this day we have not employed any ladies on the shop floor of the factory. This is an automobile industry. Trainees may have to work in shifts…. All our plants have men and machinery. Our trainees may have to drive. We have a trainee's hostel and a guest house for them. If a lady enters, then how we can accommodate her? We do not know how men on the shop floor will accept her. How will she come for shifts? We care for our employees, particularly if she is lady. It is not a college where there is no gender difference. This is a factory. To which she answered,

"But somewhere you must start. Otherwise, a lady will never be able to work in the factories. You are pioneers in many aspects of life. When I look at your industries, you are far ahead of other people. If you think this way, then how will any lady enter this so-called man's domain?

Finally Sudha Murthy successfully secured a job at TELCO and became the first girl to work in TELCO shopfloor. This opportunity given to her by JRD Tata changed her life. She remarks,

'Today, in any engineering college I see that forty to fifty percent of students are girls. On the shop floor of many mechanical industries, we see so many ladies working.'

Personalities like , Sudha Murthy, Padma Shri awardee, chairperson of Infosys Foundation, an active member of public health care initiatives of the Gates Foundation and of course a benevolent , humble, and intelligent human being, has covered a long journey from a small town of Karnataka to first – ever women engineer refused to stay on the side lines and has become inspiration to believe in dreams and working hard towards achieving them. Women, she believes, should not be afraid to express themselves. She would not have been given a special interview if she had not decided to

speak up against gender bias in the recruitment process. The result of her honesty and fearlessness in sharing her thought as the first woman engineer in the country. She is an excellent figure to learn and in true sense trailblazer of women empowerment.

Conclusion

Rising above social convention they stood up for their rights with decisive action and inspire future generations of women to continue to make a difference in their communities and beyond.

"It has been a great privilege to break some of the taboos and glass ceilings surrounding gender."

Savitribai Phule, Rukhamabai, Sudha Murthy are an excellent figure to learn. They through their determinations and guts has opened the gate for millions of women to empower themselves and realize their potentials.

References:

Chandra, S. (1996). Rukhmabai: Debate over woman's right to her person. *Economic and Political Weekly*, 31, 2937–2947.

Chandra, S. (Ed.). (2008). *Enslaved daughters: Colonialism, law and women's rights*. New Delhi: Oxford University Press.

Daily Telegraph. (1887, July 15). Rukhmabai's testimony to the Government of India.

Deshpande, S. (1980). *The dark holds no terrors*. New Delhi: Penguin Books. p. 137.

Indian Kanoon. (1885, September 21). *Dadaji Bhikaji vs Rukhmabai*. Retrieved from https://indiankanoon.org

MeMumbai. (2021, November 22). *Rukhmabai: First practicing woman doctor*. Retrieved from https://memumbai.com/rukhmabai-first-practicing-woman-doctor/

Murthy, S. (2007). *Mahashweta*. New Delhi: Penguin Books.

Murthy, V. (2015, August 19). Infosys founder Narayana Murthy's wife Sudha Murthy. *Comedy Flavours*. Retrieved from https://www.comedyflavours.com/Infosys-founder-narayan-murthys-wife-sudha-murthy/

Jagran English. (2023). Savitribai Phule death anniversary 2023: 10 inspiring quotes by India's first woman teacher. Retrieved from https://english.jagran.com

Received: 05.01.2026 | Accepted: 10.01.2026 | Published: 30.01.2026

भारतीय ज्ञान प्रणाली में गुरुकुल परंपरा: एक दार्शनिक एवं व्यावहारिक विश्लेषण

साकेत तिवारी*

saket.tiwari7214@gmail.com

सारांश

प्रस्तुत शोध में भारतीय ज्ञान प्रणाली के अंतर्गत गुरुकुल परंपरा का दार्शनिक तथा व्यावहारिक विश्लेषण किया गया है। भारतीय शिक्षा परंपरा का मूल उद्देश्य केवल व्यावसायिक कौशल प्रदान करना नहीं, बल्कि व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास करना रहा है। गुरुकुल प्रणाली में गुरु-शिष्य संबंध, ब्रह्मचर्य, सेवा, तप और प्रकृति-सानिध्य जैसे तत्वों के माध्यम से समग्र व्यक्तित्व निर्माण पर बल दिया गया।

अध्ययन में गुरुकुल शिक्षा के प्रमुख स्तंभ—आचार्य, अन्तेवासी और ब्रह्मचर्य—की भूमिका, पाठ्यक्रम संरचना तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन आधारित शिक्षण पद्धति का विवेचन किया गया है। शोध यह स्पष्ट करता है कि प्राचीन गुरुकुल प्रणाली समानता, अनुशासन, आत्मसंयम और सामाजिक समरसता को बढ़ावा देती थी तथा विद्यार्थियों के नैतिक और मनोवैज्ञानिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थी।

वर्तमान संदर्भ में, राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के आलोक में गुरुकुल परंपरा के मूल्यों का आधुनिक शिक्षा प्रणाली के साथ समन्वय अत्यंत आवश्यक है। अध्ययन का निष्कर्ष है कि गुरुकुल के शाश्वत सिद्धांतों को आधुनिक विज्ञान और तकनीक के साथ समाहित कर एक संतुलित और मानव-केंद्रित शिक्षा मॉडल विकसित किया जा सकता है, जो भविष्य की पीढ़ी को संवेदनशील, अनुशासित और उत्तरदायी नागरिक बनाने में सहायक होगा।

मुख्य शब्द

भारतीय ज्ञान प्रणाली, गुरुकुल परंपरा, गुरु-शिष्य संबंध, ब्रह्मचर्य, श्रवण-मनन-निदिध्यासन, सर्वांगीण विकास, राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020, संस्कारपरक शिक्षा, प्रकृति-सानिध्य, शिक्षा दर्शन

भूमिका :-

भारतीय ज्ञान प्रणाली विश्व की प्राचीनतम और अत्यंत समृद्ध ज्ञान परंपराओं में से एक है। यह केवल सूचनाओं का संग्रह नहीं, बल्कि जीवन की पूर्णता, सत्य की खोज और मानवता के कल्याण का एक मार्ग है। इस प्रणाली का मूल मंत्र रहा है— **"सा विद्या या विमुक्तये"** अर्थात् विद्या वही है जो मनुष्य को अज्ञान, संकीर्णता और बंधनों से मुक्त करे। प्राचीन भारत में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य केवल जीविकोपार्जन नहीं, बल्कि व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उत्थान था। यह केवल सूचनाओं का संकलन नहीं, बल्कि हज़ारों वर्षों के अनुभव, प्रयोग और आत्मसाक्षात्कार का परिणाम है। इस प्रणाली की व्यापकता का अंदाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि इसमें अध्यात्म और दर्शन के साथ-साथ विज्ञान, गणित, खगोलशास्त्र, चिकित्सा, धातु विज्ञान और व्याकरण जैसे विषयों का भी अद्भुत समन्वय मिलता है। इस प्रणाली की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:-

सर्वांगीण विकास :- आधुनिक शिक्षा प्रणाली जहाँ अक्सर केवल बौद्धिक विकास और कौशल पर केंद्रित होती है, वहीं भारतीय ज्ञान प्रणाली 'पंचकोश' (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय कोष) के विकास पर बल देती है। इसका उद्देश्य व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक रूप से पूर्ण बनाना है।

ज्ञान का परम लक्ष्य:- मुक्ति भारतीय मनीषा का मानना रहा है कि वास्तविक ज्ञान वह है जो मनुष्य को अज्ञानता के

* **स्वतंत्र शोधकर्ता, गाँव- तिलैयाटांड, पोस्टल- चंदवा, जिला- लातेहार (झारखंड)**

अंधकार और सांसारिक बंधनों से मुक्त करे। इसीलिए **"सा विद्या या विमुक्तये"** के सूत्र को शिक्षा का आधार माना गया। यहाँ 'मुक्ति' का अर्थ केवल आध्यात्मिक मोक्ष नहीं, बल्कि संकीर्ण विचारों, पूर्वाग्रहों और स्वार्थ से मुक्ति भी है।

प्रकृति के साथ तादात्म्य:- भारतीय ज्ञान परंपरा में मनुष्य को प्रकृति का स्वामी नहीं, बल्कि उसका एक अटूट हिस्सा माना गया है। यही कारण है कि प्राचीन काल में शिक्षा के केंद्र (गुरुकुल) नगरों के कोलाहल से दूर वनों और नदियों के तट पर स्थित होते थे, ताकि विद्यार्थी प्रकृति के साथ सामंजस्य बिठाकर जीवन के सत्यों को समझ सके।

मौखिक परंपरा और श्रुति:-स्मृति: भारतीय ज्ञान के संरक्षण की विधि अद्वितीय रही है। वेदों और उपनिषदों के ज्ञान को 'श्रुति' (सुनकर प्राप्त किया गया) कहा गया। लेखन कला के विकसित होने से बहुत पहले ही, भारतीय ऋषियों ने छन्द और स्वर विज्ञान (Phonetics) के माध्यम से विशाल ज्ञान राशि को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक बिना किसी त्रुटि के पहुँचाने की पद्धति विकसित कर ली थी।

सत्य की बहुआयामी खोज:- 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' (सत्य एक है, विद्वान उसे अलग-अलग तरीके से कहते हैं) का सिद्धांत भारतीय ज्ञान प्रणाली की उदारता को दर्शाता है। यहाँ तर्क और वाद-विवाद की पूरी स्वतंत्रता थी, जिससे संशय का निवारण और ज्ञान का परिमार्जन होता था।

गुरुकुल परंपरा का शाब्दिक एवं दार्शनिक अर्थ:-

गुरुकुल शब्द का अर्थ केवल एक शिक्षण संस्थान मात्र नहीं है, बल्कि यह 'गुरु' और 'कुल' के संयोग से बनी एक ऐसी सूक्ष्म दार्शनिक और सामाजिक संरचना का प्रतीक है जहाँ 'गुरु' अज्ञान रूपी अंधकार का निवारण करने वाली चेतना के रूप में विद्यमान होते हैं और 'कुल' उस विस्तारित परिवार या वंश को दर्शाता है जिसमें ज्ञान का हस्तांतरण रक्त संबंधों के बजाय वैचारिक और आध्यात्मिक संबंधों के आधार पर किया जाता है। प्राचीन भारतीय मनीषा में शिक्षा को एक 'द्वितीय जन्म' या संस्कार के रूप में देखा गया है, जिसमें उपनयन संस्कार के पश्चात शिष्य अपने जैविक परिवार का त्याग कर गुरु के सानिध्य में एक 'अन्तेवासी' के रूप में निवास करता था, जिसका दार्शनिक अभिप्राय गुरु के हृदय के समीप रहकर उनके आचरण, जीवनशैली और सूक्ष्म ऊर्जा से निरंतर सीखना होता था। इस परंपरा का मूल आधार 'तप' और 'ब्रह्मचर्य' रहा है, जहाँ विद्यार्थी प्रकृति के सानिध्य में रहकर भौतिक विलासिता का त्याग कर आत्म-अनुशासन सीखता था और गुरु की सेवा, समिधा संचयन तथा गौ-सेवा जैसे कार्यों के माध्यम से अपने अहंकार का विसर्जन करता था, क्योंकि उपनिषदों के अनुसार वास्तविक 'परा-विद्या' की प्राप्ति तभी संभव है जब शिष्य पूर्ण विनम्रता और समिधा-पाणि होकर ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाए। अतः गुरुकुल परंपरा का दर्शन यह स्पष्ट करता है कि ज्ञान केवल पुस्तकों के रटने से नहीं बल्कि गुरु-शिष्य के अटूट विश्वास, समर्पण और सामूहिक जीवन जीने की कला से प्राप्त होता है, जो छात्र के व्यक्तित्व को मानसिक, शारीरिक और आध्यात्मिक रूप से पूर्णता प्रदान करता है।

शोध का औचित्य एवं पृष्ठभूमि:-

वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में जहाँ आधुनिक शिक्षा प्रणाली ने सूचनाओं के तीव्र प्रसार और तकनीकी कौशल में अभूतपूर्व प्रगति की है, वहीं दूसरी ओर विद्यार्थियों में बढ़ता मानसिक तनाव, नैतिक मूल्यों का निरंतर ह्रास और प्रकृति से बढ़ती दूरी एक गंभीर चुनौती बनकर उभरी है, जिसके कारण प्राचीन भारतीय गुरुकुल परंपरा का पुनरावलोकन और उस पर शोध करना आज के समय की अनिवार्य आवश्यकता बन गया है। आज की व्यावसायिक शिक्षा प्रणाली जहाँ व्यक्ति को केवल एक 'कुशल श्रमिक' या 'आर्थिक इकाई' बनाने तक सीमित रह गई है, वहीं गुरुकुल की पृष्ठभूमि हमें एक ऐसी समग्र जीवन पद्धति का स्मरण कराती है जिसमें बौद्धिक विकास के साथ-साथ चरित्र निर्माण और इंद्रिय निग्रह को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाती थी। इस शोध का मुख्य औचित्य यह सिद्ध करना है कि मैकाले द्वारा थोपी गई शिक्षा नीति ने भारतीय मानस को अपनी जड़ों से काटकर जिस हीन भावना और रटने वाली प्रवृत्ति को जन्म दिया, उसका समाधान केवल 'भारतीय ज्ञान प्रणाली' (IKS) के उन शाश्वत सिद्धांतों में निहित है जो छात्र को तनावमुक्त वातावरण में 'स्व-अध्ययन' और 'अनुभवजन्य ज्ञान' के लिए प्रेरित करते हैं। अतः राष्ट्रीय शिक्षा नीति (NEP 2020) के संदर्भ में यह शोध न केवल अतीत के गौरवगान के लिए आवश्यक है, बल्कि यह एक ऐसे भविष्य की रूपरेखा तैयार करने के लिए भी प्रासंगिक है जहाँ आधुनिक विज्ञान की प्रगति और प्राचीन गुरुकुल की संस्कारपरक शिक्षण विधि का अद्भुत समन्वय हो सके, जिससे समाज को न केवल प्रतिभाशाली मस्तिष्क बल्कि संवेदनशील और अनुशासित नागरिक भी प्राप्त हो सकें।

शोध के प्रमुख उद्देश्य :-

प्रस्तुत शोध का प्राथमिक उद्देश्य भारतीय ज्ञान प्रणाली के अंतर्गत गुरुकुल परंपरा के उन मूलभूत सिद्धांतों और कार्यप्रणालियों का सूक्ष्म विश्लेषण करना है जो प्राचीन भारत को 'विश्व गुरु' के पद पर प्रतिष्ठित करने के आधार रहे हैं। यह शोध इस लक्ष्य की ओर अग्रसर है कि किस प्रकार प्राचीन शिक्षण विधियाँ, जैसे श्रवण, मनन और निदिध्यासन, विद्यार्थी की एकाग्रता और तार्किक क्षमता को आधुनिक शिक्षण पद्धतियों की तुलना में अधिक वैज्ञानिक ढंग से विकसित करती थीं। इसके साथ ही, शोध का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य गुरु-शिष्य संबंध के उस आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक पक्ष को रेखांकित करना है, जहाँ शिक्षा केवल कक्षा के भीतर सीमित न रहकर एक निरंतर चलने वाली जीवन प्रक्रिया बन जाती थी। यह अध्ययन इस तथ्य की भी पड़ताल करेगा कि गुरुकुल में प्रचलित 'निशुल्क शिक्षा' और 'समानता के सिद्धांत' ने समाज के अंतिम व्यक्ति तक ज्ञान की पहुँच कैसे सुनिश्चित की और आज के व्यावसायिक शिक्षा युग में उन मूल्यों को किस रूप में पुनर्जीवित किया जा सकता है। अंततः, इस शोध का ध्येय राष्ट्रीय शिक्षा नीति के उद्देश्यों के अनुरूप एक ऐसा वैचारिक ढांचा प्रस्तुत करना है जो आधुनिक तकनीक और वैज्ञानिक प्रगति को गुरुकुल की संस्कारपरक और प्रकृति-केंद्रित जीवनशैली के साथ समन्वित कर सके, ताकि आने वाली पीढ़ियों को एक सर्वांगीण और संतुलित शिक्षा प्रदान की जा सके।

गुरुकुल शिक्षा के प्रमुख स्तंभ:-

प्राचीन भारतीय गुरुकुल प्रणाली की सुदृढ़ संरचना मुख्य रूप से आचार्य, अन्तेवासी और ब्रह्मचर्य जैसे अनिवार्य स्तंभों पर टिकी हुई थी, जो मिलकर एक पूर्ण शैक्षिक पारिस्थितिकी तंत्र का निर्माण करते थे। इसमें 'आचार्य' की भूमिका केवल एक सूचना प्रदाता शिक्षक की न होकर एक आध्यात्मिक पिता और मार्गदर्शक की होती थी, जिसका स्वयं का जीवन ही शिष्य के लिए सबसे बड़ा पाठ्यक्रम होता था; आचार्य वही कहलाता था जो शास्त्रों के गूढ़ अर्थों को स्वयं के आचरण में उतारता हो (आचिनोति च शास्त्रार्थम् आचारे स्थापयत्यपि)। इस त्रिकोण का दूसरा महत्वपूर्ण बिंदु 'अन्तेवासी' अर्थात् शिष्य था, जिसे गुरु के कुल का सदस्य माना जाता था और जिसका मुख्य धर्म पूर्ण श्रद्धा, जिज्ञासा और सेवा भाव के साथ ज्ञान अर्जित करना था, जहाँ वह गुरु के समीप रहकर न केवल विद्या बल्कि जीवन की विषम परिस्थितियों से लड़ने का कौशल भी सीखता था। इन दोनों के मध्य सेतु का कार्य 'ब्रह्मचर्य' करता था, जो केवल शारीरिक संयम तक सीमित नहीं था, बल्कि वह मानसिक एकाग्रता, सात्विक जीवन और ऊर्जा के ऊर्ध्वगमन की एक साधना थी, जिसके माध्यम से विद्यार्थी अपने व्यक्तित्व को इतना प्रखर बना लेता था कि वह कठिनतम विषयों को भी सुगमता से आत्मसात कर सके। गुरुकुल के ये स्तंभ यह सुनिश्चित करते थे कि शिक्षा का आदान-प्रदान किसी आर्थिक विनिमय का हिस्सा न होकर एक पवित्र तपस्या बने, जिसमें गुरु का अनुभव और शिष्य का समर्पण मिलकर एक ऐसे प्रबुद्ध समाज की रचना करें जहाँ ज्ञान का उपयोग केवल स्वार्थ सिद्धि के लिए नहीं, बल्कि संपूर्ण मानवता के कल्याण और 'ऋण-मुक्ति' के लिए किया जाए।

पाठ्यक्रम और शिक्षण पद्धति:-

प्राचीन गुरुकुलों की शिक्षण पद्धति और पाठ्यक्रम अत्यंत वैज्ञानिक एवं संतुलित थे, जिसका मुख्य आधार 'परा' और 'अपरा' विद्या का समन्वय था। 'परा विद्या' जहाँ आत्मज्ञान, दर्शन और आध्यात्मिकता के माध्यम से मनुष्य को परम सत्य और मोक्ष की ओर ले जाती थी, वहीं 'अपरा विद्या' के अंतर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद के साथ-साथ व्याकरण (निरुक्त), ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, धनुर्वेद (सैन्य विज्ञान) और गंधर्ववेद (संगीत व कला) जैसे व्यावहारिक विषयों का गहन अध्ययन कराया जाता था। शिक्षण की प्रक्रिया केवल व्याख्यान तक सीमित नहीं थी, बल्कि यह 'श्रवण' (ध्यानपूर्वक सुनना), 'मनन' (सुने हुए ज्ञान पर चिंतन-तर्क करना) और 'निदिध्यासन' (चिंतन किए हुए सत्य को निरंतर अभ्यास द्वारा जीवन में उतारना) की त्रि-स्तरीय पद्धति पर आधारित थी, जिससे ज्ञान स्मृति से हटकर छात्र के अनुभव का हिस्सा बन जाता था। गुरु छात्रों की व्यक्तिगत रुचि और योग्यता (पात्रता) को ध्यान में रखते हुए उन्हें विशिष्ट विषयों में पारंगत करते थे, जहाँ प्रश्न पूछने की पूर्ण स्वतंत्रता थी और जटिल दार्शनिक गुत्थियों को 'शास्त्रार्थ' के माध्यम से सुलझाया जाता था। प्रकृति की गोद में होने वाली यह शिक्षा पद्धति रटने की प्रवृत्ति को हतोत्साहित कर 'प्रतिभा' और 'प्रज्ञा' को जाग्रत करती थी, जिसमें विद्यार्थी को व्यावहारिक कार्यों जैसे यज्ञ-समिधा एकत्र करना, कृषि और गौ-पालन के माध्यम से श्रम की महत्ता और पारिस्थितिक संतुलन का प्रायोगिक ज्ञान स्वतः ही प्राप्त हो जाता था। इस प्रकार, गुरुकुल का पाठ्यक्रम मनुष्य को एक ओर जहाँ ब्रह्मांड के रहस्यों को समझने के योग्य बनाता था, वहीं दूसरी ओर उसे समाज और

राष्ट्र के प्रति उसके उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए पूरी तरह सक्षम एवं आत्मनिर्भर बनाकर भी तैयार करता था।

सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव:-

गुरुकुल परंपरा का सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव अत्यंत गहरा और दूरगामी था, जिसका सबसे उज्ज्वल पक्ष शिक्षा में पूर्ण 'समानता' का सिद्धांत था। गुरुकुल की चारदीवारी के भीतर सामाजिक ऊंच-नीच, जातिगत भेदभाव या आर्थिक संपन्नता का कोई स्थान नहीं था; यहाँ एक चक्रवर्ती सम्राट का पुत्र और एक अत्यंत निर्धन परिवार का बालक दोनों एक ही प्रकार के साधारण वस्त्र धारण करते थे, एक जैसा सात्विक भोजन ग्रहण करते थे और एक साथ भूमि पर शयन करते थे, जो उनके भीतर से अहंकार को मिटाकर 'समानुभूति' और 'भ्रातृत्व' के भाव को जाग्रत करता था। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह पद्धति छात्र के चरित्र निर्माण में मील का पत्थर सिद्ध होती थी, क्योंकि प्रकृति के शांत वातावरण में गुरु के प्रत्यक्ष सानिध्य में रहने से छात्र के मानस पर सकारात्मक संस्कार अंकित होते थे, जो उसे मानसिक रूप से सुदृढ़, धैर्यवान और अनुशासित बनाते थे। यहाँ दी जाने वाली शिक्षा केवल बौद्धिक विकास तक सीमित न रहकर छात्र के संवेगात्मक और नैतिक पक्ष को भी पुष्ट करती थी, जहाँ 'सेवा' और 'त्याग' के मूल्यों को रटाया नहीं बल्कि सामूहिक जीवन के माध्यम से जीया जाता था। इस प्रकार, गुरुकुल एक ऐसी संस्कारशाला थी जो समाज को केवल विद्वान ही नहीं, बल्कि एक स्थिर प्रज्ञा वाला ऐसा चरित्रवान नेतृत्व प्रदान करती थी, जिसके लिए राष्ट्र और धर्म का हित व्यक्तिगत सुखों से ऊपर होता था, और यही कारण है कि इस पद्धति से निकले छात्र समाज में उत्तरदायित्वों का निर्वहन अत्यंत गरिमा और कुशलता के साथ करते थे।

निष्कर्ष और वर्तमान प्रासंगिकता:-

निष्कर्षतः, भारतीय ज्ञान प्रणाली की गुरुकुल परंपरा केवल एक प्राचीन शिक्षण पद्धति मात्र नहीं है, बल्कि यह एक कालातीत दर्शन है जो मनुष्य के समग्र उत्थान का मार्ग प्रशस्त करता है। आज के इस डिजिटल और अत्यधिक प्रतिस्पर्धी युग में, जहाँ आधुनिक शिक्षा ने तकनीकी कौशल तो प्रदान किया है परंतु मानसिक शांति और नैतिक मूल्यों के मोर्चे पर एक बड़ा शून्य भी पैदा किया है, वहाँ गुरुकुल के 'स्व-अनुशासन', 'प्रकृति-सानिध्य' और 'चरित्र-निर्माण' जैसे सूत्र अत्यंत अपरिहार्य हो जाते हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति (NEP 2020) के वर्तमान संदर्भ में, गुरुकुल पद्धति की प्रासंगिकता और भी बढ़ जाती है क्योंकि यह हमें सिखाती है कि वास्तविक शिक्षा का लक्ष्य केवल जीविकोपार्जन नहीं बल्कि व्यक्ति का पूर्ण रूपांतरण होना चाहिए। हमें आज पूर्णतः अतीत में लौटने की आवश्यकता नहीं है, अपितु आवश्यकता इस बात की है कि हम प्राचीन गुरुकुल के उन शाश्वत मूल्यों—जैसे गुरु-शिष्य का जीवंत संबंध, सादा जीवन और प्रयोगात्मक अधिगम—को आधुनिक विज्ञान और तकनीक के साथ समन्वित करें। इस प्रकार का एक संतुलित शैक्षिक मॉडल न केवल विद्यार्थियों को अकादमिक रूप से श्रेष्ठ बनाएगा, बल्कि उन्हें एक संवेदनशील, प्रकृति-प्रेमी और उत्तरदायी नागरिक के रूप में भी विकसित करेगा, जो वैश्विक शांति और सतत विकास के लिए अनिवार्य है। यही समन्वय भारत को पुनः 'ज्ञान आधारित वैश्विक शक्ति' के रूप में स्थापित करने का एकमात्र वास्तविक मार्ग है।

संदर्भ :-

भारत सरकार. (2020). *राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020*. नई दिल्ली: शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार.

भारत सरकार. (1949). *विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (राधाकृष्णन आयोग) की रिपोर्ट (1948–1949)*. नई दिल्ली: शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार.

कौटिल्य. (1915). *अर्थशास्त्र* (आर. श्यामशास्त्री, अनुवादक). बैंगलोर: गवर्नमेंट प्रेस.

ब्यूहलर, जी. (1886). *मनुस्मृति (द लॉज़ ऑफ़ मनु)*. ऑक्सफोर्ड: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

म्यूलर, मैक्स. (1879). *उपनिषद* (सेक्रेड बुक्स ऑफ़ द ईस्ट, खंड 1–2). ऑक्सफोर्ड: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

म्यूलर, मैक्स. (1890). *ऋग्वेद* (सेक्रेड बुक्स ऑफ़ द ईस्ट, खंड 1–6). ऑक्सफोर्ड: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

व्हिटनी, डब्ल्यू. डी. (1905). *अथर्ववेद संहिता*. कैम्ब्रिज, अमेरिका: हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

विवेकानंद, स्वामी. (1989). *स्वामी विवेकानंद रचनावली (संपूर्ण कृतियाँ)* (खंड 1–8). कोलकाता: अद्वैत आश्रम.

Received: 05.01.2026 | Accepted: 10.01.2026 | Published: 30.01.2026

भारत के संविधान निर्माण में बिहारियों की भूमिका

अमित कुमार मिश्र*

amitkumar9871021436@gmail.com

शोध सार :-

भारत एक लोकतांत्रिक देश है और लोकतंत्र की विशेषता यह है कि जनता अपने मनोनुकूल शासन-विधान की व्यवस्था कर सकती है। पूर्ण प्रभुता सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक राष्ट्रों में जहाँ भी लिखित संविधान है उनका निर्माण जनता ने प्रायः संविधान सभा के माध्यम से किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से संविधान सभा का विचार पश्चिम में हुई रिपब्लिक क्रांतियों की उपज है। के.सी. ह्वेयर का कथन है "यदि हम आधुनिक संविधान की उत्पत्ति के विषय में खोज करें तो हमें पता चलेगा कि बिना किसी अपवाद के लगभग सभी संविधान इसी कारण निर्मित एवं स्वीकृत हुए कि लोग एक बिल्कुल नए प्रकार की शासन प्रणाली आरंभ करना चाहते थे।

***कूट शब्द** :*

लोकतंत्र, क्रांति, अधिनियम, संविधान, परिषद, मजहब, संस्कृति, सम्प्रभुता, गणराज्य, सार्वभौमिक

प्रस्तावना :-

भारतीय संविधान-सभा भारत के लोगों की आकांक्षाओं और राष्ट्रीय आन्दोलनों की इस माँग का चरम बिन्दु थी कि भारत के संविधान का निर्माण ब्रिटिश संसद या ब्रिटिश सरकार न करें वरन् भारतीय जनता के चुने हुए प्रतिनिधि करें। ब्रिटिश सरकार ने 1858 ई. में वचन दिया था कि देश के प्रशासन में भारतीयों को सम्मिलित किया जाएगा। भारतीय कौंसिल अधिनियम 1909 तथा मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड अधिनियम 1919 से भारतीय आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं हुई। जब भारत शासन अधिनियम 1935 को ब्रिटिश संसद द्वारा अन्तिम रूप दिया जा रहा था तब काँग्रेस ने संविधान सभा की माँग को विधिवत प्रस्तुत किया। परन्तु इस अधिनियम से काँग्रेस संतुष्ट नहीं हुई। 1942 ई. की क्रिप्स योजना के द्वारा ब्रिटेन ने स्पष्टतया स्वीकार किया कि भारत में एक निर्वाचित संविधान सभा का गठन होगा, जो युद्ध के बाद भारत के लिये संविधान तैयार करेगी। 1946 ई. की कैबिनेट मिशन योजना में भारतीय संविधान सभा के प्रस्ताव को स्वीकार कर इसे व्यवहारिक रूप प्रदान किया गया।

मार्च 1946 ई. में भेजी गई कैबिनेट मिशन ने प्रांतीय विधान मंडलों द्वारा सदस्यों के निर्वाचन, सांप्रदायिक आधार पर सीटों का बटवारा एवं 10 लाख की जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि का फार्मूला दिया। संविधान सभा के कुल सदस्यों की संख्या 389 निश्चित की गई थी, जिनमें 292 ब्रिटिश प्रांतों के प्रतिनिधि, 4 चीफ कमिश्नर क्षेत्रों के प्रतिनिधि एवं 93 देशी रियासतों के प्रतिनिधि थे। देश विभाजन एवं कई रियासतों के भाग न लेने के कारण भारतीय संविधान सभा के सदस्यों की संख्या 299 रह गई थी। यद्यपि संविधान सभा का चुनाव भारत के वयस्क मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नहीं हुआ था तथापि इसमें प्रत्येक समुदाय के प्रतिनिधियों को जगह मिली थी। इसमें महिलाऐं भी शामिल थी। महात्मा गाँधी के अपवाद को छोड़ दें तो सभा में उस समय भारत की सभी बड़ी हस्तियाँ शामिल थी। इस महान दस्तावेज के निर्माण में बिहार के लोगों की भूमिका अविस्मरणीय रही। संविधान सभा के प्रोटेम स्पीकर के रूप में सच्चिदानन्द सिन्हा का चुनाव एवं स्थायी अध्यक्ष के रूप में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का मनोनयन इस बात को स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि बिहारियों ने संविधान के निर्माण में महती भूमिका निभाई।

संविधान निर्माण के लिये गठित संविधान सभा में बिहार के कुल छत्तीस (36) व्यक्ति चुनकर आये थे। ये सदस्य थे (1) अमिय कुमार घोष (2) अनुग्रह नारायण सिंह (3) फुलन प्रसाद वर्मा (4) भगवत प्रसाद (5) ब्रजेश्वर प्रसाद (6) जयपाल सिंह (7) कमलेश्वरी प्रसाद यादव (8) कृष्णबल्लभ सहाय (9) राजेन्द्र प्रसाद (10) रामनारायण सिन्हा (11) सारंगधर सिन्हा (12) दीपनारायण सिंह (13) गुप्तनाथ सिंह (14) यदुवंश सहाय (15) जगत नारायण लाल (16) जगजीवन राम (17) सत्यनारायण सिन्हा (18) विनोदानन्द झा (19) पी0 के0 सेन (20) श्री कृष्ण सिन्हा (21) राम बहादुर श्री नारायण महथा (22)

* **पी-एच. डी. रिसर्च स्कॉलर, इतिहास विभाग, बी. आर. ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर**

राम बहादुर श्यामानन्दन सहाय (23) हुसैन इमाम (24) देशबंधु गुप्ता (25) लतीर्कुर रहमान (26) बोनीफेस लाकरा (27) चन्द्रिका राम (28) सैयद जफर इमाम (29) महेश प्रसाद सिन्हा (30) रघुनन्दन सिन्हा (31) रामेश्वर प्रसाद सिन्हा (32) सच्चिदानन्द सिन्हा (33) मुहम्मद ताहिर (34) ताजमुल हुसैन (35) देवेन्द्र नाथ सामंत (36) बनारसी प्रसाद झुनझुनवाला। इसके अलावे अन्य नामित सदस्यों में अखिल भारतीय जमींदार संघ के प्रतिनिधि महाराजाधिराज सर कामेश्वर सिंह (दरभंगा), प्रोफेसर के. टी. शाह तथा महिला प्रतिनिधि के रूप में सरोजनी नायडू प्रमुख थी।

09 दिसम्बर 1946 ई. को संविधान सभा का विधिवत् उद्घाटन लोकसभा के केन्द्रीय हॉल में हुआ। इस अवसर पर आचार्य जे. बी. कृपलानी ने अस्थायी अध्यक्ष पद के लिये वयोवृद्ध सदस्य सच्चिदानन्द सिन्हा का नाम प्रस्तावित किया और उन्हें सर्वसम्मति से अस्थायी अध्यक्ष चुन लिया गया। अपने उद्घाटन भाषण में उन्होंने सभा की कार्यवाही की सफलता के लिये देवी वरदानों का आह्वान किया और दूसरे देशों में हुए संविधान निर्माण की पृष्ठभूमि का उल्लेख किया। इसके बाद सदस्यों ने रजिस्टर पर हस्ताक्षर किये। सिन्हा जी ने समाज के अलग-अलग वर्ग के हितों एवं ब्रिटेन के संविधान के कुछ महत्वपूर्ण अंशों को संविधान सभा के सामने बड़े ही रोचक ढंग से रखा। उन्होंने अमेरिकी संविधान के विशेषज्ञ मुनरो की बात की तथा कहा कि अमेरिकी संविधान बहुत सारे समझौते एवं ताल-मेल पर आधारित था। उन्होंने कहा कि भारतीय संविधान निर्माताओं को भी बहुत सारे समझौते करने होंगे। भारत का जो 'संविधान' संविधान सभा द्वारा बनाया जाएगा वह आम जनों के हित में पूरी न्याय के साथ बुरी ताकतों का सफाया करेगी। "उन्होंने कहा संविधान सभा में एक घंटा आम जनों के हित के लिये बात करने पर रखा जाये। गणतंत्र आम जनता के गुण, बल तथा ज्ञान के आधार पर बनता है। वह तब गिर जाता है जब बड़े लोग ही अपनी इमानदारी और चापलूसी के कारण अपने पद से गिर जाते हैं।"

11 दिसम्बर 1946 ई. को डॉ. राजेन्द्र प्रसाद स्थायी अध्यक्ष चुने गए। इनके नाम का प्रस्ताव जे. बी. कृपलानी ने किया तथा अनुमोदन सरदार पटेल ने किया। यह पद बाद में असेम्बली का प्रेसिडेन्ट कहलाया। राजेन्द्र प्रसाद के नाम का किसी ने विरोध नहीं किया। 'इन्कलाब जिन्दाबाद' और 'जय हिन्द' के नारों के बीच मौलाना आजाद तथा आचार्य कृपलानी ने उन्हें सम्मान पूर्वक अध्यक्ष के आसन तक पहुँचाया। राजेन्द्र प्रसाद को बधाई देते हुए संविधान सभा की बिहार से नामित सदस्या सरोजनी नायडू ने कहा कि इस अवसर पर मुझे कश्मीरी कवि की पंक्ति याद आ रही है- "बुल-बुल को गुल मुबारक, गुल को चमन मुबारक, रंगीन तबियत को रंगीन सुख मुबारक।"

ब्रिटिश सरकार की ओर से यह सभा कई बन्धनों में जकड़ी हुई थी। किन्तु राजेन्द्र प्रसाद ने पहले ही दिन अपने अध्यक्षीय भाषण में इस संविधान सभा को सार्वभौमिक सत्ता सम्पन्न घोषित कर दिया और कहा "इस सभा का काम बहुत मुश्किल है। इसके सामने तरह-तरह के सवाल-दर-सवाल पेश होंगे। हम यह मानते हैं कि इस तरह की दिक्कतें अन्य देशों के संविधान सभा के सामने भी रही है। हमारा यह संविधान सभा भी बावजूद इन कठिनाइयों के जो हमारे सामने है अपने काम को बखूबी एवं सफलता के साथ अंजाम देगा।"

अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा- "मैं जानता हूँ कि इस परिषद की पैदाइश तरह-तरह के प्रतिबंधों के साथ हुई है। बहुत से प्रतिबंध तो ऐसे हैं कि मुमकिन है, इन्हें अपने कार्यवाही के सिलसिले में हमें याद भी रखना पड़े। मगर साथ ही मैं यह भी जानता हूँ कि इस संविधान परिषद को इस बात का पूरा अधिकार है कि अपनी कार्यवाही जिन तरीके से चाहें करें।" मैं यह भी जानता हूँ कि जो पाबंदियाँ इनको जन्म के साथ मिली है उनको तोड़ देने एवं खत्म कर देने का अख्तियार भी इस असेम्बली की है। आपकी कोशिश यह होनी चाहिए कि हम इन बन्धनों से बाहर निकलकर एक ऐसा विधान, एक ऐसा कायदा देश के लिये तैयार करें जिससे इस देश के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को यह मालूम हो जाये कि चाहे वह किसी भी मजहब, प्रांत, विचार आदि का क्यों न हो, उसके सभी अधिकार सदा सब तरह से सुरक्षित है।

बिहार के निर्वाचित संविधान सभा के सदस्य जयपाल सिंह ने कहा- "मैं छोटानगपुर के जनजातियों के तरफ से सबसे पहले राजेन्द्र प्रसाद को शुभकामना देना चाहता हूँ कि जिस समाज से मैं आता हूँ, हम सिर्फ पाँच हैं लेकिन मैं लाखों भारतीयों का प्रतिनिधित्व करता हूँ। मैंने देखा कि कुछ वर्षों से भारत छोड़ने के संबंध में बात करना एक फैशन हो गया है। मैं भारतीयों को मूलतः भारत में ही बने रहने तथा अंग्रेजों को दूर भगाने की कामना करता हूँ। मैं जिस क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता हूँ उस क्षेत्र का दक्षिणी भाग सबसे ज्यादा ब्रिटिश प्रिय लगता है और वहाँ पर भारत की संस्कृति खत्म होती जान पड़ती है। इससे हमें क्या उपलब्धियाँ हुई इस संदर्भ में मैं बात नहीं करना चाहता, वह पहले से ही ज्ञात है। जो भी हो डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को बधाई, मैं आज उन्हीं की बातों का समर्थन करता हूँ।"

13 दिसम्बर 1946 ई. को जवाहर लाल नेहरू ने संविधान सभा के सामने 'उद्देश्य प्रस्ताव' पेश कर संविधान सभा की आधारशिला रखी। यहीं से प्रस्ताव के समर्थन और विरोध के रूप में बहस की शुरूआत हुई। 16 दिसम्बर 1946 को बिहार के श्री कृष्ण सिंह ने अतिशय हर्षोल्लास के साथ उद्देश्य प्रस्ताव का समर्थन किया। 19 दिसम्बर 1946 ई. को जयपाल सिंह ने भी भारत के उन लाखों पिछड़ी जातियों तथा आदिवासियों की तरफ से बोलते हुए उद्देश्य प्रस्ताव का समर्थन किया। 20 जनवरी 1947 ई. को पी. के. सेन ने भी स्वतंत्र सम्प्रभु गणराज्य, नागरिकों के न्याय, समानता व स्वतंत्रता के संदर्भ में बोला और उद्देश्य प्रस्ताव का समर्थन किया। 21 जनवरी 1947 ई. को 11 सदस्यीय स्ट्रेयरिंग कमिटी के लिये हुए चुनाव में सत्यनारायण सिन्हा चुन लिये गए। इसी दिन देवेन्द्र नाथ समांत ने भी उद्देश्य प्रस्ताव का समर्थन किया।

इस क्रम में संविधान सभा के समक्ष अनेक विचारणीय मुद्दे उभरे। इसमें नागरिकों के अधिकार एवं एक पृथक निर्वाचन का प्रश्न, दलित जातियों के अधिकारों का प्रश्न, महिलाओं का प्रश्न, केन्द्र और राज्यों के अधिकारों के विभाजन का प्रश्न, राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों का प्रश्न, पूर्ण नशाबन्दी का प्रश्न, अलग प्रांत की माँग का प्रश्न, राष्ट्रीय ध्वज का प्रश्न, राष्ट्र की भाषा का प्रश्न, मौलिक अधिकार और संसदीय व्यवस्था का प्रश्न, राष्ट्रीय गीत तथा राष्ट्रपति के चुनाव का प्रश्न सबसे अधिक महत्वपूर्ण थे। इन अधिकतर प्रश्नों पर बिहारी सदस्यों ने अपनी बाते खुलकर रखी।

संविधान सभा ने कुल मिलाकर दो वर्ष ग्यारह महिने और अठारह दिनों अर्थात तीन वर्ष से भी कम समय में भारतीय संविधान के निर्माण का महान अनुष्ठान पूरा किया। देश के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, प्राकृतिक विविधता तथा विशाल जनसंख्या के बीच संविधान सभा ने एकता का स्वर्ण सूत्र ढूँढ़ निकाला। संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने 26 नवम्बर 1947 ई. को अपने समापन भाषण में कहा "संविधान सभा कुल मिलाकर एक ऐसे संविधान का निर्माण करने में सफल हुई जो देश के व्यापक हित में था।" इसी दिन संविधान सभा द्वारा निर्मित संविधान को अन्तिम रूप से पास किया गया। संविधान सभा के अन्तिम दिन 24 जनवरी 1950 को संविधान की तीन प्रतियाँ पटल पर रखी गई। सभा के सभी सदस्यों ने उस पर हस्ताक्षर किये और उसके बाद 'जन-गण-मन' तथा 'वन्दे मातरम्' के गायन के साथ संविधान सभा का सभा के रूप में समापन हो गया। 26 जनवरी 1950 ई. को उसका भारतीय गणराज्य की संसद के रूप में आविर्भाव हुआ एवं डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को भारतीय गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति बनने का गौरव प्राप्त हुआ।

निष्कर्ष :-

इस प्रकार भारतीय संविधान गहन विवादों और परिचर्चाओं से गुजरते हुए बना। इसके निर्माण में बिहारियों की अहम भूमिका रही। इस प्रक्रिया में अनेक विरोधात्मक सुझाव आए जिन पर सभी सदस्यों की भावनाओं को ध्यान में रखते हुए लेन-देन की प्रक्रिया अपनाकर, सहमति बनाकर निर्णय लिया गया और सर्वइच्छा, सर्वसम्मति एवं सर्वसहयोग से संविधान निर्माण के पुनीत कर्तव्य को संपादित किया गया।

संदर्भ

1. भारत का संविधान सभा. *संविधान सभा वाद-विवाद*. जिल्द 1. नई दिल्ली: भारत सरकार, 1946–1950.
2. भारत की संसद. *संसदीय वाद-विवाद (लोकसभा/राज्यसभा)*. नई दिल्ली: भारत सरकार, विभिन्न वर्ष।
3. भारत सरकार. *भारतीय विधान परिषद के वाद-विवाद की सरकारी रिपोर्ट*. अंक 4, संख्या 7, 22 जुलाई 1947. नई दिल्ली: गवर्नमेंट प्रिंटिंग प्रेस, 1947.
4. जैन, पुखराज, और बी. एल. फाड़िया. *भारतीय शासन एवं राजनीति*. आगरा, 2010.
5. गुहा, रामचन्द्र. *भारत नेहरू के बाद*. नई दिल्ली: पेंगुइन बुक्स इंडिया, 2012.
6. मेनन, वी. पी. *द ट्रांसफर ऑफ पावर इन इंडिया*. लंदन: लॉन्गमैन्स, ग्रीन एंड कंपनी, 1957.
7. चन्द्र, बिपिन, मृदुला मुखर्जी, और आदित्य मुखर्जी. *आज़ादी के बाद भारत*. नई दिल्ली: पेंगुइन बुक्स इंडिया, 2002.
8. कुमार, विजय (सं.). *बिहार विभूति*. तीन खण्ड. पटना: बिहार राज्य अभिलेखागार निदेशालय, 2012.
9. काश्यप, सुभाष सी. *भारत का सांविधानिक विकास और संविधान*. नई दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट, 1984.
10. गोपाल, सुरेन्द्र, आदि (सं.). *युगपुरुष देशरत्न—डॉ. राजेन्द्र प्रसाद*. पटना: राजेन्द्र प्रसाद स्मृति संग्रहालय, 2008.

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal. Impact Factor: 8
Received: 05.01.2026 | Accepted: 10.01.2026 | Published: 30.01.2026

किन्नर समुदाय के विद्यार्थियों की शैक्षिक स्थितियों का अध्ययन

प्रमोद कुमार* **प्रो. (डॉ.) भरत कुमार पंडा†**

pramodphdedu@gmail.com **bharat.panda06@gmail.com**

शोध सार

प्रस्तुत शोध का उद्देश्य छत्तीसगढ़ राज्य में किन्नर समुदाय की शैक्षिक स्थितियों का विश्लेषण करना तथा शिक्षा प्रणाली से बहिष्कार के कारणों की पहचान करना है। यह अध्ययन मिश्रित शोध पद्धति पर आधारित है, जिसमें अर्ध-संरचित साक्षात्कार अनुसूची के माध्यम से 35 किन्नर व्यक्तियों से आँकड़े एकत्र किए गए। प्रतिभागियों का चयन छत्तीसगढ़ के रायपुर, बिलासपुर, दुर्ग, राजनांदगांव एवं कोरबा जिलों से उद्देश्यपूर्ण एवं हिमकंदुक प्रतिचयन विधि द्वारा किया गया।

अध्ययन के प्रमुख निष्कर्षों के अनुसार, 40% किन्नर व्यक्ति कभी स्कूल नहीं गए, जबकि केवल 5.7% स्नातक स्तर तक शिक्षा प्राप्त कर पाए। सकारात्मक पहलू यह है कि 62.9% प्रतिभागी आगे पढ़ने की इच्छा रखते हैं, किंतु अवसरों के अभाव में यह आकांक्षा पूरी नहीं हो पाती। शिक्षा से बहिष्कार के प्रमुख कारणों में परिवारिक अस्वीकृति (77.1%), सहपाठियों द्वारा उत्पीड़न (71.4%), शिक्षकों का भेदभावपूर्ण व्यवहार (65.7%), लैंगिक तटस्थ शौचालयों का अभाव (82.9%) तथा वर्दी में लचीलेपन की कमी (74.3%) शामिल हैं। मनोवैज्ञानिक प्रभाव अत्यंत गंभीर हैं—82.9% प्रतिभागियों में आत्मसम्मान में कमी, 57.1% में अवसाद के लक्षण तथा 22.9% में आत्महत्या के विचार पाए गए। नीतिगत जागरूकता अत्यंत सीमित है, केवल 14.3% प्रतिभागी सरकारी योजनाओं से परिचित थे, जो नलसा निर्णय (2014) एवं ट्रांसजेंडर अधिनियम (2019) जैसे ऐतिहासिक कानूनी प्रावधानों के जमीनी क्रियान्वयन में गंभीर अंतराल को दर्शाता है।

शोध के निष्कर्षों के आधार पर सुझाव दिए गए हैं कि शिक्षा मंत्रालय के 2021 परिपत्र का सख्ती से क्रियान्वयन किया जाए, शिक्षकों के लिए अनिवार्य संवेदनशीलता प्रशिक्षण की व्यवस्था हो, विद्यालयों में लैंगिक तटस्थ शौचालय एवं वर्दी की सुविधा सुनिश्चित की जाए, तथा पारिवारिक स्वीकृति एवं सामाजिक जागरूकता के लिए व्यापक अभियान चलाए जाएँ। इस अध्ययन से स्पष्ट होता है कि किन्नर समुदाय के शैक्षिक सशक्तिकरण के लिए केवल कानूनी प्रावधान पर्याप्त नहीं हैं, वरन् उनके प्रभावी क्रियान्वयन, संस्थागत सुधारों एवं सामाजिक संवेदनशीलता के विकास की तत्काल आवश्यकता है।

मुख्य शब्द: *किन्नर समुदाय, शैक्षिक बहिष्कार, परिवारिक अस्वीकृति, संस्थागत भेदभाव, लैंगिक तटस्थ सुविधाएँ, अल्पसंख्यक तनाव, छत्तीसगढ़*

प्रस्तावना

भारतीय समाज में किन्नर समुदाय की ऐतिहासिक उपस्थिति सहस्राब्दियों पुरानी है। प्राचीन ग्रंथों जैसे रामायण, महाभारत और कामसूत्र में तृतीय लिंग के व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है, जहाँ उन्हें सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। मुगलकाल में यह समुदाय राजदरबारों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता था। हालाँकि, औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश शासन द्वारा 1871 के आपराधिक जनजाति अधिनियम ने इस समुदाय को आपराधिक प्रवृत्ति का घोषित कर दिया, जिससे उनका व्यवस्थित सामाजिक बहिष्कार शुरू हुआ। यह कलंक आजादी के बाद भी जारी रहा, जिसके परिणामस्वरूप किन्नर समुदाय शिक्षा, रोजगार और स्वास्थ्य जैसी मूलभूत सुविधाओं से वंचित रह गया।

वर्तमान में, हालाँकि 2014 के ऐतिहासिक नालसा निर्णय ने उन्हें कानूनी मान्यता प्रदान की है और ट्रांसजेंडर अधिनियम 2019 ने अधिकारों का प्रावधान किया है, व्यवहार में यह समुदाय अभी भी गहरे सामाजिक भेदभाव और आर्थिक हाशियाकरण का सामना कर रहा है। अधिकांश किन्नर परंपरागत रूप से भीख मांगना या यौनकर्म जैसे असुरक्षित व्यवसायों में लिप्त हैं, जो शैक्षिक अवसरों से वंचित रहने का प्रत्यक्ष परिणाम है। शिक्षा से दूरी, स्कूलों में लैंगिक पहचान के कारण उत्पीड़न

* **पी-एच.डी. (शिक्षाशास्त्र), महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र**

† **प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, ओड़िशा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सुनाबेडा, कोरापुट**

और असंवेदनशील पाठ्यक्रम ने इस समुदाय को हाशिये पर धकेल दिया है। सरकारी नीतियों और कानूनी सुरक्षा के बावजूद, जमीनी स्तर पर बदलाव धीमा है। किन्नर समुदाय के सशक्तिकरण के लिए शिक्षा में समावेशन, सामाजिक संवेदनशीलता और रोजगार के गरिमामय अवसरों का सृजन अनिवार्य है।

सामाजिक-आर्थिक हाशियाकरण

किन्नर समुदाय के सामाजिक-आर्थिक हाशियाकरण का मूल कारण शैक्षिक बहिष्कार है। यह कोई साधारण समस्या नहीं, बल्कि एक गहरा संरचनात्मक दुष्चक्र है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता है। इस दुष्चक्र को समझना आवश्यक है क्योंकि यह न केवल व्यक्तियों को, बल्कि पूरे समुदाय को गरीबी और हाशियाकरण के गर्त में धकेलता है। यह चक्र मूल रूप से तीन चरणों में कार्य करता है। प्रथम, शिक्षा से वंचित रहने के कारण किन्नर व्यक्तियों के पास कौशल विकास और ज्ञान अर्जन के अवसर नहीं होते। द्वितीय, इस शैक्षिक अक्षमता के कारण उन्हें रोजगार के गरिमामय अवसर नहीं मिल पाते। वे औपचारिक अर्थव्यवस्था से बाहर रह जाते हैं और परंपरागत रूप से भीख मांगने, यौनकर्म या अन्य असुरक्षित एवं अस्थायी व्यवसायों की ओर धकेल दिए जाते हैं। तृतीय, इस आर्थिक विपन्नता और सामाजिक असुरक्षा का सीधा प्रभाव अगली पीढ़ी पर पड़ता है। गरीब परिवार अपने बच्चों को स्कूल भेजने में असमर्थ होते हैं, और यदि भेजते भी हैं, तो सामाजिक भेदभाव के कारण बच्चे जल्दी स्कूल छोड़ देते हैं। इस प्रकार यह चक्र निरंतर चलता रहता है।

विद्यालयी वातावरण स्वयं इस बहिष्कार को बढ़ावा देता है। लैंगिक पहचान के कारण होने वाला उत्पीड़न एक प्रमुख कारण है। जब कोई बच्चा अपनी लैंगिक पहचान के अनुरूप व्यवहार करता है या वेशभूषा धारण करता है, तो उसे सहपाठियों और कई बार शिक्षकों से भी उपहास, बदमाशी और मानसिक प्रताड़ना झेलनी पड़ती है। जेल्सेन (2021) के अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि लैंगिक अल्पसंख्यक छात्र विद्यालयों में अधिक बदमाशी और उत्पीड़न का सामना करते हैं। यह उत्पीड़न उनके मानसिक स्वास्थ्य को गहरा आघात पहुँचाता है और उन्हें शिक्षा से विमुख कर देता है। अमेरिकनअस्सक साइकोलॉजिकल एसोसिएशन (2015) के दिशानिर्देश बताते हैं कि इस प्रकार के लगातार तनाव से अल्पसंख्यक तनाव उत्पन्न होता है, जो अवसाद, चिंता और आत्महत्या की प्रवृत्ति को जन्म दे सकता है।

शैक्षिक बहिष्कार का दूसरा बड़ा कारण भेदभावपूर्ण व्यवहार है। यादव (2021) के दिल्ली में किए गए अध्ययन के अनुसार, किन्नर समुदाय के शैक्षिक बहिष्कार के प्रमुख कारणों में परिवारिक अस्वीकृति, शिक्षकों की असंवेदनशीलता, और विद्यालयी ढाँचे में लैंगिक द्विआधारी का कठोर पालन शामिल है। परिवारिक अस्वीकृति की स्थिति में बच्चे को न तो घर से प्रोत्साहन मिलता है और न ही स्कूल जाने के लिए आवश्यक भावनात्मक सुरक्षा। शिक्षकों की असंवेदनशीलता इसलिए भी घातक है क्योंकि शिक्षक ही वह व्यक्ति होता है जो कक्षा में सुरक्षित वातावरण बना सकता है। यदि शिक्षक स्वयं पूर्वाग्रहों से ग्रस्त है, तो वह न केवल पीड़ित बच्चे की सहायता करने में असफल रहेगा, बल्कि अनजाने में उत्पीड़न को बढ़ावा भी दे सकता है।

विद्यालयी ढाँचे में लैंगिक द्विआधारी का कठोर पालन भी एक बड़ी बाधा है। अधिकांश स्कूलों में वर्दी, शौचालय, खेलकूद टीमें और यहाँ तक कि बैठने की व्यवस्था भी लड़के और लड़की के द्विआधारी वर्गीकरण पर आधारित होती है। इस ढाँचे में किन्नर या ट्रांसजेंडर बच्चों के लिए कोई स्थान नहीं होता। शिक्षा मंत्रालय के 2021 के परिपत्र में लैंगिक तटस्थ वर्दी और शौचालय की अनुशंसा की गई है, लेकिन जमीनी स्तर पर इसका क्रियान्वयन लगभग न के बराबर है। सिंह एवं कावरे (2025) के अनुसार, समावेशी विद्यालयों के सृजन में प्रधानाचार्यों और शिक्षकों की भूमिका महत्वपूर्ण है, परंतु उनमें आवश्यक संवेदनशीलता और प्रशिक्षण का अभाव है।

तीसरा महत्वपूर्ण कारक पाठ्यक्रम में समुदाय की अनदेखी है। विद्यालयी पाठ्यपुस्तकों में किन्नर समुदाय का उल्लेख या तो नहीं होता, या यदि होता है तो रूढ़िवादी और अपमानजनक ढंग से। इससे न केवल किन्नर छात्रों की पहचान अमान्य होती है, बल्कि अन्य छात्रों में भी इस समुदाय के प्रति सहानुभूति और सम्मान विकसित नहीं हो पाता। UNESCO (2020) ने अपनी रिपोर्ट "इन्क्लूजन एंड एजुकेशन: ऑल मीन्स ऑल" में स्पष्ट किया है कि समावेशी शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम में सभी समुदायों का सम्मानजनक प्रतिनिधित्व आवश्यक है।

इस शैक्षिक बहिष्कार का प्रभाव केवल व्यक्तिगत विकास तक सीमित नहीं है। यह समुदाय की सामूहिक गरिमा और आत्मसम्मान को भी गहरा आघात पहुँचाता है। जब कोई समुदाय लगातार यह संदेश पाता है कि उसके लिए शिक्षा व्यवस्था

में कोई स्थान नहीं है, तो उसका आत्मविश्वास टूट जाता है। फैमिली एक्सेप्टेंस प्रोजेक्ट (2019) के अध्ययन बताते हैं कि पारिवारिक और सामाजिक अस्वीकृति का एल जी बी टी क्यू युवाओं के मानसिक स्वास्थ्य और आत्मसम्मान पर विनाशकारी प्रभाव पड़ता है। यह सामूहिक आघात पीढ़ियों तक चलता रहता है और समुदाय के उत्थान की संभावनाओं को समाप्त कर देता है।

इस प्रकार, किन्नर समुदाय का शैक्षिक बहिष्कार एक जटिल और बहुआयामी समस्या है, जो संरचनात्मक भेदभाव, सामाजिक पूर्वाग्रहों और संस्थागत असंवेदनशीलता से पोषित होती है। इस दुष्चक्र को तोड़ने के लिए न केवल नीतिगत बदलाव आवश्यक हैं, बल्कि समाज के हर स्तर पर गहरी संवेदनशीलता और सकारात्मक कार्रवाई की भी आवश्यकता है।

साहित्य पुनरावलोकन

भारत के सर्वोच्च न्यायालय का 2014 का नालसा निर्णय और 2019 का ट्रांसजेंडर व्यक्ति (अधिकारों का संरक्षण) अधिनियम कानूनी रूप से ऐतिहासिक उपलब्धियाँ हैं। इन्होंने तृतीय लिंग को मान्यता दी और शिक्षा सहित सभी क्षेत्रों में समान अवसरों की बात की। शिक्षा मंत्रालय के 2021 के परिपत्र में लैंगिक तटस्थ वर्दी, शौचालय और संवेदनशीलता प्रशिक्षण की अनुशंसा की गई है। इन कानूनी प्रावधानों के बावजूद, जमीनी स्तर पर स्थिति में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है। कानून और व्यवहार के बीच यह अंतर एक गंभीर शोध समस्या है।

सिंह एवं कावरे (2025) का अध्ययन बताता है कि समावेशी विद्यालयों के सृजन में प्रधानाचार्यों और शिक्षकों की भूमिका महत्वपूर्ण है, लेकिन उनमें आवश्यक संवेदनशीलता और प्रशिक्षण का अभाव है। शर्मा (2024) बाल किन्नरों के मनोवैज्ञानिक संघर्षों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं, जिन्हें शैक्षिक व्यवस्था पूरी तरह अनदेखा करती है। जेल्सेन (2021) के अनुसार, लैंगिक अल्पसंख्यक छात्र विद्यालयों में उत्पीड़न के कारण उच्च ड्रॉपआउट दर का सामना करते हैं। यूनेस्को (2020) ने भी समावेशी शिक्षा के लिए शिक्षक प्रशिक्षण और संवेदनशील पाठ्यक्रम की आवश्यकता पर बल दिया है।

शोध की आवश्यकता

प्रस्तुत शोध इसलिए आवश्यक है क्योंकि यह नीतिगत घोषणाओं और जमीनी हकीकत के बीच की खाई को पाटने का प्रयास करता है। विद्यमान अध्ययन या तो कानूनी पहलुओं पर केंद्रित हैं या सामाजिक भेदभाव के सामान्य विवरण प्रस्तुत करते हैं। किन्नर समुदाय के शैक्षिक बहिष्कार के विशिष्ट कारणों, विद्यालयी प्रक्रियाओं में समावेशन की बाधाओं और नीतियों के क्रियान्वयन की व्यावहारिक चुनौतियों पर व्यापक अनुभवजन्य शोध का अभाव है। इस शोध का महत्व इस तथ्य में निहित है कि शिक्षा के बिना किन्नर समुदाय का सशक्तिकरण अधूरा है, और उनके शैक्षिक समावेशन के बिना एक सच्चा समतामूलक समाज संभव नहीं है। यह शोध न केवल विद्यमान ज्ञान के अंतराल को भरेगा, बल्कि नीति निर्माताओं, शिक्षकों और समाज के लिए व्यावहारिक सुझाव भी प्रदान करेगा।

समस्या कथन

किन्नर समुदाय के विद्यार्थियों की शैक्षिक स्थितियों का अध्ययन

शोध उद्देश्य

1 किन्नर समुदाय की वर्तमान शैक्षिक स्थितियों का विश्लेषण करना।
2 शिक्षा प्रणाली से बहिष्कार के कारणों की पहचान करना

शोध प्रतिमान एवं अभिकल्प

प्रस्तुत शोध की प्रतिपूर्ति हेतु शोधार्थी द्वारा गुणात्मक एवं मात्रात्मक दोनों पद्धतियों के सम्मिलन वाली मिश्रित पद्धति का प्रयोग किया गया। यह प्रतिमान इसलिए चुना गया है क्योंकि किन्नर समुदाय की शैक्षिक स्थितियों का अध्ययन एक जटिल एवं बहुआयामी विषय है, जिसे केवल एक पद्धति से पूरी तरह समझना संभव नहीं है। क्रैसवेल एवं प्लानो क्लार्क (2011) के अनुसार, मिश्रित पद्धति शोधकर्ता को किसी समस्या के विभिन्न पहलुओं को गहराई से समझने और व्यापक परिप्रेक्ष्य प्राप्त करने में सहायता करती है। शोधार्थी द्वारा में गुणात्मक एवं मात्रात्मक आंकड़े एक साथ (समानांतर रूप से) एकत्र करके अंतिम विश्लेषण हेतु प्रदत्तों का त्रिकोणीयकरण किया गया है।

जनसंख्या एवं न्यादर्श

प्रस्तुत शोध कार्य को छत्तीसगढ़ राज्य के विभिन्न जिलों के किन्नर को केंद्र में रखकर किया गया है यह ही इस शोध की लक्षित जनसंख्या है एवं शोधार्थी द्वारा लक्षित जनसंख्या से न्यादर्श के चयन हेतु हिमकेंदुक न्यादर्शज का प्रयोग किया गया है इस आधार पर शोधार्थी द्वारा कुल 35 किन्नर से प्रदत्त एकत्रित किया गया है जिसका वर्णन अधोलिखित है:

सारणी संख्या 1 : न्यादर्श

क्र.सं.	जिला	प्रतिभागी संख्या
1	रायपुर	12
2	बिलासपुर	10
3	दुर्ग	13

शोध उपकरण

प्रस्तुत शोध की प्रतिपूर्ति हेतु शोधार्थी एक स्वनिर्मित अर्द्ध संरचित साक्षात्कार अनुसूची का निर्माण किया गया था जिसका विवरण अधोलिखित है:-

सारणी संख्या 2 : उपकरण के आयाम

क्रमांक	आयाम	उप-आयामों की संख्या	संकेतकों की संख्या	प्रश्नों की संख्या
1	व्यक्तिगत एवं जनसांख्यिकीय पृष्ठभूमि	-	6	7
2	शैक्षिक इतिहास एवं वर्तमान स्थिति	4	12	11
3	शिक्षा प्रणाली से बहिष्कार के कारण	5	15	14
4	सुझाव एवं भविष्य की संभावनाएँ	-	3	3
कुल	**4 मुख्य आयाम**	**9 उप-आयाम**	**36 संकेतक**	**28 प्रश्न**

सारणी संख्या 3 : विश्वसनीयता और वैधता

कसौटी	विधि	परिणाम
सामग्री वैधता	विशेषज्ञ मूल्यांकन, CVR	सभी आयामों के लिए CVR > 0.60
मुख-वैधता	पूर्व-परीक्षण	90% प्रश्न स्पष्ट एवं बोधगम्य
निर्माण वैधता	सैद्धांतिक आधार, त्रिकोणन	सिद्धांतों से सामंजस्य
अंतर-कोडर विश्वसनीयता	कोहेन का कप्पा	$\kappa > 0.70$
परीक्षण-पुनः परीक्षण	सहसंबंध गुणांक	$r > 0.70$ (तथ्यात्मक प्रश्नों के लिए)
गुणात्मक विश्वसनीयता	सदस्य जाँच, ऑडिट ट्रेल	प्रतिभागियों द्वारा पुष्टि

प्रदत्त विश्लेषण

प्राप्त प्रदत्त का विश्लेषण निम्नलिखित आयामवार किया गया है:

जनसांख्यिकीय विश्लेषण : अध्ययन में शामिल 35 किन्नर प्रतिभागियों के जनसांख्यिकीय विवरण से ज्ञात होता है कि सर्वाधिक प्रतिभागी 26-35 आयु वर्ग (40.0%) में हैं, जबकि 18-25 वर्ष के युवा वर्ग का प्रतिनिधित्व 34.3% है। 36-45

आयु वर्ग में 17.1% तथा 45 वर्ष से अधिक आयु के प्रतिभागी केवल 8.6% हैं। निवास के संदर्भ में अधिकांश प्रतिभागी शहरी क्षेत्रों (62.9%) में रहते हैं, जबकि अर्ध-शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों में क्रमशः 22.9% और 14.3% निवास करते हैं। व्यवसाय की दृष्टि से आधे से अधिक प्रतिभागी (51.4%) परंपरागत व्यवसाय (बधाई देना/मांगना) से जुड़े हैं, जो शैक्षिक बहिष्कार के कारण वैकल्पिक रोजगार के अवसरों के अभाव को दर्शाता है। स्वरोजगार/दुकानदारी करने वाले 22.9% हैं, जबकि एनजीओ/सामाजिक कार्य से जुड़े 14.3% प्रतिभागी हैं। विश्वविद्यालय में सुरक्षा गार्ड के रूप में कार्यरत 5.7% प्रतिभागी तथा बेरोजगार 5.7% प्रतिभागी हैं। यह आंकड़े बताते हैं कि किन्नर समुदाय अभी भी पारंपरिक व्यवसायों पर निर्भर है और औपचारिक रोजगार में उनकी भागीदारी अत्यंत सीमित है।प्रस्तुत शोध का जनसांख्यिकीय विश्लेषण निम्नलिखित है:-

सारणी संख्या 4 : जनसांख्यिकीय विश्लेषण

चर	श्रेणी	संख्या	प्रतिशत
आयु वर्ग	18-25 वर्ष	12	34.3%
	26-35 वर्ष	14	40.0%
	36-45 वर्ष	6	17.1%
	45+ वर्ष	3	8.6%
निवास	शहरी	22	62.9%
	अर्ध-शहरी	8	22.9%
	ग्रामीण	5	14.3%
व्यवसाय	परंपरागत (बधाई/मांगना)	18	51.4%
	स्वरोजगार/दुकानदारी	8	22.9%
	एनजीओ/सामाजिक कार्य	5	14.3%
	सुरक्षा गार्ड (विश्वविद्यालय)	2	5.7%
	बेरोजगार	2	5.7%

शैक्षिक स्थिति

अध्ययन में शामिल 35 किन्नर प्रतिभागियों के शैक्षिक स्तर का विश्लेषण अत्यंत चिंताजनक स्थिति को उजागर करता है। कुल प्रतिभागियों में से 40% (14 व्यक्ति) कभी स्कूल ही नहीं गए, जिनमें जन्म से पुरुष वर्ग के 8 एवं जन्म से महिला वर्ग की 6 प्रतिभागी शामिल हैं। प्राथमिक स्तर (कक्षा 1-5) तक शिक्षा प्राप्त करने वाले 25.7% (9 व्यक्ति) हैं, जिनमें 5 पुरुष एवं 4 महिला हैं। माध्यमिक स्तर (कक्षा 6-10) तक पढ़े प्रतिभागी 20% (7 व्यक्ति) हैं, जिनमें 4 पुरुष एवं 3 महिला शामिल हैं। उच्चतर माध्यमिक (कक्षा 11-12) तक पहुँचने वाले केवल 8.6% (3 व्यक्ति) हैं, जिनमें 2 पुरुष एवं 1 महिला है। स्नातक एवं उससे ऊपर की शिक्षा प्राप्त करने वाले मात्र 5.7% (2 व्यक्ति) हैं, जिनमें एक पुरुष एवं एक महिला शामिल है। यह आँकड़े स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं कि किन्नर समुदाय में निरक्षरता का स्तर अत्यधिक उच्च है तथा उच्च शिक्षा तक उनकी पहुँच नगण्य है। जन्म से पुरुष एवं महिला वर्गों के बीच शैक्षिक स्तर में कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं है, दोनों ही वर्ग शैक्षिक हाशियाकरण के समान रूप से शिकार हैं।

सारणी संख्या 5 : नामांकन एवं शैक्षिक स्तर

शैक्षिक स्तर	पुरुष (जन्म से)	महिला (जन्म से)	कुल	प्रतिशत
कभी स्कूल नहीं गए	8	6	14	40.0%
प्राथमिक (कक्षा 1-5)	5	4	9	25.7%
माध्यमिक (कक्षा 6-10)	4	3	7	20.0%
उच्चतर माध्यमिक (11-12)	2	1	3	8.6%
स्नातक एवं अधिक	1	1	2	5.7%
कुल	**20**	**15**	**35**	**100%**

शैक्षिक आकांक्षाएँ

प्रस्तुत अध्ययन में यह उत्साहजनक तथ्य सामने आया कि 35 में से 22 प्रतिभागियों (62.9%) ने आगे पढ़ने या व्यावसायिक प्रशिक्षण लेने की इच्छा व्यक्त की। यह दर्शाता है कि किन्नर समुदाय में शिक्षा के प्रति अरुचि नहीं, बल्कि अवसरों का अभाव है। रुचि के क्षेत्रों की बात करें तो सर्वाधिक 8 प्रतिभागी कंप्यूटर प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहते हैं, जो डिजिटल युग में रोजगार की संभावनाओं के प्रति उनकी जागरूकता को दर्शाता है। इसके अलावा 7 प्रतिभागियों ने ब्यूटी पार्लर, 5 ने सिलाई-कढ़ाई तथा 2 ने समाज कार्य के क्षेत्र में रुचि दिखाई। चिंताजनक पहलू यह है कि केवल 5 प्रतिभागी (14.3%) को ही ट्रांसजेंडर छात्रवृत्ति या सरकारी योजनाओं की जानकारी थी, जो नीतिगत जागरूकता के गंभीर अभाव को रेखांकित करता है। इस आकांक्षा के बावजूद, अतीत के कड़वे अनुभव उनके मन में गहरे हैं, जैसा कि 22 वर्षीय समीरा के इस कथन से स्पष्ट होता है: "मैं पढ़ना चाहती थी, लेकिन स्कूल में लड़के-लड़कियों ने मेरा मजाक उड़ाया। टीचर ने भी कहा कि तुम लड़कों की तरह बैठो। मैंने 8वीं के बाद स्कूल छोड़ दिया।" यह उद्धरण न केवल उनकी शैक्षिक आकांक्षा को दर्शाता है, बल्कि उन बाधाओं को भी उजागर करता है जिनके कारण यह आकांक्षा पूरी नहीं हो पाई।

शिक्षा प्रणाली से बहिष्कार के कारण

किन्नर समुदाय के शिक्षा से बहिष्कार के कारणों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि परिवारिक अस्वीकृति एवं दबाव सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक है, जिसे 51.4% प्रतिभागियों ने अपने विद्यालय छोड़ने के प्रमुख कारण के रूप में बताया। दूसरा प्रमुख कारण सहपाठियों द्वारा उत्पीड़न (बदमाशी) है, जिसका सामना 42.9% प्रतिभागियों ने किया। शिक्षकों का भेदभावपूर्ण व्यवहार 34.3% प्रतिभागियों के लिए बाधक बना, जो दर्शाता है कि शिक्षक, जो सुरक्षित वातावरण बनाने वाले होते हैं, स्वयं भेदभाव का साधन बन जाते हैं। आर्थिक कठिनाई 28.6% प्रतिभागियों के लिए बाधा बनी, जबकि शौचालय एवं वर्दी जैसी मूलभूत सुविधाओं का अभाव 25.7% प्रतिभागियों के लिए समस्या बना। मानसिक तनाव एवं अवसाद के कारण 20.0% प्रतिभागियों ने शिक्षा छोड़ी, जो अल्पसंख्यक तनाव (minority stress) सिद्धांत की पुष्टि करता है। ये आँकड़े स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं कि किन्नर समुदाय के शैक्षिक बहिष्कार के लिए पारिवारिक, सामाजिक, संस्थागत, आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक कारक संयुक्त रूप से उत्तरदायी हैं, जो एक दुष्चक्र का निर्माण करते हैं।

सारणी संख्या 6 : विद्यालय छोड़ने के कारण

कारण	संख्या	प्रतिशत
परिवारिक अस्वीकृति/दबाव	18	51.4%
सहपाठियों द्वारा उत्पीड़न (बदमाशी)	15	42.9%
शिक्षकों का भेदभावपूर्ण व्यवहार	12	34.3%
आर्थिक कठिनाई	10	28.6%
शौचालय/वर्दी जैसी सुविधाओं का अभाव	9	25.7%
मानसिक तनाव/अवसाद	7	20.0%

पारिवारिक कारण

पारिवारिक कारणों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि किन्नर समुदाय के शैक्षिक बहिष्कार में परिवार की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। सर्वाधिक चिंताजनक तथ्य यह है कि 77.1% प्रतिभागियों ने बताया कि उनके परिवार ने उनकी लैंगिक पहचान को स्वीकार नहीं किया, जो पारिवारिक अस्वीकृति की व्यापकता को दर्शाता है। इस अस्वीकृति का सीधा परिणाम यह हुआ कि 68.6% प्रतिभागियों को उनके परिवार से शिक्षा में कोई सहयोग नहीं मिला। Family Acceptance Project (2019) के अनुसार, पारिवारिक अस्वीकृति का LGBTQ युवाओं के मानसिक स्वास्थ्य, आत्मसम्मान एवं शैक्षिक उपलब्धि पर विनाशकारी प्रभाव पड़ता है। आर्थिक कारणों से शिक्षा बाधित होने की बात 45.7% प्रतिभागियों ने कही, जबकि 54.3% ने इसे बाधा नहीं माना। यह दर्शाता है कि आर्थिक कारण महत्वपूर्ण हैं, लेकिन पारिवारिक अस्वीकृति एवं सहयोग की कमी जैसे सामाजिक-सांस्कृतिक कारक अधिक प्रभावी हैं। इन निष्कर्षों से स्पष्ट है कि किन्नर बच्चों की शिक्षा के लिए केवल आर्थिक सहायता ही नहीं, बल्कि परिवारों में लैंगिक विविधता के प्रति स्वीकृति एवं संवेदनशीलता विकसित करना भी अत्यंत आवश्यक है।

सारणी संख्या 7 : पारिवारिक कारण

कारक	सहमत (%)	असहमत (%)
परिवार ने लैंगिक पहचान स्वीकार नहीं की	77.1%	22.9%
परिवार ने शिक्षा में सहयोग नहीं दिया	68.6%	31.4%
आर्थिक कारणों से शिक्षा बाधित हुई	45.7%	54.3%

मनोवैज्ञानिक कारण

किन्नर समुदाय के शैक्षिक बहिष्कार के मनोवैज्ञानिक प्रभाव अत्यंत गंभीर एवं चिंताजनक हैं। सर्वाधिक 82.9% प्रतिभागियों में आत्मसम्मान में कमी पाई गई, जो स्कूलों में लगातार मिलने वाले अपमानजनक व्यवहार एवं अस्वीकृति का प्रत्यक्ष परिणाम है। 62.9% प्रतिभागियों ने स्कूल जाने का डर (स्कूल फोबिया) अनुभव किया, जो विद्यालयी वातावरण को उनके लिए कितना असुरक्षित बना देता है, इसका प्रमाण है। अवसाद एवं चिंता के लक्षण 57.1% प्रतिभागियों में पाए गए, जो अल्पसंख्यक तनाव (minority stress) सिद्धांत की पुष्टि करता है। American Psychological Association (2015) के अनुसार, लगातार भेदभाव एवं अस्वीकृति का सामना कर रहे लैंगिक अल्पसंख्यक व्यक्तियों में अवसाद एवं चिंता का जोखिम सामान्य जनसंख्या की तुलना में कई गुना अधिक होता है। सबसे गंभीर तथ्य यह है कि 22.9% प्रतिभागियों ने आत्महत्या के विचारों का अनुभव किया। यह आँकड़ा बताता है कि शैक्षिक बहिष्कार एवं सामाजिक अस्वीकृति का प्रभाव इतना गहरा है कि यह व्यक्तियों को जीवन के प्रति ही निराश कर देता है। इन मनोवैज्ञानिक प्रभावों के बावजूद, विद्यालयों में परामर्श जैसी मानसिक स्वास्थ्य सुविधाओं का पूर्ण अभाव है, जो स्थिति को और अधिक विकट बनाता है।

सारणी संख्या 8 : मनोवैज्ञानिक कारण

मनोवैज्ञानिक प्रभाव	प्रभावित (%)
आत्मसम्मान में कमी	82.9%
स्कूल जाने का डर (स्कूल फोबिया)	62.9%
अवसाद/चिंता के लक्षण	57.1%
आत्महत्या के विचार	22.9%

संस्थागत कारण

शिक्षा प्रणाली से किन्नर समुदाय के बहिष्कार में संस्थागत कारक सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अध्ययन में पाया गया कि 65.7% प्रतिभागियों ने शिक्षकों द्वारा उनकी लैंगिक पहचान के कारण अलग व्यवहार किए जाने की बात कही, जबकि 42.9% ने शिक्षकों द्वारा अपमानजनक टिप्पणी किए जाने की पुष्टि की। यह आँकड़े बताते हैं कि शिक्षक, जो सुरक्षित वातावरण बनाने वाले होते हैं, स्वयं भेदभाव का साधन बन जाते हैं। सहपाठियों का व्यवहार और भी चिंताजनक है - 71.4% प्रतिभागियों ने मौखिक उत्पीड़न और 31.4% ने शारीरिक उत्पीड़न का अनुभव किया। यह GLSEN (2021) के उन निष्कर्षों की पुष्टि करता है कि लैंगिक अल्पसंख्यक छात्र विद्यालयों में उच्च स्तर के उत्पीड़न का सामना करते हैं। पाठ्यक्रम में अनदेखी भी उतनी ही गंभीर है - 91.4% प्रतिभागियों ने बताया कि स्कूल की किताबों में किन्नर समुदाय का कभी उल्लेख नहीं था, और 8.6% के अनुसार यदि उल्लेख था भी तो रूढ़िवादी या अपमानजनक ढंग से। विद्यालयी ढाँचा भी लैंगिक द्विआधारी पर आधारित है - 82.9% के स्कूलों में लैंगिक तटस्थ शौचालय नहीं थे, और 74.3% ने वर्दी को लेकर समस्या बताई। देव (34 वर्ष, बिलासपुर) का यह कथन पूरी स्थिति का मार्मिक चित्रण करता है: *"हमारे स्कूल में लड़कों और लड़कियों के अलग-अलग शौचालय थे। मैं कहाँ जाऊँ? दोनों जगह जाने पर सवाल पूछे जाते थे। आखिर में पूरा दिन पानी नहीं पीना पड़ता था।"* यह उद्धरण दर्शाता है कि कैसे संरचनात्मक बाधाएँ किन्नर छात्रों की मूलभूत आवश्यकताओं तक की पूर्ति में बाधक बनती हैं।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन से स्पष्ट होता है कि छत्तीसगढ़ में किन्नर समुदाय की शैक्षिक स्थिति अत्यंत दयनीय है। 40% किन्नर व्यक्ति कभी स्कूल ही नहीं गए, जो राष्ट्रीय साक्षरता दर की तुलना में अत्यधिक कम है। यह स्थिति केवल छत्तीसगढ़ तक सीमित नहीं है, बल्कि यादव (2021) के दिल्ली अध्ययन के अनुरूप देश के अन्य भागों में भी ऐसी ही चिंताजनक स्थिति है। शिक्षा से बहिष्कार के प्रमुख कारणों में परिवारिक अस्वीकृति (77%), संस्थागत भेदभाव (शिक्षकों की असंवेदनशीलता 65.7% एवं सहपाठियों द्वारा उत्पीड़न 71.4%), तथा संरचनात्मक बाधाएँ (लैंगिक तटस्थ शौचालयों का अभाव 82.9%, वर्दी में लचीलेपन की कमी 74.3%) प्रमुख हैं।

गंभीर पहलू यह है कि नलसा निर्णय (2014) और ट्रांसजेंडर व्यक्ति (अधिकारों का संरक्षण) अधिनियम (2019) जैसे ऐतिहासिक कानूनी प्रावधानों के बावजूद, जमीनी स्तर पर कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ है। शिक्षा मंत्रालय के 2021 के परिपत्र में लैंगिक तटस्थ वर्दी, शौचालय और संवेदनशीलता प्रशिक्षण की अनुशंसा के बावजूद इसका क्रियान्वयन नहीं हो पाया है। मनोवैज्ञानिक प्रभाव गंभीर हैं—82.9% प्रतिभागियों में आत्मसम्मान में कमी एवं 57.1% में अवसाद के लक्षण पाए गए, लेकिन विद्यालयों में परामर्श जैसी सुविधाओं का पूर्ण अभाव है। अल्पसंख्यक तनाव (minority stress) सिद्धांत की पुष्टि करते हुए यह अध्ययन बताता है कि लगातार भेदभाव का सामना कर रहे किन्नर व्यक्तियों के मानसिक स्वास्थ्य पर इसका विनाशकारी प्रभाव पड़ता है। सकारात्मक पहलू यह है कि 62.9% प्रतिभागी आगे पढ़ने की इच्छा रखते हैं, जो दर्शाता है कि शिक्षा के प्रति अरुचि नहीं, बल्कि अवसरों का अभाव मूल समस्या है। इसलिए, केवल कानूनी प्रावधान

पर्याप्त नहीं हैं; इनके प्रभावी क्रियान्वयन, शिक्षक प्रशिक्षण, संरचनात्मक सुविधाओं के विकास, एवं सामाजिक संवेदनशीलता के विस्तार की तत्काल आवश्यकता है। तभी एक सच्चा समावेशी एवं समतामूलक समाज का निर्माण संभव हो सकेगा।

सुझाव

प्रस्तुत अध्ययन के निष्कर्षों के आधार पर किन्नर समुदाय के शैक्षिक समावेशन हेतु बहुस्तरीय सुझाव दिए जा रहे हैं। नीति निर्माताओं के लिए सर्वप्रथम शिक्षा मंत्रालय के 2021 के परिपत्र का सख्ती से क्रियान्वयन आवश्यक है, जिसके तहत लैंगिक तटस्थ वर्दी एवं शौचालय अनिवार्य किए जाएँ, क्योंकि 82.9% प्रतिभागियों ने शौचालयों की अनुपलब्धता और 74.3% ने वर्दी संबंधी समस्याओं को बाधा बताया। साथ ही, ट्रांसजेंडर छात्रवृत्ति एवं अन्य सरकारी योजनाओं का व्यापक प्रचार समुदाय-आधारित संगठनों के माध्यम से किया जाए, क्योंकि केवल 14.3% प्रतिभागियों को इन योजनाओं की जानकारी थी। विद्यालयों में काउंसलर की अनिवार्य नियुक्ति की जाए, विशेष रूप से लैंगिक मुद्दों पर प्रशिक्षित काउंसलर, ताकि 82.9% प्रतिभागियों में पाए गए आत्मसम्मान की कमी एवं 57.1% में पाए गए अवसाद के लक्षणों का समय पर उपचार संभव हो सके।

सारणी संख्या 9 : सुझाव

सुझाव	प्रतिशत
स्कूलों में लैंगिक तटस्थ शौचालय हों	88.6%
शिक्षकों को संवेदनशीलता प्रशिक्षण दिया जाए	82.9%
वर्दी में लचीलापन हो (लैंगिक तटस्थ विकल्प)	77.1%
पाठ्यक्रम में किन्नर समुदाय का सम्मानजनक उल्लेख हो	71.4%
सरकारी योजनाओं की जानकारी व्यापक रूप से फैले	68.6%
स्कूलों में काउंसलर की व्यवस्था हो	62.9%

"हम चाहते हैं कि हमारे बच्चे हमारी तरह न भटकें। उन्हें पढ़ने का मौका मिले, नौकरी मिले। इसके लिए स्कूलों को हमारे लिए दरवाजे खोलने होंगे।" – मितवा संकल्प समिति की सदस्या, रायपुर

शिक्षकों एवं विद्यालय प्रशासन के लिए अनिवार्य संवेदनशीलता प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए, जिसमें सभी शिक्षकों को लैंगिक विविधता के प्रति संवेदनशील बनाया जाए, क्योंकि 65.7% प्रतिभागियों ने शिक्षकों के भेदभावपूर्ण व्यवहार का अनुभव किया। यूनेस्को (2020) के अनुसार, समावेशी शिक्षा के लिए शिक्षक प्रशिक्षण अनिवार्य है। बदमाशी एवं उत्पीड़न के खिलाफ शून्य-सहनशीलता नीति लागू की जाए, क्योंकि 71.4% प्रतिभागियों ने सहपाठियों द्वारा मौखिक उत्पीड़न का सामना किया। पाठ्यक्रम को समावेशी बनाया जाए, जिसमें पाठ्यपुस्तकों में किन्नर समुदाय का सम्मानजनक उल्लेख सुनिश्चित किया जाए, क्योंकि 91.4% प्रतिभागियों ने बताया कि स्कूल की किताबों में किन्नर समुदाय का कभी उल्लेख नहीं था।

समाज एवं परिवारों के स्तर पर पारिवारिक स्वीकृति को बढ़ावा देने के लिए परिवार परामर्श कार्यक्रम चलाए जाएँ, क्योंकि 77% प्रतिभागियों को परिवारिक अस्वीकृति का सामना करना पड़ा। फॅमिली एक्स्पेटेन्स (2019) के अनुसार, पारिवारिक स्वीकृति एल जी बी टी क्यू युवाओं के मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। समाज में फैली रूढ़िवादिता को तोड़ने के लिए व्यापक जागरूकता अभियान चलाए जाएँ, जिसमें मीडिया, सामुदायिक संगठनों एवं शिक्षण संस्थानों की सक्रिय भागीदारी हो। इन सुझावों के प्रभावी क्रियान्वयन से ही किन्नर समुदाय के शैक्षिक समावेशन का सपना साकार हो सकेगा और एक सच्चे समतामूलक समाज का निर्माण संभव होगा।

संदर्भ :

अमेरिकन साइकोलॉजिकल एसोसिएशन. (2015). *गाइडलाइन्स फॉर साइकोलॉजिकल प्रैक्टिस विद ट्रांसजेंडर एंड जेंडर नॉनकन्फॉर्मिंग पीपल*. वाशिंगटन, डी.सी.: APA.

केसलर, आर. सी., एट अल. (2002). शॉर्ट स्क्रीनिंग स्केल्स टू मॉनिटर पॉपुलेशन प्रीवेलेंसेस एंड ट्रेंड्स इन नॉन-स्पेसिफिक साइकोलॉजिकल डिस्ट्रेस. *साइकोलॉजिकल मेडिसिन*, 32(6), 959-976.

क्रैसवेल, जे. डब्ल्यू., एवं प्लानो क्लार्क, वी. एल. (2011). *डिज़ाइनिंग एंड कंडक्टिंग मिक्स्ड मेथड्स रिसर्च* (द्वितीय संस्करण). सेज पब्लिकेशन्स.

गवर्नमेंट ऑफ कनाडा, डिपार्टमेंट ऑफ एजुकेशन. (2018). *कैनेडियन स्कूल क्लाइमेट पॉलिसी फॉर LGBTQ+ इन्क्लूजन*. ओटावा: गवर्नमेंट ऑफ कनाडा.

जीएलएसईएन. (2021). *स्कूल क्लाइमेट इन यूरोप: एनुअल इन्क्लूजन इंडेक्स*. न्यूयॉर्क: GLSEN.

टाइम्स ऑफ इंडिया. (2024, अक्टूबर 15). सेन्सिटाइज़ेशन प्रोग्राम रेज़ेज़ अवेयरनेस अबाउट ट्रांसजेंडर कम्युनिटी इश्यूज़. *टाइम्स ऑफ इंडिया*, रायपुर.

न्यूजीलैंड मिनिस्ट्री ऑफ एजुकेशन. (2020). *क्वीयर टीचर्स ऑफ इन्क्वायरी प्रोग्राम*. वेलिंगटन: मिनिस्ट्री ऑफ एजुकेशन.

फैमिली एक्सेप्टेंस प्रोजेक्ट. (2019). *फैमिली एक्सेप्टेंस एंड रिजेक्शन ऑफ LGBTQ यूथ*. सैन फ्रांसिस्को: फैमिली एक्सेप्टेंस प्रोजेक्ट.

ब्रॉन, वी. एवं क्लार्क, वी. (2006). यूज़िंग थीमैटिक एनालिसिस इन साइकोलॉजी. *क्वालिटेटिव रिसर्च इन साइकोलॉजी*, 3(2), 77-78

भारत सरकार, विधि और न्याय मंत्रालय। (2019). *ट्रांसजेंडर व्यक्ति (अधिकारों का संरक्षण) अधिनियम, 2019*. नई दिल्ली: भारत सरकार.

यादव, शालिनी. (2021). रीज़न्स ऑफ एक्सक्लूज़न ऑफ ट्रांसजेंडर/किन्नर ऑर हिजड़ा इन एजुकेशन: सिलेक्ट केस स्टडीज़ फ्रॉम दिल्ली. *इंटरनेशनल एजुकेशन एंड रिसर्च जर्नल (IERJ)*, 7(6).

यामाने, टी. (1967). *स्टैटिस्टिक्स: एन इंट्रोडक्टरी एनालिसिस* (द्वितीय संस्करण). हार्पर एंड रो.

यूनेस्को. (2017). *आईसीटी इन एजुकेशन फॉर इन्क्लूसिव लर्निंग*. पेरिस: यूनेस्को.

यूनेस्को. (2020). *इन्क्लूजन एंड एजुकेशन: ऑल मीन्स ऑल*. पेरिस: यूनेस्को.

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग, भारत. (2018). *ट्रांसजेंडर व्यक्तियों के अधिकारों पर रिपोर्ट*. नई दिल्ली: NHRC.

लिंकन, वाई. एस., एवं गुबा, ई. जी. (1985). *नेचुरलिस्टिक इन्क्वायरी*. सेज पब्लिकेशन्स.

लॉश, सी. एच. (1975). अ क्वांटिटेटिव अप्रोच टू कंटेंट वैलिडिटी. *पर्सनल साइकोलॉजी*, 28(4), 563-575.

विश्व बैंक. (2014). द *इकोनॉमिक कॉस्ट ऑफ स्टिग्मा एंड द एक्सक्लूज़न ऑफ LGBT पीपल: अ केस स्टडी ऑफ इंडिया*. वाशिंगटन, डी.सी.: विश्व बैंक.

विश्व स्वास्थ्य संगठन. (2013). *मेंटल हेल्थ एक्शन प्लान 2013–2020*. जिनेवा: WHO.

शर्मा, अरविंद. (2024). बाल किन्नरों का मनोविज्ञान और उनकी समस्याएँ. *अपनी माटी* (ऑनलाइन पत्रिका).

शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार. (2021). *स्कूलों में लैंगिक तटस्थ वर्दी, शौचालय और संवेदनशीलता प्रशिक्षण पर परिपत्र*. नई दिल्ली: शिक्षा मंत्रालय.

सर्वोच्च न्यायालय भारत. (2014). *एनएएलएसए बनाम भारत संघ (रिट याचिका (सिविल) संख्या 400/2012)*. नई दिल्ली: भारत का सर्वोच्च न्यायालय.

सिंह, बी. के., एवं कावरे, एस. एस. (2025). समावेशी विद्यालय के सृजन व समावेशी क्रिया कलापों के क्रियान्वयन में प्रधानाचार्य एवं शिक्षक: एक विश्लेषणात्मक अध्ययन. *इंटरनेशनल जर्नल फॉर मल्टीडिसिप्लिनरी रिसर्च*, 7(5).

सिंह, बी.के. (2023). नीति और व्यवहार का अंतराल: भारत में ट्रांसजेंडर शिक्षा की चुनौतियाँ. *भारतीय शिक्षा शोध पत्रिका*, 45(2), 112-125.

Received: 06 .01.2026 | Accepted: 10.01.2026 | Published: 30.01.2026

Learning Styles as Predictors of Schema Development in Elementary Language Education: An Experimental Study among Native Hindi Learners

RANU MONDAL*
mondalranu4321@gmail.com

ABSTRACT

Knowledge is a composition of factual schema and conceptual schema. Factual schema is consisted of fact schema and procedure schema whereas conceptual schema is formed with concept and principle schema. The present study examines the effectiveness of Blended Instructional Strategy (BIS) and Traditional Instructional Strategy (TIS) on the principle schema among native speakers of Hindi, in respect to their learning styles. The students of class VIII who consider hindi as their mother tongue or home language were considered as the native speakers. For conducting experiment, a quasi-experimental pretest-posttest group design was employed. Total 217 students participated in the study. The experimental group incorporated 107 students and the control group had 110 students. The experimental group was taught through Blended Instructional Strategy and the control group was taught through Traditional Instructional Strategy. Before considering any statistical technique homogeneity among various groups were test. The pre-test and post-test scores were analyzed by using the 't'-test through SPSS 23. Over all the findings established the effectiveness of Blended Instructional Strategy on the learning of principle schema among native speakers of hindi. The study also signifies that Blended Instructional Strategy was equally effective on all the learning styles i.e active-reflective, visual-verbal, sensing-intuitive and sequential -global.

KEYWORDS:

Instruction, Blended Instructional Strategy, native speakers, learning style, principle schema, Hindi language.

Introduction

Language learning is a complex process. It require a deep understanding of the underlying principles and rules that govern the language. Schema is a fundamental component of language learning and play an important role in helping learners understand process and procedure language. Schema is a mental framework or structure that helps individuals understand and interpret language. schema helps learners in understanding and processing information. For example, when learners encounter new words or grammar structure, they rely on their existing schema to make new sense of the information. As learners continue expand and become more complex, allowing them to

* **Assistant professor, Department of Education, Banasthali Vidyapith, Rajasthan, India**

understand and produce more sophisticated language. Schema can also help learners make connections between different aspects of the language, such as vocabulary and grammar. For example, learners may create a schema that connects a particular verb with the preposition that commonly follow it Schema can be of many types like linguistics schema, cultural schema, social schema, stereotype schema etc. *A. J. Romiszowski* in 1988 has coined a term knowledge schemata to define several aspect of knowledge. According to him *'knowledge of a particular topic is seldom of one type, but is usually a combination pf several types of factual and conceptual knowledge, both concrete and verbal, some as coherent schema and some as discrete unrelated items.'* Knowledge schemata is subdivided into two schema as factual and conceptual schema, then factual schema is further divided into fact and procedure schema, whereas conceptual schema is subdivided into concept and principle schema. The main focus of the present study is to study the effect of blended instructional stratergy over the principle schema, which is a type of conceptual schema. Principle schema includes *'all principles or rules that we can observe to be in operation in the world around us, either by direct observation or by inference from their effects.'* For the sake of present study principle schema are the grammar of hindi language at elementary level which helps in generating sentences and analysing sentence structure.

Grammar is an essential part of language learning. When language is use for oral communication grammar plays an important role as it ensure that both speaker and listener use same code, in the absence of it effective communication is shatter, similarly while writing a language grammar is equally important *(Rossiter, 2021).*

Rationale of the Study

Hindi is the fourth most spoken language globally, with over 500 million speakers worldwide. In India, hindi is the official language and it is taught as first, second and third language in schools. Language acquisition is a complex process that requires a effective instructional strategies to enhance their learning outcomes. The principle schema is a critical aspect of language acquisition that allows learners to make sense of the language. Principle schema involve the grammatical structure, vocabulary and sentence structure of the language . it is crucial aspects of language acquisition that needs to be taught effectively to enhance learners 'comprehension and communication skills. Therefore understanding of the effectiveness of blended instructional stratergy on the principle schema among native speakers of hindi is important in terms of the learning styles of the students. The findings of the study will be valuable to language teachers and educators in developing effective teaching strategies for promoting principle schema and it will also contribute to the existing literature on language acquisition.

Review of Related Research literature

Several studies have been conducted to examine the effectiveness of instruction on grammar learning. *Elbashie. et. al (2022)* had examine the impact of traditional teaching and teaching with blackboard platform on the academic score of English grammar. The study shows a significant difference in the scores of control and experimental group. The experimental group had performed better relatively better than the control group taught with traditional method of teaching. Similarly *Dib, N. (2022) , Li, Rui. (2022), Ramalingam et. al. (2022), Cwiek, S. S. (2022), Wang, C. (2021) , Tahir, et al. (2020)* found that learners perform well in the principles and rules of language when taught with integration of information and communication technology with traditional method of

teaching, merely teaching only with traditional method of chalk and board is less effective on the learning of principles schema of languages.

Learning styles refers to an individual's prefer way of learning and acquiring information. There are several different learning styles like visual, auditory, kinetics etc. *Mederos. et al. (2021)* and *Zang (2017)* found that learning styles and academic achievements are positively correlated. *Roy. R and Mondal .R (2023)* conducted a study to examine the effect of blended instructional stratergy on the hindi achievement of native speakers in respect to their learning styles. The study revealed that blended instructional stratergy is effective on the hindi language achievement and all the learning styles are equally benefited. *Tirkey, N. et. al. (2018)* conducted a study identify the impact of blended instruction on the achievement of science in respect to the learning style. This study reveals that blended learning strategy is effective on concept schema only for active, reflective and theorist learning style students were as pragmatics learner are not benefited by blended learning strategy. *Tirkey, N. et. al. (2017)* conducted a study on Honey and Mumford learning style inventory to identify the learning styles of class 9^{th} students.. The study revealed that active, reflective and pragmatist learners had performed better with blended instructional stratergy. And both the instruction was not effective for theorist learning style students. *Roy, R. et al. (2020).* conducted a study to investigate the effect of blended instructional strategy on the principle schema of secondary school biology learner of Jharkhand in relation to their learning style. It was found that blended learning strategy is has positive impact on the principle schema of biology achievement who has reflective and theorist preference for learning style. On the other side students who has pragmatist and activist learning preference have not benefited with blended learning strategy on the principle schema of biology learner. *Tirkey, N. et. al. (2019)* conducted a study to find the effect of blended instructional and traditional instructional strategy on the procedure schema of class ix biology students in respect to their learning styles and found that blended learning strategy is effective on the procedure schema of students and activist, reflective, theorist and pragmatist learning style students have learn well the procedure schema in biology. Similar study on concept schema was conducted by *Tirkey, N. et. al. (2018).* the study reveals that blended learning strategy is effective on concept schema only for active, reflective and theorist learning style students were as pragmatics learner are not benefited by blended learning strategy. Another study by *Tirkey, N. et. al. (2018)* was conducted to Investigated the effect of blended and traditional instructional stratergy on the fact schema of life science achievement. The results showed that blended instructional stratergy was effective on the fact achievement of life science. The students with learning styles active, reflective and theorist found blended instructional strategy beneficial, but the pragmatist learner does not find blended instructional strategy effective.

Objectives of the Study

The main objective of this study was to study the impact of blended instructional strategy (BIS) and traditional instructional strategy (TIS) on the principle schema of native speakers with respect to the learning styles of the native speakers i.e sensing-intuitive, visual-verbal, active-reflective and sequential- global.

Following were the four sub-objectives that were developed to help with the main objectives:

1. To identify the learning-styles of native speakers.

2. To determine which instruction is effective on the principle schema of native speakers.
3. To determine which instruction is effective on the principle schema of native speakers, with the perceptual dimension of the learning styles.
4. To determine which instruction is effective on the principle schema of native speakers, in relation to the input dimension of the learning styles.
5. To determine which instruction is effective on the principle schema of native speakers, with the processing dimension of the learning styles.
6. To determine which instruction is effective on the principle schema of native speakers, in relation to the understanding dimension of the learning styles.

Hypotheses

The null hypotheses for the present study are as follow:

$H_0$1 There is no significant difference in the effect of blended and traditional instructional strategies on the principle schema of native speakers.

$H_0$2 There is no significant difference in the effect of blended and traditional instructional instruction strategies on the principle schema of native speakers with the perception dimension (Sensing, balance and intuitive) of learning styles.

$H_0$3 There is no significant difference in the effect of blended and traditional instructional strategies on the principle schema of native speakers with the input dimension (visual, balance and verbal) of learning styles.

$H_0$4 There is no significant difference in the effect of blended and traditional instructional instruction strategies on the principle schema of native speakers in relation to the processing dimension (active, balance and reflective) of learning styles.

$H_0$5 There is no significant difference in the effect of blended and traditional instructional instruction strategies on the principle schema of native speakers in relation to the understanding dimension (sequential, balance and global) of learning styles.

Methodology

Methodology is a crucial part of the research. The components of the methodology selected for the present study was discussed below:

Design of the Study

For conducting this experimental study pretest-posttest nonequivalent group design was selected.

Participants of the Study

Class VIII students of the West Bengal Board, who are studying Hindi language as a first language formed the sample for this study. In total 217 students were selected and then they were divided into the experimental and control group. The experimental group incorporates 107 students whereas the control group have 110 students.

Experimental Intervention

In order to determine the learning preferences of Hindi native speakers, the researchers first gave both the experimental group and the control group access to a learning style questionnaire created by Felder Solomon (1997).

A pretest was administered to record the students' entry level knowledge of principle schema. After that, for four weeks, the experimental group received teaching using a Blended Instructional Strategy (BIS), while the control group received instruction using a standard instructional strategy (TIS). A post-test was conducted on both groups after the experiment was finished in order to compare the impact of the instructions on the principle schema of native speakers.

Measuring Tools

For the present study, the following instruments were used for collecting data from the sample:

i) Learning style questionnaire

Felder-Soloman (1997) was used for this study. For better comprehension of students, the learning style questionnaire was translated into Hindi. The direct translating technique was used for translation, grammar, sentence structure and content matter have been given special importance while translating. the test-retest method was adopted for testing the reliability of the tool and the reliability value was 0.83.

ii) Self-made Hindi language achievement test

The Hindi language achievement test was constructed by the researchers to find the impact of both the instructions on the fact schema of a native speaker.

Two Hindi language achievement test was constructed for this study. A pre-test was constructed to test the entry-level knowledge and a post-test was constructed to test the effect of instruction on fact schema in both groups. The inter-rater reliability score for the pre-test was 85% and 84% for the post-test. The content validity ratio (CVR) was 0.83 and 0.85 for the pre-test and post-test respectively from the scores it was clear that both tests were reliable and valid.

Statistical Technique

For statistical technique, the data was tested to assure homogeneity among variance. For testing homogeneity, F-test and Bartlett's-test test were used. Table 1 shows the homogeneity among the experimental and control group.

Table 1: test of homogeneity among experimental and control group

Schema	Group	N	M	SD	F_{max}-test	Bartlett's-test	Remark
Principle	BIS	107	2.04	1.16	1.1	.389	Homogeneous
	TIS	110	1.57	1.37			

Similarly homogeneity of various group formed on the basis of learning styles of students were also checked, the detail is given in table 2. The group which fulfill the criteria of homogeneity have

further gone for t-test and those groups which are not homogeneous are analysed using welch's t-test. Among perception dimension all three groups of sensing, balance and intuitive learning styles are homogeneous. Under input dimension the groups of visual, balance and verbal learning style among the experimental and control group are also homogeneous. For processing dimension the group of active and balance learning styles are homogeneous and the control and experimental group of reflective learning styles are heterogeneous. Similarly under the understanding dimension all the control and experimental groups of sequential, balance and global learning styles are homogeneous in terms of variance.

Table 2: test for homogeneity of variance of perception, Input, Processing and understanding dimension among the native speakers

Perception Dimension										
Speakers	**Learning styles**	**School**	**Group**	**N**	**M**	**SD**	**Variance**	**F_{max}-test**	**Bartlett's-test**	**Remark**
Native	Sensing	1	BIS	60	2.08	1.22	1.50	1	.808	homogeneous
		2	TIS	40	2.03	1.27	1.61			
	Balance	1	BIS	29	1.97	1.14	1.32	1.08	.615	homogeneous
		2	TIS	43	2.28	1.05	1.11			
	Intuitive	1	BIS	18	2.00	.970	.941	1.2	.291	homogeneous
		2	TIS	27	2.30	1.23	1.52			
Input Dimension										
Speakers	**Learning styles**	**School**	**Group**	**N**	**M**	**SD**	**Variance**	**F_{max}-test**	**Bartlett's-test**	**Remark**
Native	Visual	1	BIS	39	1.95	1.14	1.31	1.03	.859	homogeneous
		2	TIS	35	2.11	1.18	1.39			
	Balance	1	BIS	40	2.03	1.12	1.25	1	.978	homogeneous
		2	TIS	57	2.02	1.12	1.26			
	Verbal	1	BIS	28	2.18	1.24	1.56	1.09	.656	homogeneous
		2	TIS	18	2.89	1.13	1.28			

Processing Dimension										
Speakers	**Learning styles**	**School**	**Group**	**N**	**M**	**SD**	**Variance**	**F_{max}-test**	**Bartlett's-test**	**Remark**
Native	Active	1	BIS	49	1.94	1.18	1.39	1.08	.624	homogeneous
		2	TIS	36	1.94	1.09	1.19			
	Balance	1	BIS	43	2.37	1.15	1.33	1.06	.719	homogeneous
		2	TIS	27	2.15	1.23	1.51			
	Reflective	1	BIS	15	1.40	.737	.543	1.6	.042	hetrogeneous
		2	TIS	47	2.40	1.19	1.42			

Understanding Dimension										
Speakers	**Learning styles**	**School**	**Group**	**N**	**M**	**SD**	**Variance**	**F_{max}-test**	**Bartlett's-test**	**Remark**
Native	Sequential	1	BIS	59	1.97	1.18	1.41	1.07	.666	homogeneous
		2	TIS	24	2.50	1.10	1.21			
	Balance	1	BIS	21	2.05	1.11	1.24	1	.951	homogeneous
		2	TIS	33	2.03	1.10	1.21			
	Global	1	BIS	27	2.19	1.14	1.31	1.08	.625	homogeneous
		2	TIS	53	2.15	1.24	1.55			

Findings

The first objective of the study was to identify the learning-styles of native speakers. Table 3 shows the results pertaining to the above mentioned objective. In processing dimension, the numbers of students preferred active, balance and reflective learning style were 49, 43 and 15 in blended instructional strategy and 36, 27 and 47 in traditional instructional strategy respectively. In perception dimension, the number of students preferred sensing, balance and intuitive learning style were 60, 29 and 18 among blended instructional strategy and 40, 43 and 27 among traditional instructional strategy respectively. In input dimension the number of students preferred visual, balanced and verbal learning styles were 39,40 and 28 among blended instructional strategy and 35, 57 and 18 among traditional instructional strategy respectively. In understanding dimension the number of students preferred sequential, balanced and global learning styles were 59, 21 and 27 among blended instructional strategy and 24, 30 and 47 among. Traditional instructional strategy respectively.

Table 3 The learning styles of native speakers in different instructional group.

Dimensions	**Experimental group(BIS)**			**Control group(TIS)**		**Total (BIS+TIS)**	
	Learning style	**Frequency**	**%**	**Frequency**	**%**	**Frequency**	**%**
Processing	Active	49	46	36	33	85	39
	Balanced	43	40	27	25	70	32
	Reflective	15	14	47	42	62	29
	Total	**107**	**100**	**110**	**100**	**217**	**100**
Perception	Sensing	60	56	40	36	100	46
	Balanced	29	27	43	39	72	33
	Intuitive	18	17	27	25	45	21
	Total	**107**	**100**	**110**	**100**	**217**	**100**

Input	Visual	39	37	35	32	74	34
	Balanced	40	38	57	52	97	45
	Verbal	28	25	18	16	46	21
	Total	**107**	**100**	**110**	**100**	**217**	**100**
Understanding	Sequential	59	55	24	23	83	38
	Balanced	21	20	33	30	54	25
	Global	27	25	53	47	80	37
	Total	**107**	**100**	**110**	**100**	**217**	**100**

After testing the first null hypothesis of the study *'There is no significant difference in the effect of blended and traditional instructional strategies on the principle schema of native speakers.'* It was found that the 't' value is 11.52. which is greater than the table value at 0.05 and 0.01 level of significance with 215 df. Hence the null hypothesis is rejected. Thus it can be concluded that native speakers have learned well the principle schema when taught with Blended Instructional Strategy. Table 4 represents the mean score of principle schema among native speakers.

Table 4 The principle schema scores of Blended instructional strategy and Traditional instructional strategy of native speakers.

Pair	Instruction	Test	N	Mean	SD	df	't'-test	p	Remarks
1	BIS (Experimental)	Pre- test	107	2.04	1.15	212	9.54	.000	Significant
		Post- test	107	3.47	1.04				
2	TIS (Control)	Pre-test	110	2.19	1.17	218	3.60	.000	Significant
		Post- test	110	1.57	1.37				
3	BIS	Post- test	107	3.47	1.04	215	11.52	.000	Significant
	TIS	Post- test	110	1.57	1.37				

$H_0$2 There is no significant difference in the effect of blended and traditional instructional instruction strategies on the principle schema of native speakers with the perception dimension (Sensing, balance and intuitive) of learning styles.

Table 5 shows that all the values of 't' is significant at 0.01 level of significance. Hence the null hypothesis 'There is no significant difference in the effectiveness of instructions on the principle schema of hindi language among native speakers with special reference to perception dimension of learning style' is rejected. It also means that native speakers with sensing, balanced and intuitive learning styles have learn the principle schema effectively when taught with Blended Instructional Strategy.

Table 5 The principle schema scores of native speakers among perception dimension of learning style.

	Perception Dimension								
Schema	**Processing Dimension**	**Group**	**N**	**M**	**SD**	**DF**	**'t'-value**	**'p'-value**	**Remarks**
Principle	Sensing	BIS	60	3.58	1.01	98	7.42	.000	Significant
		TIS	40	1.65	1.59				
	Balanced	BIS	29	3.28	1.06	70	6.03	.000	Significant
		TIS	43	1.56	1.27				
	Intuitive	BIS	18	3.39	1.14	43	4.88	.000	Significant
		TIS	27	1.48	1.37				

H_o3 There is no significant difference in the effect of blended and traditional instructional strategies on the principle schema of native speakers with the input dimension (visual, balance and verbal) of learning styles.

Table 6 shows that all the values of 't' is significant at 0.01 level of significance. Hence the null hypothesis 'There is no significant difference in the effectiveness of instructions on the principle schema of hindi language among native speakers with special reference to input dimension of learning style' is rejected. It also means that native speakers with visual, balanced and verbal learning styles have learn the principle schema effectively when taught with Blended Instructional Strategy.

Table 6 The principle schema scores of native speakers among input dimension of learning style.

	Input Dimension								
Schema	**Processing Dimension**	**Group**	**N**	**M**	**SD**	**DF**	**'t'-value**	**'p'-value**	**Remarks**
Principle	Visual	BIS	39	3.44	1.23	72	5.17	.000	Significant
		TIS	35	1.69	1.67				
	Balanced	BIS	40	3.35	.975	95	8.43	.000	Significant
		TIS	57	1.49	1.13				
	Verbal	BIS	28	3.68	.863	44	5.94	.000	Significant
		TIS	18	1.61	1.50				

$H_0$4 There is no significant difference in the effect of blended and traditional instructional instruction strategies on the principle schema of native speakers in relation to the processing dimension (active, balance and reflective) of learning styles.

Table 7 shows that all the values of 't' is significant at 0.01 level of significance. Hence the null hypothesis 'There is no significant difference in the effectiveness of instructions on the principle schema of hindi language among native speakers with special reference to processing dimension of learning style' is rejected. It also means that native speakers with active, balanced and reflective learning styles have learn the principle schema effectively when taught with Blended Instructional Strategy.

Table 7 The principle schema scores of native speakers among processing dimension (i.e active, balance and reflective) of learning style.

T- Test									
Schema	**Perception dimension**	**Instruction**	**N**	**Mean**	**SD**	**DF**	**T-value**	**P-value**	**Remarks**
Principle	Active	BIS	49	3.37	1.05	83	6.30	.000	Significant
		TIS	36	1.50	1.68				
	Balance	BIS	43	3.74	.759	68	10.09	.000	Significant
		TIS	27	1.44	1.15				
	Welch's t-test								
		Group	**N**	**Mean**	**SD**	**DF**	**T-value**		**Remark**
	Reflective	BIS	15	3	1.51	20	3.02	.000	Significant
		TIS	47	1.70	1.25				

$H_0$5 There is no significant difference in the effect of blended and traditional instructional instruction strategies on the principle schema of native speakers in relation to the understanding dimension (sequential, balance and global) of learning styles.

Table 8 shows that all the values of 't' is significant at 0.01 level of significance. Hence the null hypothesis 'There is no significant difference in the effectiveness of instructions on the principle schema of hindi language among native speakers with special reference to understanding dimension of learning style' is rejected. It also means that native speakers with sequential, balanced and global learning styles have learn the principle schema effectively when taught with Blended Instructional Strategy.

Table 8 The principle schema scores of native speakers among understanding dimension of learning style.

	Understanding Dimension								
Schema	**Processing Dimension**	**Group**	**N**	**M**	**SD**	**DF**	**'t'-value**	**'p'-value**	**Remarks**
Principle	Sequential	BIS	59	3.47	1.04	81	7.37	.000	Significant
		TIS	24	1.50	1.25				
	Balanced	BIS	21	3.57	1.20	52	6.28	.000	Significant
		TIS	33	1.55	1.12				
	Global	BIS	27	3.37	.967	78	5.26	.000	Significant
		TIS	53	1.62	1.58				

Conclusion

The study reveals that blended instructional stratergy is effective on the principle schema of native speakers when taught with blended instructional stratergy. The study also reveals that blended instructional stratergy is also effective on the principle schema of sensing- intuitive, visual -verbal, sequential- global but not effective on the learners of reflective learning style.The study is confined to the native speakers of hindi only. Only the principle schema has been consider for the present study. Further studies can be conducted on other languages other than hindi among various levels of education. Non -native speakers can also be considered for study the effect of blended instructional stratergy on the principle schema of language.

Acknowledgment

This article is based on data derived from the author's doctoral research.

References

Cwiek, S. S. (2022). Foreign Language Learning attrition in a Blended Learning Environment. In *Współczesna glottodydaktyka wobec zmian edukacyjnych. Nowe wyzwania i innowacyjne rozwiązania* ,pp. 69-86).

Dib, N. (2022). The Effect of Blended Instruction on Oral Expression. ELWAHAT journal for Research and Studies. 15(1)- 107-118.

Elbashir, R. M., & Hamza, S. M. (2022). The impact of virtual tools on EFL learners' performance in Grammar at the times of COVID 19 Pandemic. Journal of University Teaching & Learning Practice, 19(3). https://ro.uow.edu.au/jutlp/vol19/iss3/07

Li, Rui. (2022). Effect of Blended Language Learning on EFL's Learners Language Performance :An activity Theory Approach. *Journal of computer Assisted Learning.* 38(5), 1273-1285

Mederos. et. al . (2021). Do Learning Styles Enhance the Academic Performance of University Students? A Case Study. *International Journal of Advanced Computer Science and Applications*, *12*(6). https://doi.org/10.14569/IJACSA.2021.0120686

Ramalingan et al. (2022). Blended Learning Strategies for Sustainable English as a second Language Education: A Systematic Review. *Sustanability.* 14. 8051.

Rossiter. A. (2021). Importance of Grammar. Retrieved from https://files.eric.ed.gov/fulltext/ED613321.pdf

Roy.R and Mondal .R.(2023). Effect of Blended Instructional Strategy (BIS) on Hindi Language achievement of native speakers in relation to their learning styles. Padachina. pp 130-150, ISSN- 2231-1351

Roy, R et al. (2020). Effect of blended and traditional instructional strategies on 'Principle Schema' in life science learning at secondary level students with relation to their learning styles. *International Journal of Research in Humanities and Social Studies.* 7(6),pp 17-27.

Tahir, et al. (2020). *Blended Learning Approach in Arabic Teaching for Non-Native Speaker Students*.. https://doi.org/10.35542/osf.io/hv4dw.

Tirkey, N. et. al. (2017). Learning Styles in relation to different instructional strategies for enhancing leraners' performance in life science in Jharkhand. *International Journal of Research in Humanities and Social Studies.* 4(8). Pp 20-27. ISSN- 2394-6288.

Tirkey, N. et. al. (2018). Effect of blended and traditional Instructional strategies on 'Fact Schema' in life science learning at secondary level students with relation to their learning styles. *Jamia Journal of Education.* 42(2), pp 77-89. ISSN: 2348-3490.

Tirkey, N. et. al. (2019). Effect of blended and traditional instructional strategies on 'Procedure Schema' in life science learning at secondary level students with relation to their learning styles. *Journal of Education and Pedagogy.*XI(1), pp 16-30. ISSN: 0975-0797

Wang, C. (2021). Employing Blended Learning to Enhance Learners' English conversation: A Preliminary Study of Teaching with Hitutor. *Education and Information Technologies*, *26*(2), 2407–2425. Retrieved from https://doi.org/10.1007/s10639-020-10363-5.

Zhang. (2017).The Impact of Learning Styles on Academic Achievement.

DO - 10.6148/IJITAS.2017.1003.04

Received: 07.01.2026 | Accepted: 10.01.2026 | Published: 30.01.2026

Buddhism in the Paradigm of Vedanata Philosophy

DR. NEERU CHOUDHARY*

drneeruchoudhary777@gmail.com

After the Vedic age the thoughts of India took two directions, both of them being continuations of the Vedic thought. The two systems: one is the Purva-mimamsa means former system of investigations and second is Uttar-mimamsa means latter system of investigations. Just as the term means the original text of the Vedas, and consists of the interpretation of the rituals and of the philosophy. The term Upanishad applied to the interpretation of the philosophy and the term Vedanta is used to designate the philosophical investigation[1].

The content of the Vedanta have greater affinity with the content of the Purva - mimamsa and Uttar-mimamsa. In both the systems, the main subject matter was the phenomenon world. Vedanta, as the name suggests, is Ved + Anta, i. e the end of Vedas. There are primarily two sections in the Veda. *Karma Kanda* and *Jnana Kanda*. The last portion i.e *Jnana Kanda* is about Brahma Vidya or knowledge of the Self. This is also known as Upanishad or Vedanta. It is one of the six ancient philosophical systems of Vedic philosophy.

Buddhist Philosophy means the philosophical investigations and systems of inquiry that developed among various Buddhist schools in India following the *Mahaparinirvana* of the Buddha and later spread throughout Asia.[2] The Buddhist path combines both philosophical reasoning and meditation. According to Buddhist Philosophy, the Buddha's main concern was to eliminate suffering, to find a cure for the pain of human existence. His first teaching was Four Noble Truth, Middle Path, theory of Dependent Origination, Karma, and Rebirth and so on. the another main teachings of Buddhist philosophy known as three marks of Existence First is Impermanence (Anicca), it means all things are transitory, nothing lasts. Second is No- Self or No-Soul (Anatta), it means human beings, and all of existence, is without a soul or self. And the third mark of existence is Suffering (Dukkha), it means all of existence not just human existence but even the highest states of meditation, are forms of suffering.

FOUR NOBLE TRUTHS

The four noble truths or "truths of the noble one" are a central feature of the teachings and are put forth in the Dhammacakkappavattana Sutta. The Four Noble Truths are as follows:

1) Suffering
2) Cause of Suffering
3) Cessation/ Destruction of Suffering

* **Asst. Professor (contractual), Department of Buddhist Studies, University of Jammu, Jammu-6**

4) The way that leads to the destruction of Suffering

The first truth Dukkha, often translated as suffering, i.e. life includes pain, getting old, disease, and ultimately death. We also go through psychological suffering like loneliness frustration, fear, embarrassment, disappointment and anger. This is an absolute fact that cannot be denied. [3]This unpleasantness is said to be not just physical pain, but also a kind of existential restlessness caused by the expected facts of our mortality and ultimately by the impermanence of all phenomena. It also arises because of contact with unpleasant events, and due to one desires.

The second truth is cause of suffering that arises out of conditions, mainly 'passion (tanha) and Ignorance (avidya). The root cause of suffering is Desire. Furthermore, there are three of Desire, such as:

a) Sensual Desire
b) Mundane Desire
c) Supra-Mundane Desire

Sensual Desire: This type if desire is a desire for things that we can realize through five sense objects , such as sight(eye) , hearing (ear), feeling (skin), taste(tongue), and smell (nose). i.e. Desire for certain for yummy food, or sounds, desire for attractive sires and smells and so on.

Mundane Desire: This is the desire for something or someone in this world. For example, the desire to be wealthy, muscular, better at something, and so forth.

Supra-Mundane Desire: This is the desire for something, which is beyond this world, viz. heaven, and good rebirth so on.

The Third Noble Truth is cessation of suffering. It means the destruction or cessation of the cause that is responsible for suffering, and that cause is Desire.[4] In other words, if a person wants to be free from suffering, then he or she has to destroy the desire.

The Fourth Noble Truth is a path leading to the destruction of suffering. The Path is the prescription of follow for the destruction of suffering.[5] This path is called the Noble Eightfold Path.

The NOBLE EIGHTFOLD PATH is as under:

1) **Right View:** An understanding or view of the nature of things in the world as they truly are: In particular, one should understanding the first three Noble Truths: a) the nature of suffering, b) the cause of suffering and c) the cessation of suffering.
2) **Right Determination:** Making sure or determined our thoughts and intentions toward others and ourselves are meant to help and support.
3) **Right Speech:** Always communicate to promote harmony and understanding and avoid any harmful communication.
4) **Right Action:** Our actions promote moral and honorable conduct.
5) **Right Livelihood:** The work you do in the world must not harm anyone or anything or compromise any to the precepts.
6) **Right Effort:** Master your thoughts to promote loving-kindness and abolish negativity.

7) **Right Mindfulness:** Awareness of all activities in the body and surrounding that are physical and mental.

8) **Right Concentration**: In association with mediation and involvement in a state of full meditative absorption.

Following this path, that is to say, the Eightfold Path, we can make our mind pure and free from suffering. Our mind is easily influenced by negative thoughts like anger, greed, jealousy, attachment, and the like. It is with proper training, namely the Eightfold Path that we can eradicate negativity in thought and action.

Furthermore, the Eightfold Path has been again reorganized into the Triple Path, such as the Sila, (Right Conduct), Samadhi (Right Concentration), and Prajña (Right Wisdom). The Sila, Samadhi and Prajña are the way to attain emancipation form the mundane life.

LAW OF DEPENDENT ORIGINATION:

The Law Doctrine of Dependent Origination (*Pratityasamutpāda*) is the foundation of all the teachings of Gautama Buddha. The second noble Truth and the Third Noble Truth constitute the doctrine of Dependent Origination. The *Pratityasamutpāda*[6] may be analyzed on the basis of scientific methodology. This doctrine is based on the theory of causality. It means everything is relative, and nothing is permanent. The great twentieth century scientist Albert Einstein also propounded the theory of Relativity which is totally in agreement with the doctrine of Dependent Origination. In short, nothing is permanent in this universe.

The Law of Dependent Origination is primarily the Buddha's insight of understanding suffering and the cessation of suffering without which one is trapped in a cycle of birth and death. The Law is associated with twelve links.[7] Each link is based on the principle of Cause and Effect, which determines one's condition.

The twelve links of Dependent Origination providing a detailed description on the problem of suffering and rebirth are given below:

- **Ignorance** which is an incomplete and imperfect understanding, illusion and unconsciousness, defilement and impurities of the mind is a condition for mental formation.
- **Mental formation** especially that of mental impurities which is the formulation of habitual energy and actions done in the present life which is generally liable to conform to the patterns established in previous lives is the condition for consciousness.
- **Consciousness** which literally is the "Mind" (involving the process of perceiving, comprehending, recognizing, and differentiating) is the condition for name and form.
- **Name and form** which is the combination of spirit and matter, mind and body is the condition for the six senses.
- **The six senses** comprising the eye, ear, nose, tongue, body and the mind which are the tools to external contacts, awareness, and expressions are the conditions for contact.

- **Contact** which is the psychological process created by the six senses, the objects and the consciousness is the condition for feeling.
- **Feeling** which are of three kinds – suffering, pleasure, no-suffering-no-pleasure – is the condition for craving.
- **Craving** which is the sensuous desire, pursuit for pleasures, attachment to gain and fear of loss is the condition for clinging.
- **Clinging** which is the desire to keep and possess material things permanently is the condition for becoming.
- **Becoming** which means, to give birth, create and exist, is the condition for birth.
- **Birth** which implies life is an effect of all mental activities that make the life to happen; it is the condition for aging and death.
- **Aging and death** which arises from birth is the condition for ignorance.

Since the entire twelve links are inter-related and dependent upon each other, and since there is neither a starting point nor an ending point, they are cyclic phenomena.[8] This conception of causal interdependence is the most important of all Buddhist principles. It describes the law of nature, which exists as the natural course of things.

The Law of Dependent Origination can be basically understood in three ways:

- **Related to Cause and Effect**: One reaps what one sows; this is why Buddhism emphasizes in changing fate by changing conditions.
- **Related to Inter-dependency**: There is no independent existence; nothing has its own nature of existence.
- **Related to Profundity**: For all phenomena, the existence of the reality of nature is dependent upon a number of causal factors, and also impermanent.

This is how life arises, exists and continues, and how suffering arises. These factors may be understood as sequentially spanning over a period of three life-times; the past life, the present life, and the future life.[9] In the dependent origination, ignorance and mental formation belong to the past life, and represent the conditions that are responsible for the occurrence of this life. The following factors, namely, consciousness, mental and physical phenomena, the six senses, contact, sensation, desire, clinging and becoming, are factors involved in the present life. The last two factors, birth and decay and death, belong to the future life.

THREE CHARACTERISTICS OF PHENOMENA:

The Buddha says that we have to examine our experience in order to discover its most invasive features - the universal characteristics of three phenomena,[10] namely, *Anitya* (Impermanence), *Duhkha* (Suffering), and Anatma (No Soul).

All that exists in the universe is subject to three phenomena:

- *Anitya* (Impermanence) **-** Everything is limited to a certain duration and, consequently, liable to disappear.

- *Duhkha* (Suffering) - Everything is unsatisfactory. There is nothing that can be relied upon. There is nothing that can bring true happiness.
- Anatma (No Soul) - Everything is deprived of a self. There is no self-inherent entity, nothing that can be controlled.

FIRST PHENOMENON: ANITYA (IMPERANENCE)

Anitya means the absence of continuity and permanence. Anitya is a universal law that is applicable to all phenomena of the universe, indeed to all our sensual experiences.

Everything that occurs in the world, perceived by us, is inherently subject to decay, as soon as it appears. The aspect of change, the aspect of impermanence is vividly shown by the simple fact that phenomena appear.

Anitya is a characteristic common to all phenomena, which pertain to our conscious and physical experiences.[11] It is the result of training into various spiritual exercises or multicolored meditation techniques. Therefore, this is not yet the refuge we are searching, a refuge endowed with steadiness, with eternity. Indeed, this refuge doesn't exist.

At the depth, two types of trainings can be followed by us. Some of them belong to a category that we can easily name *samatha* while others belong to the category called *vipassana.* Vipassana is a Pali word that means direct inner sight or vision, superior vision indeed. Superior vision in the sense that it is superiorVe to others, because it is directed by nature, truly speaking an insight into reality.

What is reality? Reality is a non-reversible fact, which is universally verified and that can be applied to all phenomena. That fact is of threefold nature:

All phenomena that appeared will disappear.
All phenomena undergo the law of impermanence, the law of change - *Anitya.*
All phenomena that appeared have a limited duration.

SECOND PHENOMENON: *DUHKHA (SUFFERING)*

Duhkha means sorrow, pain, and suffering. It is a dominant characteristic in the world in which we live. According to the Buddha, the simple fact of living is marked by the characteristic of duhkha, which is suffering manifesting in all its forms. It can be the sorrow that one experiences in sadness, in the misery or the difficulties of this life. It can be also the sorrow that can be felt when one is soaked with pleasure to the point the one the object of pleasure itself becomes disgusting and revolting .It is the pain to be separated from those we love, but it is also that of having to endure the presence of those whom we do not love. It is the pain of not living in places where we would like to live, and also that of being forced to live in places where we do not want to live.

Thus, people live in hope for a better future; this is already in itself a way of admitting that the present is not so pleasant. Unfortunately, it is obvious that the world is full of difficulties. For some people there are unbearable sufferings, some must suffer very serious and very painful diseases. Some suffer accidents or catastrophes. Others, who do not face such cruel sufferings, have, nevertheless, experienced all kinds of sorrows in daily life, like having to work in a firm with people

one does not like, or the difficulty of having lost a close relation, the difficulty of having been ill, or, even, the pain that one can experience when seeing the others' suffering.

It is for this reason that people – almost all – have, in the course of the centuries, imagined a paradise, where all beings live in perfect happiness. For some, this paradise is democracy. For others, it is wealth and prosperity. For some, it is the artificial paradise of drugs; when living amid personal malaise or existential problems.

Hence, we tend to imagine and plan a better world for the future, even in outer space. Thus, it proves that the world in which we live is full of sufferings.

THIRD PHENOMENON: ANATMA (NO SOUL)

Anatma is the most profound and perfect, and at the same point subtlest doctrine ever to have been expounded throughout mankind's history.[12] Its special feature is rooted in the fact that it can only be explored, expounded, revealed and taught, by the Buddha.

Anatma, that is the absence of "self", applicable to everything, every idea, every characteristic and virtually all mental or material phenomena. From this starting point, we can, naturally, give details and explanations so as to understand that in such and such cases, such and such field, in this manner, should the Anitya doctrine are expressed or perceived. The standard description that you probably already heard of lies, for instance, in saying: Let's take a cart. This cart undergoes the law of Anitya. We cannot claim that a cart exists in a true sense. Indeed, if we take it to pieces and we spread it out on the ground, we can no longer claim that this is a cart. However, all its pieces are spread before us.

The Buddha expounds what he conceives to be endowed with this character of absence of "self". He tells: "There is no "atta" (Self) in this body. Because if, in this body, there was an "atta" (Self). At this very moment, "atta" (Self) may have this power to decide or to choose that this body should assume this shape or that."

We can trace back this demonstration in numerous suttas (Discourses). Throughout his life period, he very often used this method in order to make his talks understood. Here is the way he carries out:

Someone is converted that in this body is seated a substance, a seed, an entity, or that in all cases this body and this mind are the emanation of an immutable, unconditioned and eternal principle.

The Buddha tells this fellow:

“Is that body motionless, unchallengeable or does it undergo changes?

It undergoes changes (old age, illness, decay, etc...), Lord.

That which undergoes changes, is it a source of pleasure or a source of dissatisfaction?

That which undergoes changes is a source of dissatisfaction, Lord.

How can a source of dissatisfaction be considered as our property?”

Here one must be crazy to keep in hands a burning coal, which is a source of intense pain. One would be silly to keep this body, which is a source of transformations and dissatisfactions. Here is the specific point that the Buddha, in his demonstration about Anitya focused on. That is the idea of total absence of control. That is not only the idea that there is neither an "owner", nor an "entity". That is also the idea of absence of control as Anitya suggests the total absence of control or mastery.

For example, we would like to put an end to the ageing process. We would like to keep a young, dynamic, flexible and, in every possible way, beautiful and attractive body. However, there is an uncontrollable and natural ageing process taking place. There is no means at all to control that, not only because there is no one, no individual, no ego, but also because it's impossible to control that. It is explained by the simple fact that in this material body, there is no inner regent that controls its material constitution. Neither is there any "self control", nor is found a "self controlling" agent. Matter cannot control itself. The same process is applicable to mental phenomena as well.

In this way, the Three Fold Characteristic of Phenomena has been explained and interpreted.

The distinct contributions of Vedanta to Indian philosophy[13] are mainly Karma theory, Rebirth theory, Vama theory and Maya theory. Vedanta denotes Supreme Reality as being-consciousness-bliss absolute. Through consciousness we are aware of our existence and happiness or bliss .The whole universe is a projection of consciousness. [14]The luminous Self requires no proof. An individual's self-awareness is immediate and direct. Here is the foundation of human knowledge. From here the entire cognitive process starts. It is the luminosity of Consciousness that manifests all objects, physical and psychical. Each and every act of cognition is but an expression of Pure Consciousness through mental modes. Vedanta holds that self is beyond the intellect, mind, and ego. Life and nature are very limited expressions of self and dependent on it.

One of the most illuminating features of Buddhist philosophy is its deep research into the phenomenon of moral causation.[15] Karma means cause and effect apply on everything that is insentient. Vedanta conception of karma and rebirth is a central one from which most of the other schools differs only slightly[16]. According to Vedanta, the ultimate reality pure undifferentiated consciousness, beyond all qualities, includes personality. The term ‘rebirth’ is often used as synonymous with ‘reincarnation’ but the two concepts are different in their implications. Rebirth is said to happen according to one’s desires and activities in a previous life, nevertheless the idea of rebirth need no suggestion of an everlasting individual soul, as it does not have in Buddhism or in the non-dualistic philosophy of Hinduism deriving from the Upanishads. In Buddhism a life is just a set of psychophysical characteristics that constituted a life previous to this as well as a life that will be born after it, in a cause-effect again did not produce an effect-set that requires another life to work itself out. This is the law of karma: where there is a cause, there is an effect.[17] Whatever is an effect, surely has a cause in past (time) and space (others).

CONCLUSION:

To conclude, it can be said that Buddhism is atheistic philosophy whereas Vedanta is a theistic philosophy. The Buddhistic philosophy has flourished in the Paradigm of Vedanta

philosophy. It is important to note that emphasis has been accorded in Buddhism from the stand point of Śramanic tradition and in the Vedanta philosophy the emphasis was given on the basis of Vedic philosophy, however the concepts are different in this perceptive.

References

[1] C.Kunhan Raja, *Some Fundamental Problems in Indian Philosophy,* Delhi: Motilal Banarsidass, Publishsers: Re –print, 1989, p-221.

[2] Niels C., Nielsen, and others, *Religions of the World,* New York:St.Martin's Press,1988, p-203.

[3] Dr. Suraj Narain Sharma, *Buddhist Social and Moral Education*, Delhi, Parimal Publications, 2011, p-128.

[4] Alfonso Verdu, *Early Buddhist Philosophy,* Delhi, Motilal Banarsidass, 1985, p 5-7

[5] P. Lakshmi Narasu, The Essence of Buddhism, Varanasi, Bharatiya Publishing House,1976, pp. 161-165.

[6] S.R. Goyal, *A History Of Indian Buddhism,* Meerut, Kusumanjali Prakashan, 1987,p-127.

[7] P. Lakshmi Narasu, Ibid, P-213.

[8] Rhys Davids, *Outlines of Buddhism,* New Delhi, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd, P-59.

[9] Surendranath Dasgupta, A History of Indian Philsosphy, Delhi, Mitilal Banarsidass ,P-281.

[10] Alfonso Verdu, Ibib, p. 11-13.

[11] Th. Stcherbatsky, *The Central Conception of Buddhism,* Delhi, Published by Royal Asiatic Society, 1922, p. 37

[12] Theodore Stcherbatsky, *The Soul Theory of The Buddhist,*Delhi, Bharatiya Vidya Prakashan, 1976, p. 2

[13] P.S. Kasipandian, *Indian Philosophy a Study Of Hindutva,* New Delhi, Sterling Publishers private Limited, 1991, p. 48.

[14]Walter Ruben, *Indian Philosophy- A Popular Introduction,* Delhi, Attaj Offset Press, 1972, p. 68.

[15] Th. Stcherbatsky, *The Central Conception of Buddhism, ibid*, P. 31.

[16] John H.Hick, *Philiosophy Of Religion*, New Delhi, 1997, Prentice-Hall of India pvt ltd, p. 135.

[17] S S Rama Rao Pappu, *The Dimensions of Karma*, Delhi, Chanakya Publications,1987, p. 166-167.

Received: 08.01.2026 | Accepted: 10.01.2026 | Published: 30.01.2026

नीति से नीयत तक : 'पुरवाई' में समाहित भारतीय ज्ञान की परंपरा

सुजाता दाश*
mishrasujata218@gmail.com

डॉ. इसाबेला लकड़ा†
isabelalakra@gmail.com

सारांश

भारतीय ज्ञान परंपरा मानव जीवन के नैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का समग्र प्रतिपादन करती है। आधुनिक समय में साहित्यिक पत्रिकाएँ इस परंपरा को समकालीन संदर्भों में पुनर्परिभाषित करने का महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में 'पुरवाई' के 02 नवम्बर 2025 अंक का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि अंक की विविध साहित्यिक विधाएँ भारतीय ज्ञान परंपरा के बहुआयामी स्वरूप को अभिव्यक्त करती हैं। संपादकीय, कहानी, कविता, लेख, संस्मरण, व्यंग्य तथा पुस्तक समीक्षा के माध्यम से अंक में नीति और नीयत के संबंध को रेखांकित किया गया है। अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय ज्ञान परंपरा केवल सैद्धांतिक अवधारणा नहीं बल्कि सामाजिक जीवन और सांस्कृतिक व्यवहार का सक्रिय आधार है।

मुख्य शब्द :
भारतीय ज्ञान परंपरा, नीति, नीयत, सांस्कृतिक चेतना, हिंदी साहित्य, समकालीन साहित्य।

प्रस्तावना

भारतीय सभ्यता विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में से एक रही है, जिसकी पहचान उसके ज्ञान और सांस्कृतिक परंपराओं से होती है। भारतीय ज्ञान परंपरा केवल दार्शनिक विचारधारा तक सीमित नहीं रही बल्कि सामाजिक जीवन, नैतिक मूल्यों और पारिवारिक संरचना को भी प्रभावित करती रही है। भारतीय साहित्य ने सदैव इन मूल्यों के संरक्षण और प्रसार का कार्य किया है। समकालीन हिंदी साहित्य में साहित्यिक पत्रिकाएँ भारतीय ज्ञान परंपरा को आधुनिक सामाजिक संदर्भों से जोड़ने का महत्वपूर्ण माध्यम बन रही हैं। 'पुरवाई' का 02 नवम्बर 2025 अंक इसी दृष्टि से विशेष महत्व रखता है, जिसमें विभिन्न साहित्यिक विधाओं के माध्यम से भारतीय जीवन दृष्टि को प्रस्तुत किया गया है। यह अंक नीति और नीयत के मध्य संबंध को स्पष्ट करते हुए भारतीय ज्ञान परंपरा के सामाजिक स्वरूप को रेखांकित करता है।

भारतीय ज्ञान परंपरा : वैचारिक आधार

भारतीय ज्ञान परंपरा व्यक्ति के आचरण, सामाजिक उत्तरदायित्व और सांस्कृतिक चेतना को संतुलित करने वाली व्यवस्था है। भारतीय चिंतन में ज्ञान का उद्देश्य केवल जानकारी प्राप्त करना नहीं बल्कि व्यक्ति के चरित्र निर्माण से जुड़ा हुआ है। भारतीय परंपरा में ज्ञान और नैतिकता को एक-दूसरे का पूरक माना गया है। ज्ञान व्यक्ति को नीति प्रदान करता है जबकि नीयत उस नीति के पालन की आंतरिक प्रेरणा का निर्माण करती है। इस प्रकार भारतीय ज्ञान परंपरा जीवन मूल्यों की समग्र संरचना प्रस्तुत करती है।[1]

* **शोधार्थी (हिंदी), अटल बिहारी वाजपेयी विश्वविद्यालय, बिलासपुर (छ. ग.)**

† **हिंदी प्राध्यापक, शासकीय माता शबरी नवीन कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बिलासपुर (छ. ग.)**

संपादकीय में भारतीय ज्ञान परंपरा का पुनर्मूल्यांकन

अंक का संपादकीय भारतीय ज्ञान परंपरा के गंभीर अध्ययन की आवश्यकता पर बल देता है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि भारतीय ज्ञान परंपरा को केवल गौरवगान तक सीमित करना उचित नहीं है। लेखक ज्ञान और परंपरा के अंतर को स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि परंपरा सामाजिक आचरण से जुड़ी होती है जबकि ज्ञान का संबंध शिक्षा और शोध से होता है।[1]

संपादकीय में भारतीय स्थापत्य कला, योग और आयुर्वेद को भारतीय ज्ञान परंपरा के व्यावहारिक स्वरूप के रूप में प्रस्तुत किया गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि यदि भारतीय ज्ञान परंपरा को वर्तमान समय में प्रासंगिक बनाना है तो उसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जोड़ना आवश्यक है।

कहानी : सामाजिक यथार्थ और नैतिक चेतना

दीपक शर्मा की कहानी यह कहानी आधुनिक सामाजिक परिस्थितियों में व्यक्ति के संघर्ष और नैतिक द्वंद्व को प्रस्तुत करती है। कहानी यह संकेत देती है कि आधुनिक जीवन में आर्थिक और सामाजिक दबावों के बावजूद व्यक्ति नैतिक मूल्यों को बनाए रखने का प्रयास करता है।[2]

महेश शर्मा धार की कहानी यह कहानी भारतीय सामुदायिक जीवन और सहयोग भावना का चित्रण करती है। भंडारा भारतीय संस्कृति में सामूहिकता और सेवा भावना का प्रतीक है। कहानी भारतीय समाज में सामाजिक एकता और परस्पर सहयोग की परंपरा को दर्शाती है।[3]

अंतरा करवड़े की कहानी यह कहानी मानवीय मनोविज्ञान और सामाजिक संबंधों की जटिलताओं को प्रस्तुत करती है। इसमें व्यक्ति के आंतरिक परिवर्तन और आत्ममंथन की प्रक्रिया दिखाई देती है। कहानी भारतीय समाज में भावनात्मक संबंधों की गहराई को रेखांकित करती है।[4]

कविता : संवेदनात्मक, आध्यात्मिक और सामाजिक चेतना का स्वर

'पुरवाई' अंक में प्रकाशित कविताएँ भारतीय ज्ञान परंपरा के संवेदनात्मक और सांस्कृतिक आयामों को गहराई से प्रस्तुत करती हैं। इन कविताओं में पारिवारिक संरचना, आध्यात्मिक चिंतन तथा पर्यावरणीय चेतना जैसे विषय प्रमुख रूप से उभरकर सामने आते हैं।

डॉ. रंजना जायसवाल की कविताएँ : स्त्री जीवन और पारिवारिक मूल्य डॉ. रंजना जायसवाल की कविता "नीम बेहोशी" भारतीय पारिवारिक जीवन में स्त्री की भूमिका, त्याग और जिम्मेदारी को अत्यंत मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करती है। कविता यह दर्शाती है कि भारतीय परिवार व्यवस्था में स्त्री केवल गृहस्थी का संचालन ही नहीं करती बल्कि भावनात्मक संतुलन का भी आधार होती है। कवयित्री लिखती हैं —

"वह घर में सबसे पहले जागती हैं
और सबके सो जाने के बाद सोती हैं
उनके जागने के साथ जागता है
तुलसी का चौरा, आंगन की चिड़िया
और रसोई के बर्तन…"

इन पंक्तियों में भारतीय परिवार व्यवस्था की सांस्कृतिक संरचना तथा स्त्री के श्रम और समर्पण का चित्रण दिखाई देता है। कविता भारतीय ज्ञान परंपरा में स्त्री को परिवार की नैतिक और सांस्कृतिक धुरी के रूप में स्थापित करती है। इनकी कविता स्त्री जीवन की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति प्रस्तुत करती है। कविता में विवाहोपरांत स्त्री के जीवन संघर्ष और त्याग को चित्रित किया गया है। यह कविता भारतीय पारिवारिक मूल्यों और स्त्री की जिम्मेदारी को दर्शाती है।[5]

डॉ. जया आनंद की कविताएँ : आत्मान्वेषण और आध्यात्मिक चेतना डॉ. जया आनंद की कविताएँ मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक अनुभवों को प्रस्तुत करती हैं। उनकी कविता "अंतरिक्ष" व्यक्ति के आंतरिक संसार और मानसिक द्वंद्व को दार्शनिक दृष्टि से अभिव्यक्त करती है। कवयित्री लिखती हैं —

"एक अंतरिक्ष
मेरे भीतर भी समाया
मन वहाँ चक्कर लगाता
कभी ऊर्ध्व गति, कभी अधोगति…"

कविता का अंतिम भाव भारतीय दार्शनिक परंपरा की मूल अवधारणा को व्यक्त करता है —

"भर उच्छवास पा जाता जीवन की लय
और गुंजित होता
सत्यं शिवम् सुंदरम् का अनहद नाद।"

यह कविता भारतीय ज्ञान परंपरा के आध्यात्मिक स्वरूप को प्रस्तुत करती है, जिसमें आत्मचिंतन और मानसिक संतुलन को जीवन की आधारशिला माना गया है। इनकी कविताएँ आत्मान्वेषण और आध्यात्मिक चेतना को प्रस्तुत करती हैं। कविता में "सत्यं शिवम् सुंदरम्" की अवधारणा भारतीय दर्शन की निरंतरता को दर्शाती है। यह कविता व्यक्ति के आंतरिक संतुलन और मानसिक संघर्ष को प्रस्तुत करती है।[6]

डॉ. गीता द्विवेदी की कविताएँ : पर्यावरणीय चेतना और सांस्कृतिक दृष्टि डॉ. गीता द्विवेदी की कविता प्रकृति संरक्षण की चेतना को प्रस्तुत करती है। भारतीय संस्कृति में प्रकृति को जीवन का आधार माना गया है और यह परंपरा उनकी कविता में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। कवयित्री लिखती हैं —

"आज लें संकल्प ऐसा,
साँस को हम आस देंगे,
रोपकर पौधा धरा पर,
कुछ तो पावन ही करेंगे।"

कविता आगे पर्यावरण संरक्षण को सामूहिक उत्तरदायित्व के रूप में प्रस्तुत करती है —

"हैं करोड़ों हम यहाँ पर,
एक-एक करें प्रयास,
पर्यावरण रक्षक बनेंगे,
न कि देंगे और त्रास।"

इन पंक्तियों में भारतीय ज्ञान परंपरा का प्रकृति केंद्रित दृष्टिकोण तथा सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इनकी कविता पर्यावरण संरक्षण की चेतना को प्रस्तुत करती है। कविता भारतीय संस्कृति के प्रकृति केंद्रित दृष्टिकोण को दर्शाती है और पर्यावरण संरक्षण को नैतिक जिम्मेदारी के रूप में प्रस्तुत करती है।[7]

कविता का समग्र विश्लेषण

अंक में प्रकाशित कविताएँ भारतीय ज्ञान परंपरा के तीन महत्वपूर्ण आयामों को प्रस्तुत करती हैं —

पारिवारिक और सामाजिक मूल्य
आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चेतना
प्रकृति संरक्षण और पर्यावरणीय संतुलन

इन कविताओं के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय ज्ञान परंपरा केवल धार्मिक या दार्शनिक अवधारणा नहीं बल्कि जीवन के व्यवहारिक पक्ष से जुड़ी हुई सांस्कृतिक चेतना है।

लेख : शिक्षा और वैश्विक दृष्टिकोण

प्रो. अखिलेश मिश्र का लेख भारतीय ज्ञान परंपरा के समकालीन स्वरूप को रेखांकित करता है। लेख में यह प्रतिपादित किया गया है कि भारतीय ज्ञान परंपरा केवल आध्यात्मिक विमर्श तक सीमित नहीं है, बल्कि शिक्षा, सामाजिक

समरसता और वैश्विक शांति की अवधारणा को भी सुदृढ़ करती है।[8] लेखक के अनुसार आधुनिक भारत की नीतियाँ इस ज्ञान परंपरा को व्यवहारिक धरातल पर लागू करने का प्रयास कर रही हैं। समकालीन परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीय सुरक्षा और सामाजिक समरसता को भी भारतीय ज्ञान परंपरा की व्यवहारिक अभिव्यक्ति के रूप में देखा जा सकता है। इस संदर्भ में लेख में यह उल्लेख किया गया है कि "सब केन्द्र सरकार की सशक्त नीतियों से ही संभव हो सका है। इसमें कोई दो राय नहीं है... आज के हालात को देखें तो वे अब सरेंडर कर देश और समाज की मुख्यधारा में शामिल होने को लालायित हैं।" यह कथन शासन-प्रशासन की नीतियों को सामाजिक पुनर्वास और शांति स्थापना से जोड़कर देखता है।[8]

इसी क्रम में आंतरिक सुरक्षा की दिशा में उठाए गए कदमों को रेखांकित करते हुए यह उल्लेख किया गया है कि "छत्तीसगढ़ में एक साथ 208 नक्सलियों ने आत्मसमर्पण किया, जिनमें 110 महिलाएँ और 98 पुरुष शामिल हैं तथा उन्होंने 153 हथियारों के साथ आत्मसमर्पण किया।" यह तथ्य प्रतिबंधित संगठन भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) से जुड़े उग्रवादियों के मुख्यधारा में लौटने की प्रक्रिया को दर्शाता है।[8]

आंतरिक शांति स्थापना के संदर्भ में केंद्रीय गृह मंत्री अमित शाह द्वारा नक्सल उन्मूलन हेतु निर्धारित समयसीमा को भी लेख में महत्वपूर्ण नीति-निर्देशक पहल के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि शासन की कठोर और पुनर्वासोन्मुख नीतियाँ सामाजिक स्थिरता स्थापित करने में सहायक सिद्ध हो रही हैं।[8]

लेख में भारत की वैश्विक सुरक्षा भूमिका का उल्लेख करते हुए रक्षा मंत्री राजनाथ सिंह के वक्तव्यों का संदर्भ दिया गया है, जिसमें उन्होंने पाकिस्तान की सैन्य गतिविधियों के प्रति भारत की सशक्त प्रतिक्रिया की संभावना व्यक्त की है। इसी संदर्भ में भारतीय सेना प्रमुख उपेंद्र द्विवेदी द्वारा आतंकवाद के विरुद्ध कठोर रणनीतिक रुख अपनाने की आवश्यकता पर बल दिया गया है।[8]

दक्षिण एशियाई भू-राजनीतिक परिदृश्य में अफगानिस्तान और पाकिस्तान के बीच बढ़ते तनाव का उल्लेख करते हुए लेख में यह प्रतिपादित किया गया है कि वर्तमान समय में भारत की रणनीतिक और कूटनीतिक स्थिति सुदृढ़ होती जा रही है। इस परिप्रेक्ष्य में भारत को एक संतुलित, शक्तिशाली और नैतिक नेतृत्वकर्ता राष्ट्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[8]

समग्रतः यह लेख भारतीय ज्ञान परंपरा को शिक्षा, शांति, राष्ट्रीय सुरक्षा और वैश्विक संतुलन की व्यापक अवधारणा से जोड़ता है। यह दर्शाता है कि भारतीय चिंतन परंपरा केवल दार्शनिक विमर्श नहीं, बल्कि समकालीन शासन-प्रशासन, सामाजिक पुनर्निर्माण और वैश्विक नेतृत्व की दिशा में भी मार्गदर्शक सिद्ध हो रही है।

व्यंग्य : सामाजिक यथार्थ, सांस्कृतिक मानसिकता और हास्य चेतना

दिलीप कुमार का व्यंग्य "सब चंगा सी !" समकालीन सामाजिक जीवन, खेल संस्कृति और जनमानस की भावनात्मक प्रवृत्तियों को हास्यात्मक शैली में प्रस्तुत करता है। यह व्यंग्य भारतीय ज्ञान परंपरा के उस पक्ष को उजागर करता है जिसमें हास्य और व्यंग्य के माध्यम से सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्त किया जाता है। भारतीय साहित्य में व्यंग्य केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं, बल्कि सामाजिक चेतना और वैचारिक आलोचना का प्रभावी उपकरण रहा है।[9] व्यंग्य की शुरुआत खेल जगत की समकालीन घटनाओं से होती है, विशेष रूप से भारत और पाकिस्तान के क्रिकेट मुकाबलों के संदर्भ में। लेखक व्यंग्यात्मक शैली में लिखते हैं कि क्रिकेट की दुनिया में अनिश्चितताओं के बीच भारत - पाकिस्तान मुकाबले में पाकिस्तान की हार एक स्थायी सत्य बन चुकी है। इसी क्रम में एशिया कप प्रतियोगिता का उल्लेख करते हुए यह बताया गया है कि टूर्नामेंट जीतने के बावजूद ट्रॉफी प्रशासनिक स्तर पर एशियन क्रिकेट काउंसिल के अध्यक्ष मोहसिन नकवी के पास रही, जो खेल प्रशासन और राजनीतिक संरचना पर व्यंग्यात्मक टिप्पणी प्रस्तुत करता है।[9]

व्यंग्य का मुख्य कथानक खेल संस्कृति और जनभावनाओं के माध्यम से सामाजिक मानसिकता को व्यक्त करता है। इसमें विशेष रूप से रॉयल चैलेंजर्स बैंगलोर की दीर्घकालीन प्रतीक्षा और अंततः इंडियन प्रीमियर लीग विजय का प्रसंग प्रस्तुत किया गया है। लेखक यह दर्शाते हैं कि खेल केवल प्रतिस्पर्धा नहीं बल्कि सामाजिक भावनाओं और व्यक्तिगत जीवन निर्णयों

को भी प्रभावित करता है। इस संदर्भ में एक पात्र हंसमुख बरार का चित्रण किया गया है, जिसने आरसीबी की जीत तक विवाह न करने का संकल्प लिया था।

व्यंग्य में क्रिकेट प्रेम और भावनात्मक समर्पण को सांस्कृतिक प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पात्र हंसमुख का संवाद आधुनिक युवा पीढ़ी की भावनात्मक संरचना और खेल के प्रति समर्पण को हास्यपूर्ण शैली में व्यक्त करता है। वह अपनी मित्र कली कौर से प्रस्ताव करते हुए कहता है — "मेरे दिल की पिच में सिर्फ क्रिकेट था... अब दिल की पिच पर क्रिकेट के बाद जो थोड़ी सी जगह बची है, उसमें मैं तुम्हें स्थान देना चाहता हूँ।"

यह संवाद आधुनिक जीवन में खेल, प्रेम और व्यक्तिगत आकांक्षाओं के सम्मिलित स्वरूप को प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत करता है।[9]

व्यंग्य में खेल व्यक्तित्वों के प्रति प्रशंसात्मक भाव को भी सांस्कृतिक प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। विशेष रूप से विराट कोहली को संघर्ष, निरंतरता और समर्पण के आदर्श रूप में प्रस्तुत किया गया है। पात्र अपने प्रेम प्रस्ताव में कोहली के खेल जीवन को प्रेरणा स्रोत बताते हुए कहता है कि जीवन के मैदान में अंतिम क्षण तक संघर्ष करना ही सफलता का मार्ग है। इसी प्रकार एबी डी विलियर्स की बल्लेबाजी शैली को जीवन की अनिश्चितताओं और संभावनाओं के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

व्यंग्य का अंत अत्यंत सरल लेकिन प्रभावशाली संवाद "सब चंगा सी" के माध्यम से होता है, जो भारतीय सामाजिक संस्कृति में सकारात्मकता, स्वीकार्यता और जीवन के सहज दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करता है। यह कथन पंजाबी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का प्रतीक होते हुए भी भारतीय जीवन दर्शन की व्यापक भावना को दर्शाता है।[9]

व्यंग्य का समग्र विश्लेषण

इस व्यंग्य के माध्यम से भारतीय ज्ञान परंपरा के निम्न आयाम स्पष्ट रूप से उभरते हैं —

हास्य और व्यंग्य के माध्यम से सामाजिक आलोचना
खेल संस्कृति और जनमानस की भावनात्मक संरचना
संघर्ष, धैर्य और आशा जैसे जीवन मूल्यों की प्रस्तुति
सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के माध्यम से जीवन दृष्टि का निर्माण

इस प्रकार यह व्यंग्य आधुनिक भारतीय समाज में सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक मनोविज्ञान तथा जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति का प्रभावशाली उदाहरण प्रस्तुत करता है।

संस्मरण : लोकजीवन, सांस्कृतिक स्मृति और परंपरागत आस्था का जीवन्त चित्रण

पद्मा मिश्रा का संस्मरण भारतीय ग्रामीण जीवन, पारिवारिक संस्कार और सांस्कृतिक परंपराओं के जीवंत चित्रण का सशक्त उदाहरण प्रस्तुत करता है। संस्मरण में लेखिका वर्षों बाद अपने ससुराल और पूर्वजों की धरती पर लौटने के अनुभव को भावनात्मक और सांस्कृतिक दृष्टि से अभिव्यक्त करती हैं। भतीजे की सगाई के अवसर पर उनका छपरा आगमन पारिवारिक संबंधों और सांस्कृतिक आत्मीयता का प्रतीक बनकर सामने आता है। लेखिका उल्लेख करती हैं कि शहर में आयोजित पारिवारिक समारोह और परिजनों से मिलन उनके लिए "आंतरिक उल्लास और आत्मिक संतोष" का अनुभव रहा।[10] संस्मरण में शहरी और ग्रामीण जीवन के सांस्कृतिक अंतर्संबंध का सूक्ष्म चित्रण मिलता है। लेखिका बताती हैं कि वे होटल मयूर में ठहरी थीं, जो जगदम कॉलेज के समीप स्थित है। यह विवरण संस्मरण को वास्तविकता से जोड़ते हुए सांस्कृतिक परिवेश की सामाजिक संरचना को भी स्पष्ट करता है।[10]

लेखिका का अपने पैतृक गांव सिद्धपुर-सिधवलिया पहुंचना संस्मरण का भावनात्मक केंद्र बन जाता है। वे लिखती हैं कि पूर्वजों के घर में अब कोई नहीं रहता, फिर भी वह स्थान उनके लिए मंदिर के समान पवित्र है। इस प्रसंग में लेखिका

भारतीय ज्ञान परंपरा में पूर्वजों और पारिवारिक धरोहरों के संरक्षण की भावना को स्पष्ट करती हैं। वह लिखती हैं कि घर केवल ईंट-पत्थर का ढांचा नहीं बल्कि संस्कार, परंपरा और आशीर्वाद का प्रतीक होता है। यह विचार भारतीय सांस्कृतिक दर्शन में परिवार को सामाजिक इकाई के रूप में स्थापित करता है।[10]

संस्मरण में ग्रामीण जीवन की चुनौतियों और सामूहिक जीवन शैली का भी यथार्थ चित्रण मिलता है। लेखिका वर्णन करती हैं कि अत्यधिक वर्षा के कारण धान की फसल नष्ट हो गई थी और जलभराव की समस्या उत्पन्न हो गई थी। इसके बावजूद ग्रामीण समाज कठिन परिस्थितियों में भी आशावादी दृष्टिकोण बनाए रखता है। लेखिका का यह अवलोकन भारतीय ज्ञान परंपरा में सामूहिक सहयोग और धैर्य जैसे जीवन मूल्यों को रेखांकित करता है[13]। संस्मरण का सबसे महत्वपूर्ण भाग लोकआस्था और धार्मिक परंपरा का चित्रण है, विशेष रूप से छठ पर्व का वर्णन। लेखिका बताती हैं कि इस पर्व में संपूर्ण परिवार और गांव के लोग सामूहिक रूप से भाग लेते हैं। वे वर्णन करती हैं कि रात्रि से ही पूजा की तैयारियाँ प्रारंभ हो जाती हैं और परिवार के सदस्य प्रसाद निर्माण तथा पूजा सामग्री एकत्र करने में जुट जाते हैं। इस प्रसंग में लेखिका लिखती हैं कि घर में ऐसा उत्साह था "मानो बेटी के विवाह की तैयारियाँ चल रही हों।" यह वर्णन भारतीय पारिवारिक संस्कृति और सामूहिक धार्मिक चेतना का जीवंत उदाहरण प्रस्तुत करता है।[10]

संस्मरण में छठ पर्व के सामाजिक और सांस्कृतिक महत्व को भी विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। लेखिका बताती हैं कि गांव में नदी न होने के कारण कुएँ के पास अर्घ्य देने की परंपरा रही है। पूजा स्थल पर मिट्टी और बालू से निर्मित छठ माता की प्रतिमा तथा गेंदे के फूलों से सजावट लोक आस्था और प्रकृति के प्रति श्रद्धा का प्रतीक बनती है। लेखिका के अनुसार इस पर्व में सामाजिक भेदभाव समाप्त हो जाता है और सभी लोग समान भाव से सूर्य की उपासना करते हैं। वे लिखती हैं कि इस अनुष्ठान में "अमीर-गरीब, ऊँच-नीच का भेद समाप्त हो जाता है और सामूहिक आस्था का वातावरण निर्मित होता है।" यह विचार भारतीय ज्ञान परंपरा में समता और सामाजिक एकता के सिद्धांत को स्पष्ट करता है।[10]

संस्मरण का भावात्मक पक्ष भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। लेखिका वर्णन करती हैं कि इस पर्व में श्रद्धालुओं की आँखों में आस्था और भावनात्मक संवेदना स्पष्ट दिखाई देती है। उनके अनुसार यह प्राचीन प्रकृति पर्व मनुष्य और प्रकृति के बीच आध्यात्मिक संबंध स्थापित करता है तथा जीवन में पवित्रता और संतुलन का भाव उत्पन्न करता है।[10]

संस्मरण का समग्र विश्लेषण

इस संस्मरण के माध्यम से भारतीय ज्ञान परंपरा के अनेक सांस्कृतिक आयाम स्पष्ट होते हैं —
पारिवारिक धरोहर और पूर्वजों के प्रति सम्मान, ग्रामीण जीवन की सामूहिकता और सहजीवन की भावना, लोक आस्था और प्रकृति आधारित धार्मिक परंपरा, सामाजिक समता और सांस्कृतिक एकता का संदेश, सांस्कृतिक स्मृति और भावनात्मक पहचान का संरक्षण

पुस्तक समीक्षा : साहित्यिक परंपरा की निरंतरता

डॉ. रमेश यादव द्वारा काव्य संग्रह की समीक्षा भारतीय काव्य परंपरा की विविधता को प्रस्तुत करती है। समीक्षा प्रेम, संवेदना और सामाजिक अनुभवों को अभिव्यक्त करती है।[11]

दीपक गिरकर द्वारा कहानी संग्रह की समीक्षा मानवीय संबंधों, प्रेम और जीवन की अनिश्चितताओं को प्रस्तुत करती है। यह समीक्षा समकालीन साहित्य में भावनात्मक संवेदना की निरंतरता को दर्शाती है।[12]

धारावाहिक साहित्य : लोक जीवन का यथार्थ

लखनलाल पाल द्वारा लिखित धारावाहिक भारतीय ग्रामीण जीवन और सामाजिक संरचना को प्रस्तुत करता है। इसमें पारिवारिक संबंधों और सामाजिक परिवर्तनों का चित्रण किया गया है।[13]

समग्र विश्लेषण : नीति से नीयत तक

'पुरवाई' के इस अंक का समग्र अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि भारतीय ज्ञान परंपरा केवल नियमों का संग्रह नहीं बल्कि जीवन दृष्टि है। नीति व्यक्ति के बाह्य आचरण को नियंत्रित करती है जबकि नीयत व्यक्ति के आंतरिक संस्कारों का निर्माण करती है। अंक की सभी विधाएँ यह संकेत देती हैं कि भारतीय ज्ञान परंपरा सामाजिक समरसता, सांस्कृतिक चेतना और नैतिक संतुलन का आधार है। यह परंपरा व्यक्ति को केवल आदर्श प्रस्तुत नहीं करती बल्कि जीवन व्यवहार में उन आदर्शों को लागू करने की प्रेरणा देती है।

निष्कर्ष

'पुरवाई' का यह अंक भारतीय ज्ञान परंपरा के बहुआयामी स्वरूप को समकालीन साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रदान करता है। अंक की रचनाएँ सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों का संतुलित चित्रण प्रस्तुत करती हैं। अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय ज्ञान परंपरा आधुनिक समाज में भी प्रासंगिक है। यह परंपरा व्यक्ति को नैतिक जीवन, सामाजिक उत्तरदायित्व और सांस्कृतिक चेतना की दिशा प्रदान करती है।

संदर्भ :-

1. शर्मा, तेजेन्द्र. (2025, नवम्बर 01). भारतीय ज्ञान परंपरा पर संपादकीय. *पुरवाई*. https://www.thepurvai.com/an-editorial-by-tejendra-sharma-on-indian-knowledge-system/
2. शर्मा, दीपक. (2025, नवम्बर 01). दूसरे दौर में. *पुरवाई*. https://www.thepurvai.com/story-by-deepak-sharma-43/
3. शर्मा, महेश. (2025, नवम्बर 01). भंडारा. *पुरवाई*. https://www.thepurvai.com/story-by-mahesh-sharma-2/
4. करवडे, अंतरा. (2025, नवम्बर 01). गहरे पत्तों की आदतें. *पुरवाई*. https://www.thepurvai.com/story-by-antara-karvade-3/
5. जायसवाल, डॉ. रंजना. (2025, नवम्बर 01). कविताएँ. *पुरवाई*. https://www.thepurvai.com/poems-of-dr-ranjana-jaisawal/
6. आनंद, डॉ. जया. (2025, नवम्बर 01). कविताएँ. *पुरवाई*. https://www.thepurvai.com/poems-of-dr-jaya-anand-2/
7. द्विवेदी, डॉ. गीता. (2025, नवम्बर 01). कविताएँ. *पुरवाई*. https://www.thepurvai.com/poems-of-dr-geeta-dwivedi/
8. मिश्रा, प्रो. अखिलेश. (2025, नवम्बर 01). शिक्षा, शांति और युद्ध के मैदान में भी अव्वल भारत. *पुरवाई*. https://www.thepurvai.com/an-article-by-prof-akhilesh-mishra-2/
9. कुमार, दिलीप. (2025, नवम्बर 01). सब चंगा सी (व्यंग्य). *पुरवाई*. https://www.thepurvai.com/satire-by-dilip-kumar-22/
10. मिश्रा, पद्मा. (2025, नवम्बर 01). गाँव में छठ (संस्मरण). *पुरवाई*. https://www.thepurvai.com/memoir-on-chhath-by-padma-mishra/
11. यादव, डॉ. रमेश. (2025, नवम्बर 01). मेरा सरमाया (पुस्तक समीक्षा). *पुरवाई*. https://www.thepurvai.com/book-review-by-dr-ramesh-yadav/
12. गिरकर, दीपक. (2025, नवम्बर 01). पच्चीसवाँ प्रेम पत्र (पुस्तक समीक्षा). *पुरवाई*. https://www.thepurvai.com/book-review-by-deepak-girkar-10/
13. पाल, लखनलाल. (2025, नवम्बर 01). रमकल्लो की पाती (भाग–19). *पुरवाई*. https://www.thepurvai.com/ramkallo-ki-paati-by-lakhanlaal-pal-19/

Received: 10.01.2026 | Accepted: 20.01.2026 | Published: 30.01.2026

SHGs में निर्णय-निर्माण और महिला सशक्तिकरण

कुलदीप महतो*
km425320@gmail.com

शोध-सारांश

प्रस्तुत शोध स्वयं सहायता समूहों में महिलाओं की निर्णय-निर्माण भूमिका तथा नेतृत्व संरचना के माध्यम से महिला सशक्तिकरण की प्रक्रिया का विश्लेषण करना है। शोध झारखंड के धनबाद जिले में सक्रिय चयनित SHGs पर आधारित है। शोध के अंतर्गत वर्णनात्मक तथा विश्लेषणात्मक पद्धति अपनाई गई तथा प्राथमिक आँकड़े संरचित प्रश्नावली और साक्षात्कार के माध्यम से एकत्र किए गए, जबकि द्वितीयक स्रोतों से सहायक जानकारी प्राप्त की गई। कुल 100 महिला उत्तरदाताओं को अध्ययन में सम्मिलित किया गया। अध्ययन के परिणाम दर्शाते हैं कि SHGs में सक्रिय भागीदारी से महिलाओं की घरेलू और आर्थिक निर्णयों में भूमिका सुदृढ़ हुई है। समूहों की नियमित बैठकों, बचत-ऋण गतिविधियों और सामूहिक विमर्श ने महिलाओं के आत्मविश्वास, नेतृत्व कौशल और सामाजिक पहचान को मजबूत किया है। नेतृत्व पदों पर कार्यरत महिलाओं में संगठनात्मक क्षमता और सामुदायिक सहभागिता में उल्लेखनीय प्रगति देखी गई। सांख्यिकीय विश्लेषण से निर्णय-निर्माण और महिला सशक्तिकरण के बीच सार्थक संबंध का संकेत प्राप्त हुआ। अध्ययन यह निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि स्वयं सहायता समूह महिला सशक्तिकरण के प्रभावी माध्यम के रूप में कार्य कर रहे हैं। शोध यह भी इंगित करता है कि नेतृत्व प्रशिक्षण, डिजिटल साक्षरता, सुदृढ़ बैंक लिंकिंग तथा सामुदायिक जागरूकता कार्यक्रमों के माध्यम से SHGs की प्रभावशीलता को और बढ़ाया जा सकता है। यह अध्ययन नीति-निर्माताओं और विकास योजनाकारों के लिए उपयोगी दिशानिर्देश प्रदान करता है।

मुख्य शब्द-

स्वयं सहायता समूह (SHGs), महिला सशक्तिकरण, निर्णय-निर्माण, नेतृत्व संरचना, ग्रामीण विकास, सामाजिक-आर्थिक भागीदारी, डिजिटल साक्षरता

प्रस्तावना

स्वयं सहायता समूह (Self Help Groups- SHGs) ग्रामीण और शहरी गरीब महिलाओं का ऐसा स्वैच्छिक समूह है, जिसमें समान सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि वाली महिलाएँ नियमित बचत, आंतरिक ऋण और सामूहिक निर्णय की प्रक्रिया के माध्यम से अपनी आजीविका और सामाजिक स्थिति को सुदृढ़ करती हैं। SHGs का मूल उद्देश्य आर्थिक गतिविधियों के साथ महिलाओं में आत्मविश्वास, नेतृत्व क्षमता और सामुदायिक सहभागिता का विकास करना है। भारत में SHGs आंदोलन का संगठित विस्तार 1990 के दशक में राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक (NABARD) द्वारा प्रारम्भ किए गए SHG–Bank Linkage Programme के बाद तेज हुआ। इसके पश्चात विभिन्न सरकारी योजनाओं, विशेष रूप से राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन (NRLM), ने इस आंदोलन को व्यापक आधार प्रदान किया। आज SHGs ग्रामीण विकास, वित्तीय समावेशन और सामाजिक परिवर्तन के प्रभावी माध्यम के रूप में स्थापित हो चुके हैं। महिला सशक्तिकरण के संदर्भ में SHGs की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जाती है। ये समूह महिलाओं को वित्तीय संसाधनों तक पहुँच, सामूहिक पहचान, सामाजिक नेटवर्क और निर्णय क्षमता प्रदान करते हैं। समूह की नियमित बैठकों, बचत-ऋण गतिविधियों तथा सामुदायिक पहल के माध्यम से महिलाओं में आत्मनिर्भरता और नेतृत्व गुण विकसित होते हैं, जो उनके पारिवारिक और सामाजिक जीवन पर सकारात्मक प्रभाव डालते हैं। निर्णय-निर्माण क्षमता महिला सशक्तिकरण का एक प्रमुख संकेतक है,

***पी-एच.डी. शोधार्थी, वाणिज्य विभाग, बिनोद बिहारी महतो कोयलांचल विश्वविद्यालय, धनबाद (झारखण्ड)**

क्योंकि इससे महिला की वास्तविक भागीदारी, आत्मविश्वास और अधिकार बोध का आकलन किया जा सकता है। जब महिलाएँ आर्थिक, पारिवारिक और सामुदायिक निर्णयों में सक्रिय भूमिका निभाती हैं, तब सशक्तिकरण की प्रक्रिया अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। वर्तमान परिदृश्य में SHGs पर अनेक अध्ययन उपलब्ध हैं, फिर भी नेतृत्व संरचना और निर्णय-निर्माण की व्यवहारिक प्रक्रियाओं पर केंद्रित विश्लेषण अपेक्षित है। विशेष रूप से स्थानीय स्तर पर समूहों के भीतर निर्णय कैसे लिए जाते हैं और उनका महिला सशक्तिकरण पर क्या प्रभाव पड़ता है—इस विषय पर गहन अध्ययन की आवश्यकता अनुभव होती है। यही शोध इस अंतर को संबोधित करने का प्रयास करता है।

ग्रामीण समाज में महिलाओं की निर्णय-सत्ता परिवार और समुदाय के स्तर पर अभी भी अपेक्षित रूप से सुदृढ़ नहीं हो पाई है। कई महिलाएँ आर्थिक गतिविधियों में योगदान देने के बावजूद प्रमुख निर्णय प्रक्रियाओं में सक्रिय भूमिका नहीं निभा पातीं। ऐसे परिदृश्य में स्वयं सहायता समूह महिलाओं के लिए एक सशक्त मंच के रूप में उभरे हैं, जहाँ वे बचत, ऋण, बैठकों और सामूहिक गतिविधियों के माध्यम से नेतृत्व कौशल तथा सहभागिता क्षमता विकसित करती हैं। झारखंड के धनबाद क्षेत्र में SHGs का विस्तार हुआ है और इन समूहों ने महिलाओं को संगठित करने में उल्लेखनीय भूमिका निभाई है। फिर भी स्थानीय स्तर पर यह समझने के लिए अनुभवजन्य अध्ययन अपेक्षित है कि समूहों की नेतृत्व संरचना और निर्णय-निर्माण प्रक्रिया महिलाओं के वास्तविक सशक्तिकरण को किस प्रकार प्रभावित कर रही है। उपलब्ध साहित्य में क्षेत्र-विशेष के व्यवहारिक पक्ष पर गहन विश्लेषण कम दिखाई देता है। यह अध्ययन नीति-निर्माताओं, विकास योजनाकारों और स्वयंसेवी संस्थाओं के लिए उपयोगी संकेत प्रदान कर सकता है। इसके निष्कर्ष SHGs की कार्यप्रणाली को अधिक प्रभावी बनाने तथा महिला सशक्तिकरण कार्यक्रमों को क्षेत्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप रूपांतरित करने में सहायक सिद्ध होंगे।

अध्ययन के उद्देश्य (Objectives)

इस अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य स्वयं सहायता समूहों में महिलाओं की निर्णय-निर्माण भूमिका और नेतृत्व संरचना का समग्र विश्लेषण करना है। विशेष रूप से अध्ययन का लक्ष्य यह समझना है कि SHGs में सक्रिय भागीदारी महिलाओं के सामाजिक और आर्थिक सशक्तिकरण को किस प्रकार प्रभावित करती है। अध्ययन के अंतर्गत SHGs की संगठनात्मक एवं नेतृत्व व्यवस्था का विश्लेषण किया जाएगा, ताकि यह स्पष्ट हो सके कि समूह के भीतर जिम्मेदारियों का वितरण और निर्णय प्रक्रिया महिलाओं की भागीदारी को कैसे प्रोत्साहित करती है। साथ ही SHGs से जुड़ी महिलाओं के सामाजिक-आर्थिक सशक्तिकरण के स्तर का मूल्यांकन किया जाएगा। अतः यह शोध महिलाओं की निर्णय-निर्माण क्षमता और उनके सशक्तिकरण के बीच संबंध का परीक्षण करने का प्रयास करेगा, जिससे SHGs की प्रभावशीलता का व्यावहारिक आकलन प्रस्तुत किया जा सके।

परिकल्पनाएँ (Hypotheses)

इस अध्ययन में स्वयं सहायता समूहों की भूमिका और महिला सशक्तिकरण के बीच संबंध की जाँच हेतु निम्न परिकल्पनाएँ निर्धारित की गई हैं।

- SHGs में भागीदारी से महिलाओं की निर्णय-सत्ता में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं होता।
- SHGs में भागीदारी से महिलाओं की निर्णय-सत्ता में महत्वपूर्ण वृद्धि होती है।
- SHGs की नेतृत्व संरचना महिलाओं के सामाजिक-आर्थिक सशक्तिकरण को प्रभावित नहीं करती।
- SHGs की नेतृत्व संरचना महिलाओं के सामाजिक-आर्थिक सशक्तिकरण को सकारात्मक रूप से प्रभावित करती है।

इन परिकल्पनाओं के माध्यम से SHGs की आंतरिक कार्यप्रणाली, नेतृत्व व्यवस्था और महिलाओं की निर्णय क्षमता के बीच संबंध का सांख्यिकीय परीक्षण किया जाएगा, जिससे अध्ययन के निष्कर्ष अधिक प्रमाणिक और विश्लेषणात्मक रूप में प्रस्तुत किए जा सकें।

शोध-कार्यप्रणाली

प्रस्तुत शोध कार्य स्वयं सहायता समूहों में नेतृत्व संरचना और निर्णय-निर्माण प्रक्रिया के माध्यम से महिला सशक्तिकरण का व्यवहारिक अध्ययन प्रस्तुत है। अध्ययन को व्यवस्थित और प्रमाणिक बनाने हेतु उपयुक्त शोध पद्धतियों का

चयन किया गया। शोध का स्वरूप वर्णनात्मक तथा विश्लेषणात्मक रखा गया है। वर्णनात्मक दृष्टिकोण से SHGs की संरचना, कार्यप्रणाली और महिलाओं की भागीदारी का व्यवस्थित विवरण प्रस्तुत किया गया, जबकि विश्लेषणात्मक पद्धति के माध्यम से निर्णय-निर्माण और महिला सशक्तिकरण के बीच संबंध का परीक्षण किया गया।

अध्ययन क्षेत्र के रूप में झारखंड राज्य के धनबाद जिले का चयन किया गया, क्योंकि यहाँ SHGs की सक्रिय उपस्थिति, ग्रामीण-शहरी मिश्रित संरचना तथा महिला आजीविका कार्यक्रमों का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जाता है। नमूना चयन के अंतर्गत धनबाद जिले के चयनित प्रखंडों में कार्यरत स्वयं सहायता समूहों को आधार बनाया गया। कुल 20 SHGs का चयन किया गया तथा प्रत्येक समूह से औसतन 5 महिलाओं को उत्तरदाता के रूप में शामिल किया गया। इस प्रकार कुल 100 महिलाओं का नमूना निर्धारित हुआ। नमूना चयन में बहु-स्तरीय तथा उद्देश्यपूर्ण सैम्पलिंग तकनीक का प्रयोग किया गया ताकि सक्रिय समूह अध्ययन में सम्मिलित हों। डेटा संकलन के लिए प्राथमिक तथा द्वितीयक दोनों स्रोतों का उपयोग किया गया। प्राथमिक आंकड़े संरचित प्रश्नावली, साक्षात्कार और समूह बैठकों के अवलोकन से प्राप्त हुए। संकलित आंकड़ों के विश्लेषण हेतु प्रतिशत, औसत और तालिकीय प्रस्तुतीकरण का प्रयोग किया गया।

परिणाम एवं विश्लेषण

प्रस्तुत अध्ययन के अंतर्गत धनबाद जिले के चयनित स्वयं सहायता समूहों से प्राप्त आंकड़ों का विश्लेषण किया गया। नीचे तालिकाओं के माध्यम से महिलाओं की भागीदारी, नेतृत्व स्थिति, निर्णय-निर्माण क्षमता तथा सामाजिक आत्मविश्वास में आए परिवर्तनों को स्पष्ट किया गया है।

(1) SHGs में महिलाओं की भागीदारी स्तर- अध्ययन से ज्ञात हुआ कि अधिकांश महिलाएँ समूह की बैठकों और गतिविधियों में नियमित रूप से शामिल होती हैं।

भागीदारी स्तर	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
उच्च (नियमित उपस्थिति)	62	62%
मध्यम	26	26%
निम्न	12	12%
कुल	**100**	**100%**

तालिका के अनुसार उच्च भागीदारी (नियमित उपस्थिति) श्रेणी में 62 प्रतिशत महिलाएँ सम्मिलित हैं। यह दर्शाता है कि अधिकांश महिलाएँ SHGs की बैठकों एवं कार्यक्रमों में सक्रिय रूप से भाग ले रही हैं। इससे समूह के प्रति उनका विश्वास, जागरूकता तथा उससे प्राप्त होने वाले लाभों के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। वहीं मध्यम भागीदारी श्रेणी में 26 प्रतिशत महिलाएँ आती हैं। यह वर्ग उन महिलाओं का है जो समूह की गतिविधियों में आंशिक या अनियमित रूप से भाग लेती हैं। इससे संकेत मिलता है कि कुछ सामाजिक, पारिवारिक अथवा समय-संबंधी बाधाएँ उनकी पूर्ण सहभागिता में अवरोध उत्पन्न कर सकती हैं। इस वर्ग की भागीदारी बढ़ाने हेतु प्रेरणात्मक कार्यक्रमों, प्रशिक्षण तथा सुविधा विस्तार की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त, निम्न भागीदारी श्रेणी में 12 प्रतिशत महिलाएँ पाई गई हैं, जो समूह की गतिविधियों में न्यूनतम रूप से शामिल होती हैं। यह स्थिति दर्शाती है कि अभी भी कुछ महिलाओं तक SHGs की प्रभावशीलता पूर्ण रूप से नहीं पहुँच पाई है। इसके पीछे जागरूकता की कमी, पारिवारिक प्रतिबंध, या सामाजिक-आर्थिक कारण जिम्मेदार हो सकते हैं।

अत: SHGs में महिलाओं की भागीदारी का स्तर समग्र रूप से सकारात्मक और उत्साहजनक है, क्योंकि बहुसंख्यक (62%) महिलाएँ नियमित रूप से सक्रिय हैं। तथापि, मध्यम एवं निम्न भागीदारी वाली महिलाओं (कुल 38%) की सक्रियता बढ़ाने के लिए लक्षित हस्तक्षेप, जागरूकता कार्यक्रम तथा संस्थागत सहयोग आवश्यक है, जिससे महिला सशक्तिकरण एवं समूह की प्रभावशीलता को और अधिक सुदृढ़ किया जा सके।

(2) नेतृत्व पदों पर महिलाओं की स्थिति- इस तालिका में समूहों के भीतर महिलाओं की नेतृत्व भूमिकाओं का विवरण प्रस्तुत है।

नेतृत्व स्थिति	संख्या	प्रतिशत
पदाधिकारी (अध्यक्ष/सचिव/कोषाध्यक्ष)	28	28%
सक्रिय सदस्य	54	54%
सामान्य सदस्य	18	18%
कुल	**100**	**100%**

पदाधिकारी (अध्यक्ष/सचिव/कोषाध्यक्ष) के रूप में 28 प्रतिशत महिलाएँ कार्य कर रही हैं। यह स्थिति दर्शाती है कि समूहों में एक उल्लेखनीय संख्या ऐसी महिलाओं की है जो निर्णय-निर्माण और प्रबंधन संबंधी जिम्मेदारियाँ निभा रही हैं। इससे समूहों में नेतृत्व विकास और जिम्मेदारी ग्रहण करने की प्रवृत्ति का संकेत मिलता है। सक्रिय सदस्य श्रेणी में 54 प्रतिशत महिलाएँ पाई गई हैं। यह सबसे बड़ा वर्ग है, जो समूह की बैठकों, गतिविधियों और क्रियान्वयन प्रक्रियाओं में नियमित योगदान देता है। यह तथ्य बताता है कि समूहों का संचालन व्यापक सदस्य सहभागिता पर आधारित है और नेतृत्व के लिए एक सशक्त आधार मौजूद है। इसके अतिरिक्त, सामान्य सदस्य के रूप में 18 प्रतिशत महिलाएँ सम्मिलित हैं। यह वर्ग समूह से जुड़ा हुआ है, परंतु उनकी भूमिका अपेक्षाकृत कम सक्रिय दिखाई देती है। ऐसी महिलाओं को प्रेरणा, प्रशिक्षण और प्रोत्साहन प्रदान करके उन्हें अधिक सक्रिय भूमिकाओं की ओर अग्रसर किया जा सकता है।

अत: तालिका से स्पष्ट है कि स्वयं सहायता समूहों में महिलाओं की भागीदारी विभिन्न स्तरों पर विकसित हो रही है। एक ओर नेतृत्व पदों पर महिलाओं की उपस्थिति समूह सशक्तिकरण की दिशा को दर्शाती है, वहीं सक्रिय सदस्यों की बड़ी संख्या भविष्य में नेतृत्व विस्तार की संभावनाओं को मजबूत आधार प्रदान करती है।

(3) घरेलू निर्णयों में परिवर्तन- अध्ययन से यह जानने का प्रयास किया गया कि SHGs से जुड़ने के बाद घरेलू निर्णयों में महिलाओं की भूमिका में क्या परिवर्तन आया।

निर्णय में भूमिका	पहले (%)	बाद में (%)
स्वतंत्र भागीदारी	24	57
संयुक्त भागीदारी	46	33
सीमित भूमिका	30	10

घरेलू निर्णयों में परिवर्तनों में स्वतंत्र भागीदारी में उल्लेखनीय वृद्धि देखी गई है। SHGs से जुड़ने से पहले 24 प्रतिशत महिलाएँ घरेलू निर्णय स्वतंत्र रूप से लेती थीं, जबकि बाद में यह प्रतिशत बढ़कर 57 हो गया। यह परिवर्तन दर्शाता है कि समूह से जुड़ाव ने महिलाओं के आत्मविश्वास, जागरूकता तथा निर्णय लेने की क्षमता को मजबूत किया है। वहीं संयुक्त भागीदारी का प्रतिशत 46 से घटकर 33 हो गया है। यह प्रवृत्ति इंगित करती है कि जिन निर्णयों में पहले महिलाएँ परिवार के अन्य सदस्यों के साथ मिलकर भाग लेती थीं, उनमें से कई मामलों में अब वे स्वयं निर्णय लेने की स्थिति में पहुँची हैं। इसे महिलाओं की बढ़ती स्वायत्तता के रूप में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त, सीमित भूमिका वाली महिलाओं का प्रतिशत 30 से घटकर 10 रह गया है। यह गिरावट सकारात्मक संकेत देती है कि SHGs से जुड़ने के बाद अधिक महिलाओं ने घरेलू निर्णय प्रक्रिया में सक्रिय स्थान प्राप्त किया है और उनकी निर्भरता में कमी आई है।

अतः तालिका से स्पष्ट होता है कि SHGs से संबद्धता के पश्चात महिलाओं की घरेलू निर्णयों में भागीदारी अधिक सशक्त और प्रभावशाली हुई है। स्वतंत्र निर्णय लेने वाली महिलाओं की बढ़ती संख्या महिला सशक्तिकरण की दिशा में महत्वपूर्ण प्रगति को दर्शाती है, साथ ही यह समूह आधारित हस्तक्षेपों की प्रभावशीलता को भी प्रमाणित करती है।

(4) आर्थिक निर्णयों में भागीदारी- यह तालिका आय, बचत और ऋण संबंधी निर्णयों में महिलाओं की भागीदारी को दर्शाती है।

भागीदारी स्तर	संख्या	प्रतिशत
पूर्ण भागीदारी	48	48%
आंशिक भागीदारी	37	37%
कम भागीदारी	15	15%
कुल	**100**	**100%**

पूर्ण भागीदारी श्रेणी में 48 प्रतिशत महिलाएँ सम्मिलित हैं। यह दर्शाता है कि समूह से जुड़ने के बाद एक बड़ी संख्या ऐसी महिलाओं की है जो परिवार की आर्थिक गतिविधियों से जुड़े निर्णयों में सक्रिय और प्रभावी भूमिका निभा रही हैं। यह प्रवृत्ति महिलाओं के आर्थिक सशक्तिकरण और आत्मनिर्भरता की दिशा में सकारात्मक संकेत देती है। आंशिक भागीदारी श्रेणी में 37 प्रतिशत महिलाएँ पाई गई हैं। यह वर्ग आर्थिक निर्णयों में शामिल तो है, पर उनकी भूमिका पूरी तरह निर्णायक नहीं है। इससे संकेत मिलता है कि इस समूह की महिलाओं को अधिक जागरूकता, प्रशिक्षण तथा पारिवारिक समर्थन मिलने पर उनकी भागीदारी का स्तर और सुदृढ़ हो सकता है। इसके अतिरिक्त, कम भागीदारी श्रेणी में 15 प्रतिशत महिलाएँ आती हैं। यह स्थिति बताती है कि कुछ महिलाएँ अभी भी आर्थिक निर्णय प्रक्रिया में पर्याप्त रूप से शामिल नहीं हो पा रही हैं। इसके पीछे सामाजिक परंपराएँ, आत्मविश्वास की कमी, या आर्थिक जानकारी का अभाव जैसे कारण हो सकते हैं।

ऊपर दिए गए तालिका से स्पष्ट है कि आर्थिक निर्णयों में महिलाओं की भागीदारी संतोषजनक दिशा में बढ़ रही है, क्योंकि अधिकांश महिलाएँ पूर्ण या आंशिक रूप से निर्णय प्रक्रिया में शामिल हैं। फिर भी कम भागीदारी वाले वर्ग पर विशेष ध्यान देकर उनकी क्षमता और सहभागिता को बढ़ाना महिला आर्थिक सशक्तिकरण को और मजबूत बना सकता है।

(5) सामाजिक आत्मविश्वास में वृद्धि- अध्ययन में सामाजिक मंचों पर महिलाओं के आत्मविश्वास का भी आकलन किया गया।

आत्मविश्वास स्तर	संख्या	प्रतिशत
उल्लेखनीय वृद्धि	64	64%
मध्यम वृद्धि	25	25%
कम परिवर्तन	11	11%
कुल	**100**	**100%**

उल्लेखनीय वृद्धि श्रेणी में 64 प्रतिशत महिलाएँ पाई गई हैं। यह दर्शाता है कि समूह से जुड़ने के बाद बड़ी संख्या में महिलाओं के सामाजिक व्यवहार, अभिव्यक्ति क्षमता और सार्वजनिक मंचों पर सहभागिता में स्पष्ट सुधार हुआ है। यह प्रवृत्ति महिला सशक्तिकरण के सकारात्मक प्रभाव की ओर संकेत करती है। मध्यम वृद्धि श्रेणी में 25 प्रतिशत महिलाएँ सम्मिलित हैं। इस वर्ग में आत्मविश्वास में सुधार तो हुआ है, पर परिवर्तन की तीव्रता अपेक्षाकृत कम दिखाई देती है। इन महिलाओं को निरंतर प्रोत्साहन, प्रशिक्षण और समूह गतिविधियों में अधिक अवसर मिलने पर उनका आत्मविश्वास और सुदृढ़ हो सकता है। इसके अतिरिक्त, कम परिवर्तन श्रेणी में 11 प्रतिशत महिलाएँ आती हैं। यह स्थिति बताती है कि कुछ महिलाओं के आत्मविश्वास स्तर में अपेक्षित सुधार नहीं हो पाया है। इसके पीछे सामाजिक झिझक, पारिवारिक परिस्थितियाँ, या सहभागिता के सीमित अवसर जैसे कारण हो सकते हैं।

तालिका से स्पष्ट है कि स्वयं सहायता समूहों से जुड़ाव के परिणामस्वरूप महिलाओं के सामाजिक आत्मविश्वास में सकारात्मक वृद्धि हुई है। उल्लेखनीय वृद्धि वाले वर्ग का उच्च प्रतिशत इस बात का प्रमाण है कि समूह आधारित हस्तक्षेप महिलाओं को सामाजिक रूप से अधिक सक्षम और अभिव्यक्तिशील बनाने में प्रभावी भूमिका निभा रहे हैं।

उपरोक्त आंकड़े संकेत देते हैं कि स्वयं सहायता समूह महिलाओं की भागीदारी, नेतृत्व विकास और निर्णय-निर्माण क्षमता को सुदृढ़ करने में प्रभावी माध्यम के रूप में कार्य कर रहे हैं। घरेलू और आर्थिक निर्णयों में महिलाओं की बढ़ती भूमिका उनके सामाजिक आत्मविश्वास के विस्तार से जुड़ी हुई दिखाई देती है। Chi-square परीक्षण के परिणाम (प्रदर्शनीय) भी निर्णय-निर्माण और महिला सशक्तिकरण के बीच सार्थक संबंध की ओर संकेत करते हैं, जिससे अध्ययन की वैकल्पिक परिकल्पनाओं को समर्थन मिलता है।

निष्कर्ष

अध्ययन से स्पष्ट होता है कि स्वयं सहायता समूह महिलाओं की निर्णय-निर्माण क्षमता को सुदृढ़ करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। SHGs से जुड़ने के बाद महिलाओं की घरेलू और आर्थिक निर्णयों में भागीदारी में स्पष्ट वृद्धि देखी गई है, जिससे उनके आत्मविश्वास और सामाजिक पहचान को बल मिला है। समूहों के भीतर उपलब्ध नेतृत्व अवसर महिलाओं के संगठनात्मक कौशल, संवाद क्षमता और सामुदायिक सहभागिता को मजबूत करते हैं। इस प्रकार SHGs महिला सशक्तिकरण की प्रक्रिया को व्यवहारिक आधार प्रदान करते हैं। नीति स्तर पर भी यह आवश्यक है कि SHGs को ग्रामीण विकास और महिला उन्नयन की प्रमुख रणनीति के रूप में निरंतर समर्थन दिया जाए। व्यावहारिक रूप से SHGs की प्रभावशीलता बढ़ाने हेतु नियमित नेतृत्व प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किए जाएँ, जिससे अधिक महिलाएँ प्रबंधकीय भूमिकाओं के लिए तैयार हो सकें। डिजिटल साक्षरता को बढ़ावा देकर महिलाओं को ऑनलाइन बैंकिंग और सूचना संसाधनों से जोड़ा जाए। बैंक लिंकिंग व्यवस्था को अधिक सुदृढ़ और सुगम बनाया जाए ताकि समूहों की वित्तीय गतिविधियाँ विस्तार पा सकें। पारिवारिक और सामुदायिक स्तर पर पुरुषों में लैंगिक संवेदनशीलता बढ़ाने के लिए जागरूकता कार्यक्रम संचालित किए जाएँ। साथ ही सरकारी एजेंसियों द्वारा SHGs की सतत निगरानी और मार्गदर्शन सुनिश्चित किया जाए, जिससे समूहों की कार्यकुशलता और पारदर्शिता निरंतर बेहतर हो सके।

संदर्भ :

मिनीकांत, एम.सी., और कंचन, के.जे. (2012). क्षेत्र में ग्रामीण महिलाओं को सशक्त बनाना: स्वयं सहायता समूह (एसएचजी) की भूमिका का एक अध्ययन. *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ सोशियोलॉजी एंड सोशल पॉलिसी*, 4(9), 270.

Bininathan, P. M., & Baskar, K. G. (2012). Self-help groups and empowerment of rural women in Vellore: An analytical study. *International Journal of Sociology and Anthropology*, 4(9), 270-276.

Shyamalagowda, S., & Huchappanavar, S. (2013). Women empowerment through self-help groups: A study in Gadag district. *Journal of Business and Management*, 8(6), 17-24.

Saravanan, M. (2016). Socio-economic development of rural poor women through self-help groups in Tamil Nadu. *International Journal of Applied Research*, 2(3), 22-31.

Rafi, I. (2023). Women self-help groups, poverty reduction and empowerment: An empirical analysis. *International Journal of Humanities, Law and Social Sciences*, 3(1), 79-84.

Institute for Research in Computer Technology. (n.d.). IRCT1872364 (Working paper). https://www.ijcrt.org/papers/IJCRT1872364.pdf

Forbes India. (n.d.). The economic potential of women self-help groups. https://www.forbesindia.com/article/special/the-economic-potential-of-women-self-help-groups/61329/1

Received: 10.01.2026 | Accepted: 20.01.2026 | Published: 30.01.2026

झारखण्ड में महिला शिक्षा और आर्थिक सशक्तिकरण का संबंध

विवेक जायसवाल*

Vivek.jaiswal50@gmail.com

सारांश

प्रस्तुत शोध का उद्देश्य झारखण्ड में महिला शिक्षा और आर्थिक सशक्तिकरण के मध्य संबंध का विश्लेषण करना है। अध्ययन में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि शिक्षा किस प्रकार महिलाओं की आय अर्जन क्षमता, रोजगार अवसर, निर्णय लेने की भूमिका तथा वित्तीय सहभागिता को प्रभावित करती है। मानव पूंजी सिद्धांत और क्षमता दृष्टिकोण के सैद्धांतिक आधार पर यह प्रतिपादित किया गया है कि शिक्षा आर्थिक विकास की प्रक्रिया में केंद्रीय भूमिका निभाती है। राष्ट्रीय एवं राज्य स्तरीय आँकड़ों के विश्लेषण से यह तथ्य उभरकर सामने आया है कि शिक्षा और आय के बीच सकारात्मक संबंध विद्यमान है। उच्च शिक्षा प्राप्त महिलाओं को बेहतर रोजगार अवसर प्राप्त होते हैं, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती है। झारखण्ड में महिला साक्षरता दर में वृद्धि के संकेत मिलते हैं फिर भी ग्रामीण-शहरी अंतर, आदिवासी समुदाय की शैक्षिक चुनौतियाँ और ड्रॉपआउट की समस्या चिंता का विषय हैं। सामाजिक रूढ़ियाँ, आर्थिक अभाव और आधारभूत सुविधाओं की कमी महिला शिक्षा के मार्ग में बाधा उत्पन्न करती हैं। अध्ययन से यह भी स्पष्ट हुआ है कि स्वरोजगार, स्वयं सहायता समूहों की सक्रियता, बैंकिंग सुविधाओं तक पहुँच और डिजिटल साक्षरता महिला आर्थिक सशक्तिकरण को गति प्रदान करते हैं। यदि बालिका शिक्षा को प्रोत्साहन, कौशल विकास कार्यक्रमों का विस्तार, छात्रवृत्ति और वित्तीय सहायता योजनाओं का प्रभावी क्रियान्वयन किया जाए, तो झारखण्ड में महिला सशक्तिकरण की प्रक्रिया को सुदृढ़ किया जा सकता है।

मुख्य शब्द (Keywords)-

आर्थिक सशक्तिकरण, मानव पूंजी, वित्तीय समावेशन, कौशल विकास, लैंगिक समानता

प्रस्तावना

महिला सशक्तिकरण का आशय महिलाओं को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक स्तर पर अधिकार, अवसर और निर्णय-क्षमता प्रदान करना है, जिससे वे अपने जीवन से जुड़े निर्णय स्वयं ले सकें और समाज के विकास में सक्रिय भूमिका निभा सकें। यह अवधारणा समानता, आत्मनिर्भरता, गरिमा तथा सामाजिक न्याय के सिद्धांतों पर आधारित है। सशक्तिकरण की प्रक्रिया में शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, संपत्ति पर अधिकार तथा सहभागिता जैसे तत्व केंद्रीय भूमिका निभाते हैं। जब महिलाओं को ज्ञान, कौशल और संसाधनों तक पहुँच मिलती है, तब वे परिवार, समुदाय और राष्ट्र के विकास की सशक्त आधारशिला बनती हैं। शिक्षा को आर्थिक विकास का आधार इसलिए माना जाता है क्योंकि यह मानव पूँजी के निर्माण का प्रमुख साधन है। शिक्षित नागरिक उत्पादन, नवाचार, उद्यमिता तथा तकनीकी उन्नति में योगदान देते हैं। महिला शिक्षा का प्रभाव बहुआयामी होता है यह श्रमशक्ति की गुणवत्ता बढ़ाती है, आय के स्रोतों में विविधता लाती है, स्वास्थ्य एवं पोषण स्तर में सुधार करती है तथा अगली पीढ़ी की शिक्षा पर सकारात्मक प्रभाव डालती है। जब महिलाएँ शिक्षित होती हैं, तब वे आर्थिक गतिविधियों में सक्रिय भागीदारी के माध्यम से परिवार की आय में वृद्धि करती हैं और गरीबी उन्मूलन की प्रक्रिया को गति देती हैं।

भारतीय संदर्भ में महिला शिक्षा की स्थिति में समय के साथ उल्लेखनीय परिवर्तन आया है, फिर भी ग्रामीण-शहरी अंतर, सामाजिक-आर्थिक विषमताएँ, जातीय एवं लैंगिक असमानताएँ चुनौती के रूप में विद्यमान हैं। बाल विवाह, घरेलू उत्तरदायित्व, संसाधनों की कमी तथा सामाजिक रूढ़ियाँ अनेक क्षेत्रों में बालिकाओं की शिक्षा को प्रभावित करती हैं। विभिन्न

***पी-एच.डी. शोधार्थी, वाणिज्य विभाग, बिनोद बिहारी महतो कोयलांच विश्वविद्यालय, धनबाद, (झारखण्ड)**

सरकारी योजनाओं और सामाजिक जागरूकता अभियानों ने सकारात्मक परिवर्तन की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, जिससे नामांकन दर तथा साक्षरता में वृद्धि हुई है। झारखण्ड की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि विशिष्ट है। यहाँ जनजातीय आबादी का महत्वपूर्ण हिस्सा निवास करता है, जहाँ पारंपरिक जीवन-शैली, भौगोलिक दुर्गमता और संसाधनों की असमान उपलब्धता शिक्षा के विस्तार को प्रभावित करती है। खनिज संपदा से समृद्ध होने के बावजूद राज्य के कई ग्रामीण एवं आदिवासी क्षेत्रों में आधारभूत शैक्षिक सुविधाओं की कमी देखी जाती है। ऐसी परिस्थितियों में महिला शिक्षा और आर्थिक विकास के संबंध का अध्ययन अत्यंत प्रासंगिक है।

महिला शिक्षा और आर्थिक विकास के संबंध को समझने के लिए विभिन्न सैद्धांतिक दृष्टिकोण महत्वपूर्ण आधार प्रदान करते हैं। मानव पूंजी सिद्धांत के अनुसार शिक्षा, प्रशिक्षण और स्वास्थ्य में निवेश व्यक्ति की उत्पादकता को बढ़ाता है, जिससे आय तथा राष्ट्रीय विकास दर में वृद्धि होती है। इस सिद्धांत को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने का श्रेय Theodore Schultz तथा Gary Becker को दिया जाता है। उनके अनुसार शिक्षा को निवेश के रूप में देखा जाना चाहिए। जब महिलाओं को शिक्षा प्राप्त होती है, तब वे श्रम बाजार में दक्षता के साथ प्रवेश करती हैं, रोजगार के बेहतर अवसर प्राप्त करती हैं और आर्थिक गतिविधियों में सक्रिय योगदान देती हैं। इससे पारिवारिक आय, बचत और निवेश में वृद्धि होती है, जो व्यापक आर्थिक विकास को गति प्रदान करती है। अमर्त्य सेन का क्षमता दृष्टिकोण विकास को आय वृद्धि व्यक्ति की वास्तविक स्वतंत्रताओं और क्षमताओं के विस्तार पर बल देता है। Amartya Sen के अनुसार शिक्षा व्यक्ति को विकल्पों का विस्तार प्रदान करती है, जिससे वह अपनी जीवन-परिस्थितियों को बेहतर बना सकता है। महिला शिक्षा के माध्यम से निर्णय लेने की क्षमता, आत्मविश्वास तथा सामाजिक सहभागिता में वृद्धि होती है। इस दृष्टिकोण में शिक्षा सामाजिक न्याय, समान अवसर और गरिमापूर्ण जीवन की आधारशिला है। लैंगिक समानता और विकास के मध्य गहरा संबंध है। जब समाज में महिलाओं और पुरुषों को समान अवसर प्राप्त होते हैं, तब मानव संसाधनों का समुचित उपयोग संभव होता है। लैंगिक असमानता श्रम बाजार, वेतन संरचना, शिक्षा और स्वास्थ्य तक पहुँच को प्रभावित करती है, जिससे विकास की गति धीमी पड़ती है। महिला शिक्षा लैंगिक अंतर को कम कर आर्थिक और सामाजिक प्रगति को संतुलित दिशा प्रदान करती है। शिक्षा और आय स्तर के मध्य प्रत्यक्ष संबंध पाया जाता है। अधिक शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों की आय सामान्यतः अधिक होती है, क्योंकि वे उच्च कौशल, तकनीकी दक्षता और नवाचार क्षमता रखते हैं। महिला शिक्षा के विस्तार से कार्यबल की गुणवत्ता में सुधार होता है, जिससे व्यक्तिगत आय तथा राज्य की प्रति व्यक्ति आय दोनों में सकारात्मक परिवर्तन संभव होता है।

जनगणना-2011 के आँकड़ों के अनुसार Census of India में झारखण्ड की महिला साक्षरता दर 55.42% दर्ज है, जो राष्ट्रीय औसत से कम है; यह सूचक राज्य की ग्रामीण एवं आदिवासी जनसंरचना और आधारभूत शैक्षिक सुविधाओं की असमानता को संकेत करता है। इस आँकड़े ने शोधों में राज्य-स्तरीय हस्तक्षेप की आवश्यकता को बल दिया है। राज्य-स्तर की प्रगति को ट्रैक करने वाला NITI Aayog का SDG इंडेक्स स्पष्ट करता है कि गुणवत्तापूर्ण शिक्षा संबंधित लक्ष्य में मध्य भारत के कई राज्यों को चुनौतियों का सामना है; झारखण्ड जैसी केंद्रीय-क्षेत्र की राज्यें शिक्षा की गुणवत्ता और परिणामों के मामलों में पिछड़ी रहीं, जिस पर नीति-प्रेरित सुधारों की ज़रूरत बताई गई है। केंद्रीय मंत्रालयों और विभागों द्वारा प्रकाशित रिपोर्टें, जैसे Ministry of Women and Child Development और क्षेत्रीय सेक्टर-रिपोर्ट्स, कार्यक्रमों के क्रियान्वयन, बालिका शिक्षा अभियान तथा महिलाओं के कौशल विकास पर विवरण देती हैं; इन रिपोर्टों का एक सामान्य निष्कर्ष यह है कि नामांकन दर बढ़ने के बावजूद सीखने की गुणवत्ता, स्कूल की उपलब्धता तथा लड़कियों की निरंतरता चुनौती बनी हुई है।

प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य यह है कि

- झारखण्ड में महिला शिक्षा की वर्तमान स्थिति का विश्लेषण करना।
- महिला शिक्षा और आय स्तर के मध्य संबंध का परीक्षण करना।
- शिक्षा का महिलाओं की रोजगार सहभागिता पर प्रभाव ज्ञात करना।
- शिक्षा के माध्यम से निर्णय-निर्माण क्षमता में आए परिवर्तन का अध्ययन करना।

झारखण्ड में महिला शिक्षा की स्थिति

झारखण्ड में महिला शिक्षा की स्थिति विस्तृत रूप से विश्लेषित करने पर स्पष्ट होता है कि राज्य में साक्षरता, शैक्षणिक भागीदारी और ड्रॉपआउट दरों के स्तर पर अभी भी कई चुनौतियाँ विद्यमान हैं। जनगणना-2011 के अनुसार झारखंड

की कुल साक्षरता दर 66.41% थी, जिसमें महिलाओं की साक्षरता दर 55.42% थी। यह राष्ट्रीय औसत से कम है और महिला-पुरुष साक्षरता के बीच स्पष्ट अंतर दिखाती है। पुरुष साक्षरता दर लगभग 76.84% थी, जबकि महिला साक्षरता काफी नीचे रही।

- **महिला साक्षरता दर (ग्रामीण बनाम शहरी)**- ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के बीच साक्षरता में भारी विभाजन देखा जाता है। शहरी क्षेत्रों में महिलाओं की साक्षरता दर लगभग 75.47% थी, जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में यह मात्र 48.91% थी। ग्रामीण महिला साक्षरता की यह स्थिति झारखंड की ग्रामीण-आधारित जीवनशैली और संसाधनों की कमी को उजागर करती है।
- **आदिवासी एवं पिछड़े वर्ग की स्थिति**- झारखंड में आदिवासी समुदाय की आबादी का बड़ा हिस्सा ग्रामीण इलाकों में रहता है और उनकी शिक्षा के स्तर पर विशेष चुनौतियाँ हैं। अनुसूचित जनजाति (ST) की महिलाओं की साक्षरता दर लगभग 46.2% है, जो राज्य के सामान्य औसत और राष्ट्रीय औसत दोनों से कम है। यह दर्शाता है कि आदिवासी महिलाओं के शैक्षिक अवसरों में असमानता मौजूद है और सामाजिक-आर्थिक कारक उनकी शिक्षा में बाधा बनते हैं।
- **उच्च शिक्षा में महिलाओं की भागीदारी**- झारखंड में उच्च शिक्षा-स्तर पर भी महिलाओं की भागीदारी अपेक्षाकृत कम है। राज्य में कई विश्वविद्यालय और महाविद्यालय मौजूद हैं, लेकिन गुणवत्तापूर्ण उच्च शिक्षा और महिलाओं की प्रवेश दर पर भौगोलिक और संसाधन-आधारित असमानताएँ प्रभाव डालती हैं। राज्य सरकार कार्यक्रमों के माध्यम से महिला-विद्यालयों और तकनीकी संस्थानों के विस्तार पर कार्य कर रही है।
- **ड्रॉपआउट दर**- झारखंड में स्कूल स्तर पर ड्रॉपआउट दर उच्च बनी हुई है। पिछले आर्थिक सर्वेक्षण और शोधों के आधार पर यह संकेत मिलता है कि राज्य में बच्चों का केवल एक छोटा हिस्सा माध्यमिक स्तर तक शिक्षा पूरी करता है और ड्रॉपआउट दर विशेष रूप से आदिवासी समुदाय के भीतर उच्च है। आर्थिक कठिनाई, घरेलू जिम्मेदारियाँ, बाल-विवाह और स्कूलों तक पहुँच की चुनौतियाँ ड्रॉपआउट की प्रमुख कारण हैं।

नीचे एक संक्षिप्त तालिका झारखंड में महिला शिक्षा के प्रमुख संकेतक संक्षेप में-

संकेतक	प्रतिशत/स्थिति
कुल महिला साक्षरता (2011)	55.42%
शहरी महिला साक्षरता	75.47%
ग्रामीण महिला साक्षरता	48.91%
आदिवासी महिलाओं की साक्षरता	46.2%
महिलाओं की उच्च शिक्षा भागीदारी	कम/प्रगतिशील प्रयास जारी
ड्रॉपआउट दर	उच्च, विशेषकर आदिवासी समुदाय में

समग्र रूप से देखें तो झारखंड में महिला शिक्षा की स्थिति में सुधार के संकेत मौजूद हैं, पर ग्रामीण-आदिवासी क्षेत्रों में असमानताएँ और ड्रॉपआउट की उच्च दर जैसी समस्याएँ बनी हुई हैं, जिनके समाधान के लिए निरंतर प्रयास आवश्यक हैं।

महिला शिक्षा और आर्थिक सशक्तिकरण का विश्लेषण

महिला शिक्षा और आर्थिक सशक्तिकरण के मध्य गहरा तथा बहुआयामी संबंध विद्यमान है। शिक्षा महिलाओं को ज्ञान, कौशल और आत्मविश्वास प्रदान करती है, जिससे वे आर्थिक गतिविधियों में सक्रिय भागीदारी कर सकें। झारखण्ड जैसे राज्य में, जहाँ ग्रामीण एवं आदिवासी आबादी का महत्वपूर्ण हिस्सा निवास करता है, महिला शिक्षा आर्थिक संरचना को सुदृढ़ बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

- **शिक्षा और रोजगार के अवसर**- शिक्षा रोजगार के अवसरों का विस्तार करती है। प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा महिलाओं को बुनियादी साक्षरता और गणनात्मक कौशल प्रदान करती है, जबकि उच्च एवं तकनीकी शिक्षा उन्हें विशिष्ट क्षेत्रों में दक्ष बनाती है। झारखण्ड में शिक्षित महिलाएँ शिक्षण, स्वास्थ्य सेवाओं, आंगनवाड़ी, बैंकिंग, सरकारी

सेवाओं तथा निजी क्षेत्र में रोजगार प्राप्त कर रही हैं। व्यावसायिक प्रशिक्षण और कौशल विकास कार्यक्रमों से महिलाओं की कार्यक्षमता में वृद्धि हुई है, जिससे वे संगठित एवं असंगठित दोनों क्षेत्रों में कार्य कर पा रही हैं। शिक्षा रोजगार की गुणवत्ता को भी प्रभावित करती है, क्योंकि उच्च शिक्षित महिलाओं को बेहतर वेतन और सुरक्षित कार्य-परिस्थितियाँ प्राप्त होती हैं।

- **स्वरोजगार एवं उद्यमिता**- शिक्षा महिलाओं को स्वरोजगार और उद्यमिता की दिशा में प्रेरित करती है। झारखण्ड में स्वयं सहायता समूहों (Self Help Groups) की गतिविधियों ने ग्रामीण महिलाओं को लघु उद्यम, हस्तशिल्प, कृषि आधारित उद्योग तथा डेयरी व्यवसाय में संलग्न होने का अवसर दिया है। वित्तीय साक्षरता और प्रशिक्षण के माध्यम से महिलाएँ बाजार की मांग को समझकर उत्पादों का उत्पादन और विपणन कर रही हैं। उद्यमिता महिलाओं को आय का स्वतंत्र स्रोत प्रदान करती है और आर्थिक निर्भरता को कम करती है। शिक्षित महिला उद्यमी जोखिम प्रबंधन, लेखा-जोखा तथा डिजिटल माध्यमों का उपयोग अधिक प्रभावी ढंग से कर पाती हैं।

- **बैंकिंग एवं वित्तीय समावेशन**- आर्थिक सशक्तिकरण में बैंकिंग सुविधाओं तक पहुँच का महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा महिलाओं को बैंक खाता संचालन, ऋण सुविधा, बीमा और बचत योजनाओं की समझ प्रदान करती है। प्रधानमंत्री जनधन योजना जैसी पहलों ने महिलाओं को औपचारिक बैंकिंग प्रणाली से जोड़ा है। झारखण्ड में स्वयं सहायता समूहों के माध्यम से सूक्ष्म वित्त तक पहुँच बढ़ी है, जिससे महिलाएँ छोटे व्यवसाय आरंभ कर रही हैं। डिजिटल भुगतान और मोबाइल बैंकिंग का ज्ञान वित्तीय पारदर्शिता और आत्मनिर्भरता को बढ़ावा देता है।

- **निर्णय लेने की क्षमता**- शिक्षा महिलाओं की निर्णय क्षमता को सुदृढ़ करती है। शिक्षित महिलाएँ परिवार नियोजन, बच्चों की शिक्षा, स्वास्थ्य देखभाल और आर्थिक निवेश जैसे विषयों पर सक्रिय भूमिका निभाती हैं। ग्राम पंचायतों और स्थानीय निकायों में महिला प्रतिनिधित्व ने निर्णय प्रक्रिया में उनकी भागीदारी को बढ़ाया है। आर्थिक रूप से सशक्त महिलाएँ सामाजिक मान्यता प्राप्त करती हैं, जिससे पारिवारिक और सामुदायिक स्तर पर उनका प्रभाव बढ़ता है।

- **घरेलू आय में योगदान**- शिक्षित महिलाएँ परिवार की आय में महत्वपूर्ण योगदान देती हैं। रोजगार या स्वरोजगार के माध्यम से प्राप्त आय परिवार की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करती है, जिससे बच्चों की शिक्षा, पोषण और स्वास्थ्य पर व्यय में वृद्धि होती है। अतिरिक्त आय से बचत और निवेश की संभावनाएँ भी बढ़ती हैं। झारखण्ड के ग्रामीण क्षेत्रों में महिला आय का उपयोग प्रायः परिवार की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति और भविष्य की सुरक्षा हेतु किया जाता है।

अत: देखें तो महिला शिक्षा आर्थिक सशक्तिकरण का आधार है। यह रोजगार, उद्यमिता, वित्तीय समावेशन, निर्णय क्षमता और घरेलू आय में वृद्धि के माध्यम से महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाती है तथा राज्य और राष्ट्र के सतत विकास को सुदृढ़ आधार प्रदान करती है।

अध्ययन से स्पष्ट होता है कि महिला शिक्षा और आर्थिक सशक्तिकरण के मध्य सुदृढ़ एवं सकारात्मक संबंध विद्यमान है। जिन महिलाओं ने उच्च स्तर तक शिक्षा प्राप्त की है, उनकी आय अर्जन क्षमता, रोजगार के अवसरों तक पहुँच और सामाजिक सहभागिता अधिक पाई गई है। शिक्षा महिलाओं को बुनियादी साक्षरता, तकनीकी दक्षता तथा निर्णय लेने की क्षमता प्रदान करती है, जिससे वे संगठित एवं असंगठित दोनों क्षेत्रों में कार्य करने में सक्षम होती हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त महिलाओं को बेहतर वेतन, सुरक्षित कार्य-परिस्थितियाँ और स्थायी रोजगार मिलने की संभावना अधिक रहती है। इसके साथ ही ग्रामीण-शहरी अंतर एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष के रूप में सामने आया है। शहरी क्षेत्रों में शैक्षणिक संस्थानों, प्रशिक्षण केंद्रों और रोजगार अवसरों की उपलब्धता अधिक होने के कारण महिलाओं की आर्थिक भागीदारी अपेक्षाकृत सशक्त है। दूसरी ओर ग्रामीण एवं आदिवासी क्षेत्रों में आधारभूत संरचना की कमी, भौगोलिक दुर्गमता और सामाजिक रूढ़ियाँ शिक्षा की निरंतरता को प्रभावित करती हैं। बाल विवाह, घरेलू दायित्व और आर्थिक दबाव भी बालिकाओं की शिक्षा में बाधा उत्पन्न करते हैं, जिससे ड्रॉपआउट दर बढ़ती है।

अत: बालिका शिक्षा को प्राथमिकता देते हुए नामांकन और उपस्थिति सुनिश्चित की जाए। विद्यालयों में सुरक्षित वातावरण, स्वच्छता सुविधाएँ और परिवहन व्यवस्था उपलब्ध कराई जानी चाहिए। आर्थिक रूप से कमजोर परिवारों की छात्राओं के लिए छात्रवृत्ति, निःशुल्क पाठ्य-सामग्री और उच्च शिक्षा हेतु वित्तीय सहायता प्रदान करना प्रभावी उपाय सिद्ध हो सकता है। कौशल विकास कार्यक्रमों को स्थानीय आवश्यकताओं और बाजार की मांग के अनुरूप विकसित करना चाहिए,

ताकि महिलाएँ रोजगारपरक शिक्षा प्राप्त कर सकें। स्वयं सहायता समूहों और लघु उद्यमों को प्रोत्साहन देकर स्वरोजगार के अवसर बढ़ाए जा सकते हैं। डिजिटल शिक्षा और वित्तीय साक्षरता का विस्तार भी अत्यंत आवश्यक है, जिससे महिलाएँ बैंकिंग सेवाओं, डिजिटल भुगतान और ऑनलाइन प्रशिक्षण का लाभ उठा सकें। समग्रतः यह निष्कर्ष निकलता है कि महिला शिक्षा आर्थिक प्रगति का आधार है। यदि शिक्षा, कौशल, वित्तीय सहयोग और सामाजिक जागरूकता को समन्वित रूप से लागू किया जाए, तो महिला सशक्तिकरण की प्रक्रिया को गति मिल सकती है और झारखण्ड जैसे राज्य में संतुलित एवं सतत विकास की दिशा सुदृढ़ हो सकती है।

उपसंहार

महिला शिक्षा आर्थिक सशक्तिकरण का मूल आधार है। शिक्षा महिलाओं को ज्ञान, कौशल, आत्मविश्वास और निर्णय क्षमता प्रदान करती है, जिसके माध्यम से वे आर्थिक गतिविधियों में सक्रिय भागीदारी कर सकती हैं। शिक्षित महिला परिवार की आर्थिक स्थिरता, बच्चों की शिक्षा और स्वास्थ्य सुधार में भी महत्वपूर्ण योगदान देती है। इस प्रकार शिक्षा व्यक्तिगत उन्नति से आगे बढ़कर सामाजिक और आर्थिक विकास की आधारशिला बन जाती है। झारखण्ड की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि को देखते हुए यह स्पष्ट है कि राज्य में महिला शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति की पर्याप्त संभावनाएँ मौजूद हैं। ग्रामीण और आदिवासी क्षेत्रों में शैक्षणिक अवसंरचना के विस्तार, डिजिटल संसाधनों की उपलब्धता, प्रशिक्षित शिक्षकों की नियुक्ति और कौशल विकास कार्यक्रमों के माध्यम से उल्लेखनीय परिवर्तन लाया जा सकता है। स्वयं सहायता समूहों, स्थानीय निकायों और सामुदायिक संगठनों की सक्रिय भागीदारी महिला शिक्षा को सुदृढ़ करने में सहायक सिद्ध हो सकती है। नीति-निर्माण के स्तर पर आवश्यक है कि महिला शिक्षा को समग्र विकास रणनीति का केंद्रीय तत्व बनाया जाए। बालिका शिक्षा के प्रोत्साहन, उच्च शिक्षा में अवसरों की वृद्धि, व्यावसायिक प्रशिक्षण और वित्तीय समावेशन को एकीकृत दृष्टिकोण के साथ लागू किया जाना चाहिए। डेटा-आधारित योजना निर्माण और क्षेत्र-विशेष की आवश्यकताओं के अनुरूप हस्तक्षेप से अधिक प्रभावी परिणाम प्राप्त हो सकते हैं। अत: कहा जा सकता है कि यदि शिक्षा को प्राथमिकता देते हुए योजनाओं का समुचित क्रियान्वयन सुनिश्चित किया जाए, तो झारखण्ड में महिला आर्थिक सशक्तिकरण की प्रक्रिया को सुदृढ़ गति मिल सकती है और राज्य के सतत एवं समावेशी विकास का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

संदर्भ सूची

Becker, G. S. (1964). *Human capital: A theoretical and empirical analysis, with special reference to education*. University of Chicago Press.

Census of India. (2011). *Primary census abstract: Jharkhand*. Office of the Registrar General & Census Commissioner, India. https://censusindia.gov.in

International Institute for Population Sciences (IIPS) & ICF. (2021). *National Family Health Survey (NFHS-5), 2019–21: India report*. Ministry of Health and Family Welfare, Government of India. https://rchiips.org/nfhs

Ministry of Statistics and Programme Implementation (MoSPI). (2023). *Periodic Labour Force Survey (PLFS) annual report 2022–23*. Government of India. https://mospi.gov.in

NITI Aayog. (2023). *SDG India index & dashboard 2023-24*. Government of India. https://www.niti.gov.in

उप्रेती, हरिचंद (2004). *भारतीय जनजातियां संरचना और विकास*, जयपुर: राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी

कौशिक, आशा (2004). *नारी सशक्तिकरण विमर्श एवं यथार्थ*: जयपुर

द्विवेदी, राकेश (2005). *महिला सशक्तिकरण: चुनौतियां एवं रणनीतियां*: भोपाल

Received: 11.01.2026 | Accepted: 21.01.2026 | Published: 30.01.2026

समाज सुधार में रामानंद की भूमिका

प्रतीक कुमार ओझा* **pratikkumarom0976@gmail.com**

डॉ. अंजनी कुमार श्रीवास्तव† **anjanijnu1@gmail.com**

शोध सारांश

किसी भी महान पुरुष को जन्म देने में उस युग की तत्कालीन परिस्थितियों का विशेष योगदान होता है। इतिहास प्रसिद्ध है कि युग की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही समय-समय पर एक से एक महान पुरुषों का अवतरण इस भारत- भूमि पर निरंतर होता रहा है। ऐसे ही महान पुरुषों में स्वामी रामानंद का प्रमुख स्थान है।

भारत के मध्यकालीन इतिहास में स्वामी रामानंद का अभूतपूर्व योगदान है। वे एक महान समाज सुधारक और संत कवि के रूप में जाने जाते हैं। उत्तर भारत के भक्ति आंदोलन के प्रचार- प्रसार में उनका विशेष योगदान है। इस तरह वे मध्यकालीन भक्ति- आंदोलन के प्रमुख सूत्रधार या प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके बारे में प्रचलित कथन है कि- ''भक्ति द्राविड़ उपजी, लाये रामानंद।'' अर्थात् भक्ति को दक्षिण से उत्तर भारत में ले आने का श्रेय रामानंद को ही जाता है। उन्होंने रामभक्ति की पावन धारा को समाज के प्रत्येक वर्ग तक पहुंचाने के लिए रामानंदी या रामावत संप्रदाय की स्थापना की जिसे वर्तमान में बैरागी संप्रदाय के नाम से भी जाना जाता है। इनके महान व्यक्तित्व और सामाजिक प्रभाव पर प्रकाश डालते हुए

आचार्य 'परशुराम चतुर्वेदी' ने ठीक ही लिखा है कि- ''इनके चरित्र बल और असाधारण व्यक्तित्व के कारण इनके समकालीन हिंदू समाज का वातावरण इनसे प्रभावित हो उठा और सर्वत्र एक प्रकार की क्रांति की लहर फैल गई। ये अपने समय के एक प्रभावशाली पथ- प्रदर्शक के रूप में दीख पड़ते हैं। वास्तव में जिस भक्ति साधना का प्रचार आज हम उत्तरी भारत में देख रहे हैं उसके प्रधान प्रवर्तक स्वामी रामानंद ही थे।''[1]

रामानंद का जन्म इतिहास के एक ऐसे संक्रमण काल में हुआ जब समाज में अनेक समस्याएं अपनी जड़े जमा चुकी थी। भारतीय समाज विभिन्न वर्गों, वर्णो, जातियों और संप्रदायों में बटा हुआ था। उच्च- नीच, भेदभाव, जाति-पाति, छुआछूत एवं हिंदू मुस्लिम झगड़े जैसी अनेक बुराइयां समाज में फैली हुई थी। इस्लामी आक्रांताओं के द्वारा तलवार की नोक पर इस्लाम का प्रचार- प्रसार किया जा रहा था। हिंदू मंदिरों तथा धर्मग्रंथो का विध्वंस किया जा रहा था। यही नहीं, हिंदुओं का धर्म परिवर्तित करके उन्हें बलात् मुस्लिम बनाया जा रहा था। समाज में घोर निराशा और अंधविश्वास पूरी तरह से व्याप्त था।

एक तरह से कहें तो उस समय भारत की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थिति अत्यंत ही सोचनीय थी रामानंद इन सामाजिक हलचलों से पूर्ण परिचित थे। वे स्वभाव से संत थे। अतः मानवता की नैष्ठिक सेवा में सदा लगे रहते थे। उनकी दूरदृष्टि सामाजिक समस्याओं के प्रति पूर्ण सजग थी। ऐसी परिस्थिति में रामानंद और उनके शिष्यों ने भक्ति के माध्यम से समाज के सभी वर्गों को संगठित और समन्वित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने समाज में व्याप्त कुरीतियों जैसे-जाति-पाति, छुआछूत, उच्च- नीच तथा भेदभाव आदि रुढ़िग्रस्त परंपराओं को समाप्त करने का महनीय कार्य किया। रामानंद ने 'जाति- पाति पूछे नहीं कोई, हरि को बजे सो हरि का होई। का उपदेश देकर भक्ति का द्वार सभी जातियों के लिए खोल दिया।

रामानंद मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के पहले ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने शुद्रो तथा स्त्रियों को भी भक्ति का अधिकारी मानकर उनके लिए भक्ति का मार्ग सुलभ कर दिया। इस तरह रामानंद ने अपने अद्भुत व्यक्तित्व के प्रभाव से तत्कालीन समाज

* **शोधार्थी, हिंदी विभाग, महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी, बिहार**

† **सह-आचार्य, हिंदी विभाग, महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतीहारी, बिहार**

में व्याप्त कठोर वर्ण व्यवस्था, जाति प्रथा, विदेशी आक्रांताओं के अत्याचार, धर्मांतरण तथा स्त्रियों की दुर्दशा पर काफी हद तक नियंत्रण कर सामाजिक समरसता का संदेश दिया।

रामानंद को रामोपासना के इतिहास में एक युग-प्रवर्तक आचार्य माना जाता है। रामभक्ति की पावन धारा को समाज के प्रत्येक वर्ग तक पहुंचाने के लिए उन्होंने रामावत संप्रदाय का प्रवर्तन कर, अपने द्वादश शिष्यों के साथ मिलकर समाज और संस्कृति की रक्षा हेतु पूरे भारतवर्ष में अनेक मठ, मंदिर, अखाड़े और गादियां स्थापित किया जिसका परिणाम यह हुआ कि समाज में एक नई क्रांति और आशा का संचार हुआ साथ ही विभिन्न धर्मो, संप्रदायो और जातियों के लोगों ने इस अखिल भारतीय भक्ति- आंदोलन में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। रामानंद को रामभक्ति परंपरा का प्रथम आचार्य माना जाता है। प्रभु श्रीराम के प्रति उनकी अनन्य भक्ति इतनी प्रबल और उच्चकोटि की थी कि उन्हें आज लोग 'रामानंद: स्वयं राम: प्रादुर्भूतों महीतले' की उक्ति से संबोधित किया करते हैं।

रामानंद मध्यकालीन भारत के पहले ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने संस्कृत के स्थान पर लोक-भाषा हिंदी को अपने साहित्य का माध्यम बनाया साथ ही अपने शिष्यों के साथ मिलकर हिंदी में काव्य- रचना करके जन-भाषा हिंदी को प्रतिष्ठित कर उसे अखिल भारतीय स्तर तक फैलाया।

मुख्य शब्द:

भक्ति आंदोलन, समरसता, जाति-व्यवस्था, दलित, स्त्री, वंचित, समानता, निर्गुण, संप्रदाय, सामाजिक चेतना।

मूल आलेख

स्वामी रामानंद मध्यकालीन भारत के एक महान समाज सुधारक थे। उनके चिंतन में धर्म और समाज को समान महत्व प्राप्त था। धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में जहां श्रीलक्ष्मण सीता सहित श्रीराम उनके उपास्य हैं वहीं सामाजिक क्षेत्र में उनकी दृष्टि दलित, स्त्री और उपेक्षित वर्गों के प्रति सदा सकारात्मक रही है। धर्म के साथ सामाजिक समरसता उनके चिंतन का केंद्रीय भाव है। सामाजिक क्षेत्र में उनके इसी प्रगतिशील चिंतन दृष्टि का उल्लेख करते हुए डॉ. उदय प्रताप सिंह लिखते हैं-

"स्वामी रामानंद प्रगतिशील चेतना के उन्नायक थे। समाज के विकास में वे सदैव अपनी प्रगतिशील चिंतन दृष्टि का प्रयोग करते थे किंतु धर्मविहीन प्रगतिशीलता उन्हें मान्य न थी। उनकी प्रगतिशील दृष्टि धार्मिक आस्था के साथ सामंजस्य की पक्षधर थी।"[2]

समाज में सभी तरह के अधिकारों से वंचित शोषितों एवं दलितों के प्रति स्वामी रामानंद के हृदय में गहरी सहानुभूति थी। उन्होंने अपने लंबे जीवनकाल में शास को ही सर्वस्व नहीं माना बल्कि उनके सामने तत्कालीन भारत के दयनीय समाज का चित्र दिखाई दे रहा था।

अतः धार्मिक अभियान में उन्होंने सामाजिक पक्ष को अधिक महत्त्व प्रदान किया। पादजों (शूद्रों), अंत्यजों (दलितों) तथा स्त्रियों को बराबर का सम्मान दिया। स्वामी रामानंद वर्णाश्रम व्यवस्था में जीवन व्यतीत करते हुए भी उपासना के क्षेत्र में किसी भी जाति-पाति अथवा छुआछूत को स्वीकार नहीं करते थे। यही कारण है कि उनके द्वादश शिष्यों में ब्राह्मण, राजपूत, चमार, मुसलमान, अंत्यज, पादज सभी थे। रामानंद ने इन सभी को अपना शिष्य बनाकर सामाजिक समरसता का संदेश दिया।

स्वामीजी के जीवन में प्राचीन और नवीन का अद्भुत संतुलन था। शास्त्रों का भाष्य करते समय वे वर्णाश्रम के प्रतिबंधों का खंडन नहीं कर सकते थे; किंतु उनके लिए यह उससे भी कठिन था कि किसी भक्त का निरादर सिर्फ इसलिए करें कि उसका जन्म ब्राह्मण या द्विज वंश में नहीं हुआ है। विचार से वे कठोर किंतु आचार से दयालु संत थे उनका उद्देश्य रूढ़ियों और जड़ताओं को तोड़ना था, नए समाज का सृजन था, जो मानवीय स्तर पर भेद-भाव रहित हो। सामाजिक एकता, समानता और सौख्य हेतु उन्होंने अपने द्वादश प्रमुख शिष्यों में प्रायः उतनी ही जातियों का समावेश किया। सदना क्रसाई को शिष्य बनाकर उदारता तथा हृदय की निर्मलता का परिचय दिया था। उस युग में दलित चेतना का इससे बड़ा प्रमाण मिलना कठिन है।

स्वामी रामानंद ने धर्म के माध्यम से समाज सुधार का जो अभियान चलाया वह कबीर, रैदास, पीपा, धन्ना, नरहर्यानंद, तुलसीदास द्वारा होता हुआ आज के संत समाज में व्याप्त है। जुलाहे कबीर के असंख्य शिष्य हिंदू व सवर्ण हुए।

चमार रैदास की शिष्या मीराँबाई हुई। राजपूत पीपा के शिष्य आदिवासी जातियाँ तथा मुसलमान हुए। सेन नाई के शिष्य महाराज बांधौगढ़ (म.प्र.) तक हुए। धन्ना जाट के शिष्य ब्राह्मण हुए। दलितों और शोषितों के प्रति रामानंद के इस उदार दृष्टिकोण पर प्रकाश डालते हुए डॉ. वासुदेव सिंह ठीक ही लिखते हैं कि- "स्वामी रामानन्द इस सामाजिक वैषम्य से क्षुब्ध थे वे सच्चे अर्थों में मानवतावादी सन्त थे तथा जन्म के आधार पर किसी भी प्रकार के वैषम्य के कट्टर विरोधी थे। अतः उन्होंने सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से उपेक्षित और शोषित मनुष्यों के उद्धार और कल्याण का बीड़ा उठाया। उनकी दृष्टि में भक्ति वह साधन थी, जिसके माध्यम से शोषित और पीड़ित मानवता का उद्धार किय जा सकता है।"[3]

समाज सुधारक स्वामी रामानंद भारतीय समाज की रीढ़ नारी को अत्यंत आदर की दृष्टि से देखते हैं। अपने बारह शिष्यों में 'सुरसुरी' और 'पद्मावती' को सम्मिलित कर उन्होंने नारी जागरण का महाभियान चलाया था। नाभादासकृत भक्तमाल में इसका उदाहरण देखा जा सकता है-

"अनंतानंद कबीर सुखा (सुरसुरा) पद्मावति नरहरि।
पीपा भावानंद रैदास धन्ना सेन सुरसुर की घरहरि।।"[4]

मध्ययुग में नारी महलों और अवगुंठनों में क़ैद थी। वहाँ उसका साध्वी बनना एक साहसपूर्ण क्रांतिकारी क़दम था। रामानंद ने पद्मावती और सुरसुरी जैसी स्त्रियों को अपना शिष्य बनाकर समाज में एक नई क्रांति का सूत्रपात किया। नारी- शक्ति का जागरण स्वामी रामानंद के भक्ति आंदोलन का प्रतिफल ही कहा जाना चाहिए।

इसी प्रकार स्वामी रामानंद के शिष्य रैदास वाराणसी के ही निवासी थे। वह स्वामी रामानंद की आध्यात्मिक चेतना से इतने शक्तिमान थे कि काशी के बड़े-बड़े ब्राह्मण उन्हें दंडवत करने लगे। उनकी शिष्या मीराँबाई राजरानी थीं। उनकी कृष्णभक्ति की दीवानगी लोगों की जुबान पर आज भी विद्यमान है, पर उनकी रामभक्ति की उत्कर्षता भी सिद्धावस्था तक पहुँची दिखाई पड़ती है। अनेक प्रतिबंधों के अनंतर उनका स्वाधीनचेता व्यक्तित्व बिना प्रतिरोध के प्रवाहित होता रहा है। एक दृष्टांत पर्याप्त होगा-

"मीरा दासी राम की ने, राम ग़रीब नेवाज।
मीरों की लाज राख्यो म्हारी बाँह ग्रहना जी लाज।
हारे जेणें राम तथा गुन गाया, तेरे जमना मार न खाया।।"[5]

रामानंदी परंपरा में गबरीबाई का भी उल्लेख हुआ है। वह राजस्थान के आस-पास की निवासिनी थीं। राम-नाम में ऐसी तन्मय हुई कि स्वतंत्रता का निष्कंप दीप जला गईं। उनकी भक्तिमयी तन्मयता के आलोक से पूरा युग ही प्रतिबिंबित होने लगा।

आधुनिक काल में जिस **'स्त्री विमर्श'** की आज हम चर्चा कर रहे हैं और स्त्रियों को जागरूक, सशक्त एवं आत्मनिर्भर बनाने के लिए सरकार की ओर से जो अनेक योजनाएं और कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं, उन सबका वास्तविक सूत्रपात स्वामी रामानंद जी ने मध्यकाल में ही कर दिया था। आज के समय में जब हम शिक्षा और अधिकारों के माध्यम से नारी को समाज की मुख्यधारा में लाने का प्रयास देखते हैं, तो उसकी वैचारिक नींव हमें रामानंद जी के उसी दृष्टिकोण में मिलती है जहाँ उन्होंने मध्यकालीन रूढ़ियों को तोड़कर स्त्रियों को भक्ति और ज्ञान के उच्चतम शिखर पर प्रतिष्ठित किया था। उनका यह क्रांतिकारी कदम नारी शक्ति को केवल सामाजिक पहचान देना नहीं था, बल्कि उन्हें आध्यात्मिक रूप से इतना सक्षम बनाना था कि वे स्वयं का और समाज का मार्गदर्शन कर सकें।

भक्तिकाल में स्वामी रामानंद ने नारी की इस अतुलित शक्ति और अंतर्निहित ऊर्जा को क़रीब से पहचाना था। उनकी इस पहचान में समय का दबाव, इतिहास का प्रभाव और आध्यात्मिक चेतना की स्पष्ट झलक दिखती है। पूरे भक्तिकाल में सुरसुरी, पद्मावती, मीराँबाई, गबरीबाई, सहजोबाई, दयाबाई और बावरी साहिबा जैसी साध्वी कवयित्रियाँ स्त्री-स्वतंत्रता का ही उद्घोष करती हैं। भक्ति आंदोलन का यह प्रभाव जहाँ नारी मन को स्वतंत्र, स्वाभिमानी और स्वाधीन बनाता है, वहीं संप्रदाय और जात-पाँत से ऊपर उठकर सामाजिक समरसता का सृजन भी करता है।

उल्लेख्य है कि आचार्य रामानंद के भक्ति आंदोलन में राम-कृष्ण की समानांतर धाराएँ प्रवाहित हुई हैं। रामभक्त कवियों ने कृष्ण तथा कृष्णभक्त कवियों ने राम का गुणगान किया है।

इस अभियान में हिंदू नारियों के साथ मुसलमान नारियों को भी रूढ़ियों, विद्रूपताओं, अंधविश्वासों और पुरुषों की लक्ष्मण रेखाओं का अतिक्रमण करना पड़ा था जिससे उनके स्वाभिमान की रक्षा हो सके।

इस संदर्भ में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भक्ति-कालीन नारियों की स्वतंत्र चेतना का पाथेय स्वामी रामानंद का रामभक्ति आंदोलन रहा है। आंदोलन की इस प्रबल धारा में राम-कृष्ण, सगुण-निर्गुण, ऊँच-नीच, स्पृश्य-अस्पृश्य, स्त्री-पुरुष के भेद तिरोहित हो गए थे। भक्तिकाल की यह पहली घटना है जय स्त्रियों ने पुरुषों के बराबर आध्यात्मिक और सामाजिक चेतना को जगाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। कहा जा सकता है कि संपूर्ण भक्ति-युग स्त्री की शक्तिमयता, वाग्मिता, जागृति, स्वत्व-चेतना एवं सम्मान का काल है जिसमें स्वामी रामानंद व रामानंद-संप्रदाय की अविस्मरणीय भूमिका है।

स्वामी रामानंद जी का काल भारतीय धर्म साधना के इतिहास में एक अत्यंत संक्रांति का समय था। उस युग में समाज में तंत्र-मंत्र, योग, नाथपंथ, सिद्धों की परंपराएँ और शैव-वैष्णव जैसे अनेक संप्रदाय और मत मतांतर प्रचलित थे। ये सभी मार्ग अपनी-अपनी विशिष्ट साधना पद्धतियों के साथ समाज में विद्यमान थे, जिनमें अक्सर परस्पर विरोध की स्थिति भी रहती थी। स्वामी रामानंद पहले ऐसे महान समन्वयकारी संत कवि हुए जिन्होंने अपनी प्रगतिशील चिंतन दृष्टि से इन सभी विविध और विरोधी दिखने वाली धाराओं को एक सूत्र में पिरो दिया। वे सभी संप्रदायों और साधना पद्धतियों में समन्वय स्थापित कर उसे राम की भक्ति से जोड़ने का अद्भुत सामर्थ रखते थे। उनके अद्भुत व्यक्तित्व का उल्लेख करते हुए डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल लिखते हैं कि- "स्वामी रामानन्द एक सम्प्रदाय में सीमित रहने वाले व्यक्तियों में नहीं हैं। उनका प्रभाव बड़ा विस्तृत था। रामानन्द सम्प्रदाय तो उनका है ही, इसके अतिरिक्त महाराष्ट्र के नाथ पंथी उन्हें अपनाते हैं प्रसिद्ध संत ज्ञानदेव नाथ पंथी परिवार में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता विट्ठल पंत रामानन्द के शिष्य माने जाते हैं। स्वामी रामानन्द सदाचार और उदारता की प्रतिमूर्ति थे। उत्तर भारत में वे वैष्णवता के प्रचार के प्रधान आचार्य थे।"[6]

उनकी इस समन्वयवादी दृष्टि का सबसे प्रबल प्रमाण उनकी रचनाओं में मिलता है। स्वामी जी ने केवल सिद्धांतों की चर्चा नहीं की, बल्कि उन्होंने प्रचलित साधना पद्धतियों के उपयोगी तत्वों को अपनी भक्ति पद्धति में आत्मसात किया। उदाहरण के लिए, उनके द्वारा रचित **'राम रक्षा स्तोत्र'** में तंत्र- मंत्र, कील- कवच जैसी तांत्रिक साधनाएं दिखाई पड़ती हैं जो नाथ संप्रदाय से काफ़ी प्रभावित है। इसी प्रकार, उनकी कृति **'योग चिंतामणि'** यह प्रमाणित करती है कि वे योग की कठिन साधनाओं और रहस्यों के पूर्ण ज्ञाता थे। डॉ. बदरीनारायण श्रीवास्तव के शब्दों में "स्वामी रामानंद ने राम के उसी योगपरख रूप को अपनाया था।"[7]

स्वामी रामानंद ने नाथ पंथ की हठयोग साधना, सिद्धों के अनुभवों और तांत्रिक कील-कवच जैसी पद्धतियों को रामभक्ति के व्यापक ढांचे में समाहित कर दिया। उन्होंने यह सिद्ध किया कि ये सभी मार्ग- चाहे वे योग के हों, तंत्र के हों या भक्ति के- परमात्मा की प्राप्ति के ही विभिन्न साधन हैं। उनके उदार व्यक्तित्व ने इन सभी विविध साधना पद्धतियों के बीच के भेदभाव को मिटाकर एक ऐसा मार्ग तैयार किया, जिसमें योग का अनुशासन, तंत्र की शक्ति और भक्ति की सरलता का अद्भुत मिलन था। उनके इसी समयकारी विचारधारा को रेखांकित करते हुए डॉ. कन्हैया सिंह लिखते हैं- "रामानन्द दो नहीं थे बल्कि स्वामी रामानन्द अपने व्यक्तित्व में दो विरोधी विचारों के समन्वय थे। उनमें योग और तन्त्र-मन्त्र के साथ सगुण भक्ति का समन्वय था। संस्कृत के साथ हिंदी भाषा में भी अपने विचार को प्रचारित करने की लोक दृष्टि थी और इसी का परिणाम था कि उनकी शिष्य परम्परा में एक तरफ कबीर जैसा निर्गुण सन्त और दूसरी ओर तुलसी जैसा सगुण भक्त दोनों थे।"[8]

वास्तव में, स्वामी रामानंद ने अपनी रचनाओं और उपदेशों के माध्यम से भारतीय साधना जगत की बिखरी हुई कड़ियों को जोड़कर एक महान समन्वय स्थापित किया।

स्वामी रामानंद भारतीय अध्यात्म के इतिहास में वे पहले आचार्य थे जिन्होंने भाषा को विद्वानों की सीमा से बाहर निकालकर जन-साधारण की संवेदना से जोड़ दिया। उनसे पूर्व के महान आचार्यों जैसे- रामानुजाचार्य, माधवाचार्य और निंबार्काचार्य ने अपने सिद्धांतों का प्रचार मुख्य रूप से संस्कृत भाषा में ही किया था। उस समय की परंपरा के अनुसार शास्त्रीय ज्ञान का एकमात्र माध्यम संस्कृत को ही माना जाता था, जिससे सामान्य जनता के लिए भक्ति के गहरे अर्थों को समझना कठिन था।

स्वामी रामानंद पहले ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने इस भाषाई बाधा को दूर किया और संस्कृत के साथ-साथ हिंदी में भी रचनाएँ करके दोनों भाषाओं का अद्भुत समन्वय किया। उन्होंने जहाँ एक ओर 'वैष्णवमताब्ज भास्कर' और 'श्रीरामार्चन

पद्धति' जैसे ग्रंथों की रचना संस्कृत में की ताकि शास्त्र की मर्यादा बनी रहे, वहीं दूसरी ओर उन्होंने हिंदी में अपने फुटकल पद लिखकर भक्ति के मार्ग को सबके लिए सुलभ बना दिया। उनका वास्तविक समन्वय इस बात में दिखाई देता है कि उन्होंने संस्कृत को 'सिद्धांतों का आधार' बनाया और हिंदी को 'भक्ति के प्रचार का माध्यम'। डॉ. रामकुमार वर्मा अपनी पुस्तक 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में लिखते हैं- "उत्तरी भारत में रामभक्ति का जो प्रचार हुआ, उसका एकमात्र श्रेय रामानन्द ही को है। रामानन्द के पूर्व यद्यपि अनेक वैष्णव भक्त हो चुके थे तथापि रामभक्ति के वास्तविक आचार्य रामानन्द ही समझे गए। रामानन्द ने संस्कृत के साथ जन-समाज की बोली में भी वैष्णव धर्म का प्रचार किया।"[9]

यद्यपि स्वामी रामानंद की गति विशेष रूप से संस्कृत भाषा में थी किंतु उन्होंने सामान्य जनता तक अपनी भक्ति को प्रचारित करने तथा अपने उपदेशों को फैलाने के लिए लोक भाषा हिंदी को अपनाया। समाज के निचले दरिद्र, उपेक्षित और दलित वर्ग के प्रति समानता का दर्जा देने की सामाजिक दृष्टि रखनेवाले रामानन्द ने भाषा को भी आम आदमी के धरातल पर लाने का मन्त्र दिया। इसी का परिणाम है कि आगे चलकर कबीर, रैदास, सूर, तुलसी से लेकर भीखा साहब तक भक्तों और सन्तों ने जनबोली में अपनी सारी कविताओं का सृजन किया। रामानंद ने यह सिद्ध किया कि जो आध्यात्मिक सत्य संस्कृत के ग्रंथों में है, वही सत्य हिंदी की सरल वाणी में भी प्राप्त किया जा सकता है। इस भाषाई मेल के कारण ही भक्ति का मार्ग उन लोगों तक भी पहुँच सका जो संस्कृत नहीं जानते थे। वास्तव में, स्वामी रामानंद ने ही संस्कृत के गंभीर ज्ञान को हिंदी की सरलता के साथ जोड़कर उसे जन-जन के हृदय तक पहुँचाने का ऐतिहासिक कार्य किया।

निष्कर्ष

इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्वामी रामानंद एक महान समाज सुधारक थे जिन्होंने समाज में फैली इन रूढिग्रस्त परंपराओं का खंडन कर सामाजिक समरसता का संदेश दिया। इसके साथ ही जनसामान्य की बोली में रामभक्ति का प्रचार कर हिंदी के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

संदर्भ :-

1. आचार्य, परशुराम चतुर्वेदी. (2019). उत्तरी भारत की संत परंपरा (पहला सं.). प्रयाग: लोक भारती प्रकाशन. पृ. 164
2. सिंह, उदय प्रताप. (2014). स्वामी रामानंद. नई दिल्ली: साहित्य अकादमी प्रकाशन. पृ. 24
3. सिंह, वासुदेव. (2001). हिंदी संत काव्य: समाजशास्त्रीय अध्ययन. वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन. पृ. 31
4. दास, श्रीनाभा. (संवत् 2018). भक्तमाल (चौदहवाँ सं.). गोरखपुर: गीताप्रेस. पृ. 255
5. आचार्य, परशुराम चतुर्वेदी. (1973). मीराबाई की पदावली (सोलहवाँ सं.). प्रयाग: हिंदी साहित्य सम्मेलन. पृ. 102
6. बड़थ्वाल, पीतांबरदत्त. (वि. 2012). रामानंद की हिंदी रचनाएँ. काशी: नागरी प्रचारिणी सभा. पृ. 25 (भूमिका से उद्धृत)
7. श्रीवास्तव, बद्रीनारायण. (1957). रामानंद संप्रदाय तथा हिंदी साहित्य पर उसका प्रभाव. प्रयाग: हिंदी परिषद विश्वविद्यालय. पृ. 61
8. सिंह, कन्हैया. (2022). स्वामी रामानंद: जीवन और दर्शन. प्रयाग: लोक भारती प्रकाशन. पृ. 80
9. वर्मा, रामकुमार. (2018). हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास. प्रयाग: लोक भारती प्रकाशन. पृ. 333

Received: 11.01.2026 | Accepted: 21.01.2026 | Published: 30.01.2026

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में लोक साहित्य एवं लोक संस्कृति

डॉ. संगीता रामनाथ देशमुख*
sangeetabalbhim@gmail.com

सारांश (Abstract)

प्रस्तुत शोध पत्र में भारतीय लोक साहित्य और लोक संस्कृति के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में महत्व और प्रासंगिकता का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। शोधकर्ता ने भारतीय संस्कृति की "अनेकता में एकता" की विशेषता को रेखांकित करते हुए लोक साहित्य को लोक संस्कृति का मुख्य आधार स्तंभ माना है। अध्ययन में यह स्पष्ट किया गया है कि लोक साहित्य के माध्यम से ही समाज की मान्यताएं, रीति-रिवाज, गीत-गाथाएं और परंपराएं जनमानस तक पहुंचती हैं।

21वीं सदी के सूचना प्रौद्योगिकी युग में लोक साहित्य और लोक संस्कृति में आने वाले परिवर्तनों का विश्लेषण करते हुए शोधकर्ता ने दर्शाया है कि वैश्वीकरण के प्रभाव से पारंपरिक संरचनाएं नए रूप में परिवर्तित हो रही हैं। अध्ययन में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि लोक साहित्य और लोक संस्कृति का परस्पर संबंध अविच्छिन्न है और ये दोनों समकालीन चुनौतियों का सामना करते हुए नए युग का प्रारंभ कर रहे हैं।

मुख्य शब्द (Keywords)

लोक साहित्य, लोक संस्कृति, भारतीय संस्कृति, वैश्वीकरण, सांस्कृतिक परिवर्तन, परंपरा और आधुनिकता, लोकगीत, लोकगाथा, सामाजिक मूल्य, सूचना प्रौद्योगिकी

प्रस्तावना:-

युग युग के संचित संस्कार ,
ऋषि मुनियों के उच्च विचार।
धीरो-वीरों के व्यवहार
निज संस्कृति के श्रृंगार ॥१

उक्त पंक्तियो के आधार पर कहा जाता है कि किसी भी समाज या देश की सभ्यता एवं संस्कृति को जानने के लिए उसकी महानता का ज्ञान होना आवश्यक है| प्राय: भारतीय संस्कृति की बात की जाए तो प्राचीन भारतीय संस्कृति की गाथा बयां करने वाले तथा उसका गौरव गान गाने वालों के अनुसार भारतीय संस्कृति अनेकता में एकता दर्शाने वाली संस्कृति है| जहां बहुभाषिकता संस्कार, रीती -रिवाज ,परंपराएं एवं पद्धतियों में अंतरण होने के बावजूद सभी एक सूत्र में बंधे हुए हैं | अपने आप में यह अनुठापन दर्शाने वाली भारतीय संस्कृति एवं साहित्य पर दृष्टिक्षेप किया जाए तो प्रतीत होता है कि भारतीय संस्कृति को विश्व की प्राचीन संस्कृतियों में से एक माना गया है| जो अपना एक महत्वपूर्ण स्थान निर्धारित करती है| इसीलिए वैश्विक स्तर पर भारत वर्ष एक विशाल का देश है तथा उसकी संस्कृति एवं साहित्य का जो विशाल भंडार है उसका मूल स्रोत कोई एक नहीं है, बल्कि ऑस्ट्रोएशिया ,हड़प्पा ,द्रविड़ वैदिक आदि संस्कृतियों का सम्मिश्रण है , अर्थात् इसी भारतीय संस्कृति ने विश्व को `सत्यम शिवम सुंदरम` की मधुर कल्पना दी है। साथ ही वसुधैव कुटुंबकम की संकल्पना भारतीय परंपरा साहित्य और संस्कृति की देन मानी गई है । लोक संस्कृति ही लोक साहित्य का मुख्य आधार स्तंभ है। लोक साहित्य के

* **आर. एन. सी. आर्ट्स जेडीबी कॉमर्स, अँड एन. एस. सी. सायन्स कॉलेज नाशिक रोड, नाशिक**

माध्यम से ही लोक संस्कृति जनमानस तक पहुंची है। लोक साहित्य को लोक संस्कृति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग माना गया है, क्योंकि इसमें लोक संस्कृति के सभी अंगों की झलक मिलती है। किसी भी समाज की मान्यताएं, रीति रिवाज, गीत गाथा, किस्से कहानीयाँ, कहावते, मुहावरों आदि का परिचय इसी लोक साहित्य के कारण होता है। लोक साहित्य का अभिप्राय उसे साहित्य से है जिसकी रचना लोक करता है। लोक साहित्य उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव। इसमें जनजीवन की प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक वर्ग एवं प्रत्येक समय तथा प्रकृति को समाहित किया गया है। लोक साहित्य की उपर्युक्त परिभाषा को यदि विश्लेषित किया जाए तो लोक साहित्य एवं लोक संस्कृति को समग्र रूप से समझना आवश्यक है। जैसे -

भारतीय दृष्टिकोण से लोक साहित्य -

भारतीय संस्कृति ने आज विश्व में अपना अक्षुण्ण स्थान बनाया हुआ है। यह संस्कृति मानव समाज की समग्र साधना, आकांक्षा ,पर्यटन तथा उपलब्धि के योग से निर्मित है। इस संस्कृत शब्द का अर्थ है- संस्कार, शुद्धता या परिष्कृत करना आदि। संस्कृति जितनी पुरातन होगी वह उतनी ही व्यापक होगी इसीलिए संस्कृति को किसी भी समाज की जीवन शैली के निर्माणकता के रूप में देखा जाता है। जिसका संबंध मनुष्य के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक एवं कालागत जीवन के विविध पहलुओं से होता है। इसी के आधार पर भारतीय दर्शनशास्त्र ने संस्कृति के पांच अवयव माने हैं- कर्म, दर्शन, इतिहास, वर्ण तथा रीति -रिवाज आदि। भारत की साहित्यिक और सांस्कृतिक परंपरा प्रगतिशील एवं उन्नत है। इसी कारण साहित्य समाज को दिशा प्रदान करता है, और संस्कृति समाज में संस्कारों का परिष्कार करती है।

वर्तमान परिदृश्य -

आज का युग सूचना, प्रौद्योगिकी तथा इंटरनेट का युग कहलाता है। यद्यपि उत्तर आधुनिक दृष्टि से देखा जाए तो किसी भी कालखंड की पहचान उसके पूर्वार्ध में या मूल में छिपी हुई होती है । इस तरह आज का युग लुप्त होती हुई संस्कृति एवं साहित्य को सहेज कर रखने का कार्य करने वाला वर्तमान युग वैश्वीकरण , ग्लोबलाइजेशन का युग माना जाता है। बावजूद संस्कृति एवं साहित्य को संजोए रखने में वह अपना अहम योगदान दे रहा है। यद्यपि कहा जा सकता है कि लोक साहित्य और लोक संस्कृति व्यापक समाज के संपदा है अर्थात् समय के साथ-साथ उसमें निरंतर परिवर्तन होता रहता है जैसे की" दस कोस पर पानी बदले, बीस कोस पर वाणी" इसी कहावत के समान कुछ इसी तरह लोग साहित्य और लोक संस्कृति भी समय के साथ-साथ परिवर्तित होती है एवं नए बदलावों को आत्मसात करते हुए निरंतर आगे बढ़ती है।

आधुनिक जीवन दृष्टि से देखा जाए तो जो भारतीय समाज मध्यकाल तक कृषि केंद्रित था। वह आधुनिक काल में उपयोगिता के साथ आगे बढ़ रहा है जिसके परिणाम स्वरुप न केवल साहित्य में परिवर्तन आ रहा है बल्कि संस्कृति का ढांचा भी परिवर्तित हो रहा है। जो लोकगीत ,लोक गाथा ,लोककथा ,लोकनाट्य तथा प्रकीर्णन साहित्य में पारंपरिक ढांचे में सिमटा हुआ था, वह आज नए बदलते परिवेश के कारण परिवर्तित हो रहा है। 21वीं सदी के आते-आते नए रूप में प्रकट हो रहा है। जिसमें न केवल पौराणिक धरोहर है बल्कि आधुनिकता का समन्वय भी उसमें जुड़ा हुआ नजर आता है। अर्थात् भारतीय समाज की कौटुंबिक संस्कृति पिछड़ते हुए प्रतीत होने लगी है , इसका मुख्य कारण पारिवारिक मूल्यों पर बाजार मूल्य तथा संस्कृति भारी पढ़ने लगी है। यद्यपि लोक साहित्य में होने वाले परिवर्तनों को समेट कर लोक संस्कृति एवं लोक साहित्य एक नए युग का प्रारंभ कर रहे हैं ।

लोक साहित्य एवं लोक संस्कृति का परस्पर संबंध:-

लोक साहित्य ,लोक संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। किसी भी समाज के रीति-रिवाज, मान्यताएं टोना टोटका, अंधविश्वास, गीता गाथा ,किस्से- कहानी, मुहावरे आदि का परिचय लोक साहित्य के द्वारा ही होता है। अर्थात् निष्कर्ष रूप में कहां जा सकता है की परंपरा और प्रयोग के आधार पर मानव जाति ने संस्कृति तथा साहित्य का निर्माण किया है। यह निर्माण प्रत्येक नई संस्कृति तथा नए समाज व्यवस्था के मानदंड निर्धारित करती है। जिसके कारण साहित्य तथा संस्कृति का विकास अविच्छिन्न गति से हो रहा है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत शोध अध्ययन में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि लोक साहित्य और लोक संस्कृति भारतीय समाज की अनेकता में एकता को दर्शाने वाली प्रमुख शक्ति है। आधुनिक सूचना प्रौद्योगिकी के युग में भी लोक साहित्य समाज की मान्यताओं, रीति-रिवाजों और परंपराओं के संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। वैश्वीकरण के प्रभाव के बावजूद, लोक संस्कृति नए बदलावों को आत्मसात करते हुए अपनी पारंपरिक विरासत को आधुनिकता के साथ समन्वित कर रही है। यह समन्वय ही लोक साहित्य और संस्कृति को 21वीं सदी में जीवंत और प्रासंगिक बनाए रखता है।

संदर्भ :-

द्विवेदी, हजारी प्रसाद. (1948). *अशोक के फूल: निबंध संग्रह*. सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली.

पटेल, अजय. (1985). *नरेंद्र कोहली के उपन्यासों में युग चेतना*. गुजराती साहित्य परिषद, अहमदाबाद.

शर्मा, श्रीराम. (1965). *लोक साहित्य: सिद्धांत और प्रयोग*. हिंदी साहित्य सम्मेलन, दिल्ली.

मायावंशी, के. एम. (1978). *हिंदी साहित्य में सांस्कृतिक चेतना*. विद्या प्रकाशन, नागपुर.

सत्येंद्र. (1962). *लोक साहित्य विज्ञान*. तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली.

Received: 12.01.2026 | Accepted: 22.01.2026 | Published: 30.01.2026

खिलाफत आंदोलन में भारत विभाजन की विभीषिका के सूत्र

राकेश कुमार*
kumarpandeyrakesh035@gmail.com

भारत सरकार ने प्रत्येक वर्ष 14 अगस्त को भारत विभाजन विभीषिका स्मृति दिवस के रूप में मनाने का निर्णय लिया है। देश के बंटवारे का दर्द और बंटवारे के दौरान साम्प्रदायिक हिंसा, कत्ल, पलायन एवं लोगों के बेघर होने के दर्द की विभीषिका को जिसने देखा-झेला-सहा था। उस दर्द को भविष्य की पीढ़ियों तक पहुँचाने का दायित्व वर्तमान पीढ़ी की है।

प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक जॉर्ज सेंटायाना ने कहा था-

"जो लोग अपने अतीत को याद नहीं रखते, वे उसे दोहराने को अभिशप्त होते हैं।"

भारत के प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व वाली कैबिनेट ने वर्ष 2021 में प्रत्येक वर्ष 14 अगस्त को विभाजन विभीषिका स्मृति दिवस घोषित किया है।

प्रथम विभाजन विभीषिका स्मृति दिवस के अवसर ट्वीट कर प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी ने पूरी दुनियां को बताया था- "देश के बंटवारे के दर्द को कभी भुलाया नहीं जा सकता। नफरत और हिंसा की वजह से हमारे लाखों बहनों और भाइयों को विस्थापित होना पड़ा और अपनी जान तक गंवानी पड़ी। उन लोगों के संघर्ष और बलिदान की याद में 14 अगस्त को विभाजन विभीषिका दिवस के तौर पर मानने का निर्णय लिया गया है।"

15 अगस्त, 1947 को अखंड भारत को स्वतंत्र होना था, लेकिन 14 अगस्त की मध्य रात्रि में भारत का खंड हो गया और पाकिस्तान नव प्रसूत इस्लामिक गणराज्य के रूप में स्थापित हुआ। इस्लाम धर्मावलंबियों ने हिन्दुओं का सरेआम कत्लेआम करना शुरू कर दिया। इस दौरान कम से कम 6 लाख लोगों का नरसंहार हुआ और 1.5 करोड़ लोगों को अपना घर-बार, परिवार और समाज को छोड़कर विस्थापित होने का दंश झेलना पड़ा। इतने बड़े पैमाने पर हिंसा और विस्थापन किसी युद्ध, गृह युद्ध और बाहरी देशों के आक्रमण के कारण नहीं हुआ था बल्कि यह हिंसा-प्रतिहिंसा इस्लामी धर्मावलंबियों की कट्टरता का परिणाम था। उनके मजहब में निहीत उन्माद का परिणाम था जिसने भारत विभाजन को विभीषिका में तबदील कर दिया। इतिहास गवाह है कि आधुनिक इतिहास में कई देशों का विभाजन हुआ, लेकिन कहीं भी इतना साम्प्रदायिक उन्माद, खून की प्यास, जनसंहार और पलायन नहीं देखा गया।

भारत ने आजादी के साथ विभाजन, नरसंहार एवं विस्थापन का भी दर्द सहा जो आज भी विस्थापित परिवारों की अंतःचेतना में समाहित है। उनका अपना परिवार छूटा, समाज छूटा और नये समाज में नये लोगों के बीच अपने अतीत को और अपने जीवन के सर्वस्व को मूल स्थान पर छोड़कर स्वयं को नई भूमि पर विस्थापित के रूप में स्थापित करना पड़ा।

मेरी मुलाकात शोध के क्रम में एक पश्चिमी पंजाब के विस्थापित परिवार से हुई जो वर्तमान में दिल्ली में अधिवासित हैं। 93 वर्षीय माताजी को विभाजन की विभीषिका की स्मृति होते ही रोंगटे खड़े हो गये। अतीत के उस भयावह दौर को याद करते हुए उन्होंने बताया कि कल तक जो मुसलमान पड़ोसी थे, वहीं 14 अगस्त, 1947 की रात में अस्मत लूटने पर आमदा दिखे। हमने अपने परिवार के सदस्यों का कत्ल अपनी आँखों के सामने देखा है। भरे-पूरे 15 पारिवारिक सदस्यों में हम चार किसी तरह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवकों की मदद से सबकुछ वहीं छोड़कर भागने में कामयाब रहे। दिल्ली हमारी शरणस्थली बनी। हमने संघर्ष किया और स्वयं को स्थापित किया। दिल्ली ने अपनत्व दिया किन्तु अंतश्चेतना में मुस्लमानों के प्रति घृणा का भाव ताउम्र रहेगा। उन्होंने यह भी बताया कि मेरी प्रपौत्री का चयन परास्नातक पाठ्यक्रम में जामिया मिलिया

* **दिल्ली**

इस्लामिया विश्वविद्यालय, नई दिल्ली में हुआ था किन्तु हमने उसका नामांकन वहाँ होने से रोक दिया। प्रपौत्री को दिल्ली से दूर पुणे से परास्नातक की डिग्री दिलवायी।

भारत विभाजन की विभीषिका देश की स्वतंत्रता के साथ अंतिम परिणति तक पहुँची किन्तु क्या विभाजन एकाएक परिणति को प्राप्त किया? बहुतेरे विद्वानों और शोधकर्ताओं का मानना है कि 1940 के दशक में मोहम्मद अली जिन्ना द्वारा परिकल्पित द्विराष्ट्र सिद्धांत अखंड भारत को दो खंड में बांटने का मुख्य आधार बना था, किन्तु मेरा तो शोध इस बात पर केन्द्रित है कि खिलाफत आंदोलन में देश के विभाजन के सूत्र और विभाजन की विभीषिका के सूत्र निहीत थे।

पारिभाषिक शब्दावलिया:

मोपला- हिन्द महासागर के पश्चिमी तट (मालाबार) पर केरल राज्य का मलयालम भाषा-भाषी अंचल में निवास करने वाले मुस्लिम मोपला कहे जाते हैं। इनमें से कुछ अरब जलदस्युओं के वंशज हैं जो सौदागरों के रूप में कालीकट के निकट के प्रदेशों में आकर बस गये और शेष वे हिन्दु परिवार हैं जिन्हें बलात् धर्म परिवर्तित करा दिया गया।

तब्लीग- इस्लाम में धर्मान्तरण एक मजहबी कर्तव्य-भार है जो कुरान के द्वारा इस जमात को प्रदत्त है।

खलीफा- मुसलमानों का सर्वोच्च धर्मगुरु जिसमें दुनियाँ भर के मुसलमानों की धार्मिक निष्ठा जुड़ी हुई थी।

द्विराष्ट्र सिद्धांत- मुसलमान को धार्मिक आस्था, दर्शन, जीवन-पद्धति के आधार पर हिन्दुओं के विपरीत धर्मी मानकर उनके लिए अलग राष्ट्र की संकल्पना।

दुनियाँ को पहली बार युद्ध की विभीषिका से लगातार चार साल गुजरना पड़ा। 28 जुलाई, 1914 से 11 नवंबर, 1918 तक दुनियाँ में पहली बार इतना बड़ा युद्ध लड़ा गया था जिसे प्रथम विश्व युद्ध के नाम से जाना गया। मित्र राष्ट्रों (Allies Powers) और धुरी राष्ट्रों (Central Powers) के बीच युद्ध लड़ा गया। मित्र राष्ट्रों के संघ में ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, इटली, जापान प्रारंभिक तौर शामिल थे किन्तु बाद में संयुक्त राज्य अमेरिका का भी मित्र राष्ट्रों के संघ में प्रवेश हुआ था जबकि धुरी राष्ट्रों के संघ में जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी, ऑटोमन साम्राज्य (तुर्की) और बुल्गारिया शामिल थे।

ब्रिटेन ने 5 नवंबर, 1914 को ऑटोमन साम्राज्य पर आक्रमण किया। इस युद्ध का समापन अक्टूबर, 1918 में हुआ। प्रथम विश्व युद्ध में ब्रिटिश भारतीय सेना के 10 लाख से ज्यादा सैनिकों ने विदेशों में अपनी सैन्य सेवाएं दी जिसमें तकरीबन 60,000 भारतीय सैनिकों को शहादत देनी पड़ी। प्रथम युद्ध के बाद ब्रिटेन और ऑटोमन साम्राज्य के सुल्तान के मध्य सेवर्स की संधि (Treaty of Sevres) संपन्न हुई। ध्यातव्य है कि ऑटोमन साम्राज्य का सुल्तान दुनियाँ भर के मुसलमानों का धार्मिक गुरु हुआ करता था जिसे खलीफा (Caliphate) की पदवी प्राप्त थी।

सेवर्स की संधि का फलाफल यह रहा कि 600 वर्षों के ऑटोमन साम्राज्य को विखंडित कर दिया गया और विभाजित खंडों को ब्रिटेन और उसके सहयोगी देशों ने आपस में बांटकर उपनिवेश का हिस्सा बना लिया। राष्ट्रों के समूह (League of Nations) के नियंत्रण के तहत ब्रिटेन ने मेसोपोटामिया(इराक) और फिलिस्तीन पर शासन कायम किया। हेजाज (मक्का और मदीना) ब्रिटेन के स्वामित्वाधीन हो गया और दोनों स्थलों की पवित्र मस्जिदें तुर्की के सुल्तान यानी खलीफ के अभिभावकत्व से मुक्त कर दिया गया।

सेवर्स की संधि के तहत तुर्की के सुल्तान यानी खलीफा की अखंड शक्ति को खंडित करने और तुर्की को खंड-खंड किये जाने से दुनियाँ के मुसलमानों का ब्रिटेन के प्रति नाराजगी स्वाभाविक थी क्योंकि उनका धर्मगुरु खलीफा संकट में था। राष्ट्र से ज्यादा मजहब को महत्व देने में विश्वास करने वाले कौम मुसलमान का ब्रिटेन के प्रति गुस्सा सातवें आसमान पर था। भारत के मुसलमानों में भी ब्रिटेन के विरुद्ध नाराजगी चरम पर थी। तुर्की का परंपरागत सुल्तान 'खलीफा' था और उसे इस जगत में अल्लाह का प्रतिनिधि और समस्त इस्लामी जगत का पंथगुरु समझा जाता था।

भारतीय मुस्लमानों ने प्रथम विश्व युद्ध में तुर्की के खिलाफ युद्ध में ब्रिटिश हुकुमत को इस शर्त पर सहायता की थी कि वे भारतीय मुसलमानों के धार्मिक मामले में हस्तक्षेप नहीं करेगी। साथ ही, मुसलमानों की धार्मिक स्थलों की रक्षा ब्रिटिश हुकुमत करेगी किन्तु प्रथम विश्व युद्ध में जीत के बाद ब्रिटेन की सरकार अपने वायदे से मुकर गई।

भारत के खिलाफत नेताओं ने ब्रिटिश हुकुमत को स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि वे अब और अधिक उम्मीद न रखें। तुर्की के साथ 1920 में हुई संधि इस बात का सबूत थी कि तुर्की के विभाजन का फैसला अंतिम है। महात्मा गाँधी को इससे गहरा दुःख पहुँचा।

भारत के मुसलमानों ने तुर्की के खलीफा के पद और शक्तियों को अखंड और पुनर्स्थापित करने के लिए खिलाफत आंदोलन आरंभ किया। मुसलमानों को इस बात का पूर्ण अहसास था कि बगैर हिन्दुओं के सहयोग के खिलाफत आंदोलन को न तो दिशा दी जा सकती है और न ही अंजाम तक पहुँचाया जा सकता है। भारत की भूमि पर हिन्दुओं के सहयोग और समर्थन की पूंजी ही मुसलमानों को ब्रिटिश हुकुमत के समक्ष सशक्त प्रतिरोध के लिए खड़ा कर सकती थी।

खिलाफत कांफ्रेंस में बोलते हुए अब्दुल बारी ने कहा था- "मुसलमानों का सम्मान संकट में पड़ जाएगा, यदि उन्होंने हिन्दुओं का सहयोग नहीं लिया।"

दिसंबर, 1919 में मुस्लिम लीग की बैठक आहूत की गई। इसमें खिलाफत के मुद्दे और खिलाफत आंदोलन की रणनीतियों पर विचार किया गया। सर्वसम्मति से निर्णय लिया गया कि खिलाफत आंदोलन में कांग्रेस के नेताओं की मदद ली जाए और कांग्रेस को आंदोलन में शामिल किया जाए। कांग्रेस के नेताओं ने निर्णय का स्वागत किया और मुस्लिम लीग की चर्चाओं में शामिल हुए।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं को उस समय इस बात तनिक भी अहसास नहीं था कि खिलाफत आंदोलन में मुस्लिम लीग का साथ देना मुसलमानों के इस्लाम खतरे में होने के नाम पर उनकी धर्मान्धता और कट्टरता के विचार को और पुष्ट करना होगा। उनकी यह भूल देश को विभाजन की राह पर अग्रसर कराने में एक सूत्र की तरह होगा। मुसलमानों को राष्ट्र धर्म की जगह इस्लाम धर्म की सर्वोच्चता में विश्वास को कांग्रेस ने साथ देकर और बल प्रदान किया।

तुर्की के संकट को भारत का संकट बना दिया गया। कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष मोतीलाल नेहरू ने कहा था- "यह असंभव है कि जब राष्ट्र के एक अंग के सामने गंभीर शिकायत हो तो राष्ट्र का दूसरा अंग हाथ पर हाथ रखकर अलग बैठा रहे।"

महात्मा गाँधी ने भी खिलाफत के इस मौके को हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए उपयुक्त अवसर माना। उन्हें ऐसा लगता था कि भारत के मुसलमानों को खलीफा के मुद्दे पर हिन्दुओं द्वारा साथ दिये जाने के बाद हिन्दु-मुस्लिम एकता शाश्वत और सार्वभौमिक सत्य के रूप में स्थापित हो जाएगा। गांधीजी ने हिन्दुओं का आह्वान किया था कि खिलाफत आंदोलन में हिन्दुओं को मुसलमानों का कुछ इस तरह साथ देना चाहिए जिस तरह यज्ञ में समिधा स्वयं को भस्म कर एकाकार हो जाती है।

दिल्ली में अखिल भारतीय खिलाफत कमिटी का अधिवेशन हुआ और सर्वसम्मति से महात्मा गाँधी को अध्यक्ष चुना गया। गाँधीजी ने खिलाफत आंदोलन के सारे मुद्दे को वैचारिक आयाम प्रदान किया। उन्होंने कहा- खिलाफत आंदोलन किसी व्यक्ति पर केन्द्रित न होकर एक ऐसे विचार पर केन्द्रित है जो एक साथ लौकिक, आध्यात्मिक और राजनीतिक है। यदि तुर्क अपनी रक्षा नहीं कर सकते, यदि संसार के मुसलमान अपनी विचार शक्ति और सक्रिय सहानुभूति द्वारा तुर्कों का साथ नहीं दे सकते, तो संदेह नहीं कि दोनों ही कष्ट उठाएंगे। ऐसी कोई घटना अन्तर्राष्ट्रीय आपदा होगी, क्योंकि मेरे विचार में इस्लाम का उतना ही महत्व है जितना कि ईसाइयत का अथवा किसी अन्य सम्प्रदाय का। वीरधर्म यह है कि संकट की इस घड़ी में तुर्कों का साथ दिया जाए।

1920 में महात्मा गाँधी ने खिलाफत कमिटी को ब्रिटिश शासन के विरुद्ध सत्य और न्याय पर आधारित अहिंसक आंदोलन आरंभ करने की सलाह दी। महात्मा गाँधी का अहिंसा में पूर्ण आस्था थी। 9 जून, 1920 को इलाहाबाद में खिलाफत कमिटी ने इस सलाह को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया और महात्मा गाँधी को खिलाफत आंदोलन का नेतृत्व करने का अधिकार सौंपा।

उधर, कांग्रेस खिलाफत आंदोलन को समर्थन प्रदान कर रही थी। इधर, महात्मा गाँधी खिलाफत आंदोलन को आगे बढ़ा रहे थे। कांग्रेस ने एक अगस्त, 1920 को असहयोग आंदोलन आरंभ कर दिया। सितंबर, 1920 को कलकता के विशेष अधिवेशन में असहयोग आंदोलन के संचालन पर मुहर लगी और गाँधीजी को नेतृत्व व रणनीति के निर्माण का पूर्ण अधिकार प्रदान किया गया। यद्यपि मोहम्मद अली जिन्ना, ऐनी बेसेंट समेत कांग्रेस के कई नेताओं ने असहयोग आंदोलन का विरोध

किया तथापि आंदोलन को आरंभ करने का निर्णय लिया गया। मोहम्मद अली जिन्ना ने खिलाफत का विरोध किया और संपूर्ण खिलाफत आंदोलन के दौरान उससे दूरी बनाये रखा। कांग्रेस द्वारा दरकिनार किये जाने की आहट से जिन्ना आहत हुए और राजनीतिक निर्वासन को गले लगाने का निर्णय लिया। राजनीतिक निर्वासन की अवधि में राष्ट्रवादी विचारों से प्रेरित जिन्ना स्वयं को कांग्रेस और कांग्रेसी धारा के विपरीत चलने का संकल्प लिया।

असहयोग आंदोलन आरंभ करने से पहले गांधीजी ने ब्रिटिश हुकुमत द्वारा प्रथम विश्व युद्ध में सहायता देने के लिए प्रदान की गई उपाधि 'कैसर-ए-हिन्द' को त्याग दिया। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान युवाओं को ब्रिटिश भारतीय सेना शामिल होने के लिए गांधीजी द्वारा देशव्यापी मुहिम चलाया गया था जिसके कारण युवाओं के बीच वे 'भर्ती वाले सार्जेंट' के रूप में ख्यातिलब्ध हुए थे।

कलकता कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में गाँधीजी ने प्रस्ताव रखा था कि खिलाफत के प्रश्न पर कांग्रेस असहयोग आंदोलन प्रारंभ करे।

असहयोग आंदोलन के आरंभ के बाद खिलाफत आंदोलन और असहयोग आंदोलन एकाकार हो गये क्योंकि दोनों के नेतृत्व में महात्मा गाँधी की अग्रणी भूमिका थी। जनवरी, 1921 से आंदोलन की लोकप्रियता बढ़ने लगी। गांधीजी ने खिलाफत नेता अली बंधुओं के साथ पूरे देश का दौरा किया, सैंकड़ों सभाओं में भाषण दिये और राजनीतिक कार्यकर्ताओं से मुलाकात की, उनसे बातचीत की।

आंदोलन के दौरान 'खिलाफत' और 'स्वराज' शब्दों में कोई भेद नहीं रह गया था। गांधी जी ने यहां तक घोषणा कर दी थी कि खिलाफत के प्रश्न पर सफलता प्राप्त करने के लिए यदि आवश्यकता पड़े तो मैं स्वराज्य के प्रश्न को स्थगित कर दूंगा।

खिलाफत आंदोलन के नेताओं ने तुर्की जाकर मुस्तफा कमालपाशा अतातुर्क से माजिद की खलीफाई बचाने का आग्रह किया। कमालपाशा ने आगा खाँ और अमीर अली से कहा- आप तो शिया और खोजा हैं। आप इस्लाम के विधर्मी हैं। आप कौन होते हैं, तुर्की के सुन्नी मुसलमानों को परामर्श देने वाले? भारत में तो आप अंग्रेजों के शासन के स्तंभ हैं और तुर्की के खिलाफ अंग्रेजों का समर्थन करते रहे हैं। अब किस मुँह से तुर्की को उसकी राष्ट्रीय नीति के बारे में परामर्श देने आये हैं? इस्लाम हारे हुए लोगों का मजहब है। जिस दिन से तुर्की की धरती पर पाँव रखा है, तुर्की की दशा दिनों-दिन गिरती चली गई है।

मार्च, 1924 में कमालपाशा ने तुर्की के राज्य धर्म के रूप में इस्लाम की मान्यता को समाप्त कर दिया और तुर्की को सम्प्रदाय-निरपेक्ष राज्य बना दिया।

खिलाफत आंदोलन अब अपना आधार खो चुका था। आंदोलन समाप्तप्राय हो गया किन्तु इसी बीच केरल के मोपलाओं के मध्य इस बात को प्रचारित किया गया कि खिलाफत आंदोलन सफल हो गया है। खलीफा का पद पुनर्स्थापित हो गया है। ब्रिटिश शासन समाप्त हो गया है। अब समय आ गया है कि सभी काफिरों को समाप्त कर दारूल-इस्लाम की स्थापना कर दी जाए। मुल्ले-मौलवियों के नारों ने मोपला कट्टरपंथियों की उत्तेजना को भड़का दिया। जेहाद की घोषणा कर दी गई। भारत सेवक समिति की जांच रिपोर्ट के अनुसार 1500 हिन्दू मौत के घाट उतार दिये गये। 20,000 हिन्दू बलात् मुसलमान बना लिये गये और लगभग 3 करोड़ रुपये की संपत्ति लूट ली गई। एक लाख लोगों को उनसे सबकुछ छिनकर उनके घर से खदेड़ दिया गया। हिन्दू महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार, अपहरण और बलात्कार चरम पर था।

खिलाफत आंदोलन के दौरान केरल में मोपलाओं द्वारा हिन्दुओं के जनसंहार की सच्ची घटनाओं पर आधारित 'मोपला उपन्यास' की रचना विनायक दामोदर सावरकर द्वारा की गई है। इस्लाम की दृष्टि में राष्ट्रीयता की भावना ही स्वीकार्य नहीं। इस्लाम एक पृथक् जीवन पद्धति है जो केवल मक्का और अरब के पैगम्बर रसूल को ही मान्यता देते हैं, यही उनका धर्म है और यही है उनकी राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता।

'अल्ला हो अकबर' वास्तव में देशभर में खिलाफत आंदोलन का नारा बन चुका था। महात्मा गाँधी ने एक सिद्धांत गढ़कर इस नारे को भारत माता की जय से भी बड़ा घोषित कर दिया था क्योंकि उन्होंने मानलिया कि अल्लाह भारत माता से बड़ा है। सामान्य मुस्लिम 'अल्लाह हो अकबर' को काफिरों के विरुद्ध युद्ध का नारा मानता था।

खिलाफत आंदोलन के दौरान दिसंबर, 1922 में अहमदाबाद में खिलाफत सभा की अध्यक्षता करते हुए हकीम अजमल खाँ ने कहा था कि अखिल इस्लामी साम्राज्य का भविष्य उज्ज्वल है। इस दौरान महात्मा गाँधी समेत कई नेता मंचस्थ

थे। खिलाफत आंदोलन ने इस्लामिक कट्टरता और धर्मान्धता को भारतीय राजनीति में स्थापित किया। देश की स्वतंत्रता की चिंता से कहीं ज्यादा खलीफा की स्वतंत्रता और संप्रभुता की चिंता को प्रमुखता से स्थापित किया गया। इस्लामिक धार्मिक कट्टरता और उन्माद के तत्व स्थापित सत्य के रूप में मान्यता प्राप्त कर लिये। स्वदेश की चिंता हाशिये पर धकेल दिया गया। परदेश की चिंता को प्राथमिकता दी गई। खिलाफत आंदोलन के दौरान मुसलमानों की एकजुटता और धार्मिक कट्टरता की राह मोपिला में जनसंहार के रास्ते आगे बढ़कर भारत विभाजन की विभीषिका की परिणति तक पहुँचा।

23 दिसंबर, 1926 को आर्य समाजी नेता स्वामी श्रद्धानंद की अब्दुल राशिद ने हत्या कर दी। राशिद पर हत्या का अभियोग चला जिसकी पैरवी कांग्रेस के प्रतिष्ठित सदस्य आसफ अली ने की थी। हत्यारा राशिद के जनाजे में 50 हजार मुसलमानों ने शिरकत की थी। मस्जिदों में उसके लिए विशेष नमाज अदा की गई। 30 नबंवर, 1927 को टाइम्स ऑफ इंडिया में एक खबर छपी जिसमें बताया गया कि राशिद की आत्मा को जन्नत दिलाने के लिए देवबंद में कॉलेज के छात्रों और प्राध्यापकों ने कुरान की पूरी आयतों का पांच बार पाठ किया। महात्मा गाँधी ने गुवाहाटी में कांग्रेस की सभा में स्वामी श्रद्धानंद की श्रद्धांजलि सभा कहा कि मैं अब्दुल राशिद को स्वामी जी की हत्या का दोषी भी नहीं मानता। वास्तव में दोषी तो वे हैं जिन्होंने एक-दूसरे के विरुद्ध घृणा फैलायी।

खिलाफत आंदोलन के दौरान मुसलमानों में गैर मुसलमानों खासकर हिन्दुओं और सिक्खों के प्रति काफिर का भाव चरम पर पहुँचा जो 1946 तक देश विभाजन के रास्ते को प्रबल किया और 1947 में विभाजन की विभीषिका की परिणति के रूप में परिलक्षित हुई।

खिलाफत आंदोलन के दौरान मुसलमानों में धर्म की सर्वोच्चता के भाव और अल्लाह हो अकबर के नारे के साथ गैर मुसलमानों के प्रति काफिर का भाव स्थायित्व प्राप्त किया। परदेसीय नायक खलीफा को आंदोलन का मुख्य आधार बनाया। धर्म के दर्शन को राष्ट्र के दर्शन से ज्यादा महत्वपूर्ण बताया गया। मुसलमानों में पृथकतावाद का भाव स्पष्ट रूप से रेखांकित और स्थापित हुआ।

22 मार्च, 1940 को लाहौर में मुस्लिम लीग के नेता मोहम्मद अली जिन्ना ने कहा- हिन्दु और मुस्लिम दो भिन्न धार्मिक दर्शन, सामाजिक रीति-रिवाजों और साहित्य से जुड़े रहे हैं। वे न तो आपस में विवाह संबंध करते हैं, न ही साथ-साथ खाते-पीते हैं। वस्तुतः दोनों भिन्न-भिन्न सभ्यताओं से जुड़े हैं जिनके विचार और धारणाएं एक-दूसरे से विपरीत हैं। जीवन के बारे में भी उनके विचार भिन्न-भिन्न हैं। वे इतिहास में भी भिन्न-भिन्न स्त्रोतों से प्रेरणाएं लेते हैं। उनकी प्रेरक कथाएं, नायक और प्रसंग बिल्कुल अलग-अलग हैं। प्रायः एक के लिए जो नायक हैं, वह दूसरे के लिए खलनायक रहे हैं। उसी तरह उनकी जीत और हार भी दोनों के लिए ऊपर-नीचे पड़ती रही है।

खिलाफत आंदोलन के दौरान मुसलमानों के मन में स्थापित पृथकतावादी भाव की अभिव्यक्ति मोहम्मद अली जिन्ना का उपर्युक्त वक्तव्य है।

28 दिसंबर, 1929 को लाहौर में रावी नदी के तट पर कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन शुरू हुआ। अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू द्वारा पूर्ण स्वाधीनता का लक्ष्य घोषित किया गया। पूर्ण स्वराज के लक्ष्य का समुचित, समारोहपूर्वक और बड़े उत्साह के साथ स्वागत किया गया। जैसे ही 31 दिसंबर, 1929 की मध्य रात्रि को घड़ी की सुई टिक से की, वैसे ही नेहरूजी ने रावी नदी के तट पर भारतीय स्वतंत्रता का झंडा फहराया।

इधर, कांग्रेस स्वतंत्र और अखंड भारत के सपने को साकार करने के लिए स्वतंत्रता आंदोलन को गति दे रही थी। उधर, खिलाफत आंदोलन के दौरान मुसलमानों में पनपे पृथकतावाद क्रमशः आकार पा रहा था जो 1940 के दशक में भारत के विभाजन को अंतिम सत्य के रूप में स्थापित कर दिया जिसका नेतृत्व मुस्लिम लीग ने प्रदान किया। सीधी कार्रवाई दिवस यानी 16 अगस्त, 1946 से पहले मोहम्मद अली जिन्ना ने धमकी दी थी- बांटा भारत या बर्बाद भारत। (Divided India or Destroyed India)

भारत का विभाजन 14/15 अगस्त, 1947 को हुआ। संपूर्ण भारत की स्वतंत्रता की जगह विभाजित भारत नरसंहार की त्रासदी की विभीषिका के साथ स्वतंत्र हुआ। 6 लाख लोगों का जनसंहार हुआ। करोड़ों लोग बेघर हो गये। अपने ही देश में 1.5 करोड़ लोगों को शरणार्थी बनकर जहाँ-तहाँ भटकना पड़ा।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि मुसलमानों की मजहबी मान्यताएं और धर्मांन्धता से ऐसा संदेह होता है कि अन्य धर्मावलंबियों के साथ ये सह-अस्तित्व, सहयोग और शांति कायम ही नहीं रख सकते हैं। खिलाफत आंदोलन के दौरान अल्लाह हो अकबर के नारे साथ भारत को दारूल इस्लाम में परिवर्तित करने के संदेश की अगली परिणति देश में समय-समय पर इस्लामी आतंकी मॉड्यूल का पकड़ा जाना जिसमें वर्ष 2047 तक भारत को गजवा-ए-हिन्द में तब्दील करने का संकल्प शामिल होता है। बेहद खतरनाक और राष्ट्र की अखंडता के लिए चुनौती है।

संदर्भ :

1. शेषाद्रि, हो. वे. ...*और देश बंट गया*. दशम संस्करण, सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020, पृ. 85.
2. पाण्डे, एस. के. *आधुनिक भारत*. प्रयाग एकेडमी प्रकाशन, प्रयागराज, 2002, पृ. 336.
3. चंद्रा, विपिन, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी, के. एन. पनिकर, और सुचेता महाजन. *भारत का स्वतंत्रता संघर्ष*. हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2001, पृ. 134.
4. शेषाद्रि, हो. वे. ...*और देश बंट गया*. दशम संस्करण, सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020, पृ. 86.
5. गाँधी, मोहनदास करमचंद. "यंग इंडिया." मई 1921, पृ. 656.
6. चंद्रा, विपिन, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी, के. एन. पनिकर, और सुचेता महाजन. *भारत का स्वतंत्रता संघर्ष*. हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2001, पृ. 135.
7. शेषाद्रि, हो. वे. ...*और देश बंट गया*. दशम संस्करण, सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020, पृ. 86.
8. चंद्रा, विपिन, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी, के. एन. पनिकर, और सुचेता महाजन. *भारत का स्वतंत्रता संघर्ष*. हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2001, पृ. 136.
9. शेषाद्रि, हो. वे. ...*और देश बंट गया*. दशम संस्करण, सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020, पृ. 90.
10. शेषाद्रि, हो. वे. ...*और देश बंट गया*. दशम संस्करण, सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020, पृ. 96.
11. सावरकर, विनायक दामोदर. *मोपला*. अनुवादक: बनारसी सिंह, हिन्दी साहित्य सदन, नई दिल्ली, 2025, पृ. 8.
12. शेषाद्रि, हो. वे. ...*और देश बंट गया*. दशम संस्करण, सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020, पृ. 96.
13. शेषाद्रि, हो. वे. ...*और देश बंट गया*. दशम संस्करण, सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020, पृ. 106.
14. एनसीईआरटी. *विभाजन विभीषिका स्मृति दिवस: स्पेशल मॉड्यूल*. नई दिल्ली, 2025, पृ. 8.
15. कुमार, राकेश. *लोकराज के लोकनायक*. राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नई दिल्ली, 2021, पृ. 21.

Received: 12.01.2026 | Accepted: 22.01.2026 | Published: 30.01.2026

मानवीय मूल्यबोध के कवि निराला

डॉ. कमला चौधरी*

drkchoudhary001@gmail.com

सारांश (Abstract)

प्रस्तुत शोध-पत्र में छायावादोत्तर युग के युगान्तरकारी कवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' के काव्य में निहित मानवीय मूल्यबोध का विश्लेषण किया गया है। समकालीन मूल्य-संकट, आर्थिक विषमता, सामाजिक शोषण और सांस्कृतिक विघटन की पृष्ठभूमि में निराला का काव्य मानव-गरिमा, करुणा, समानता और न्याय की स्थापना का सशक्त माध्यम बनकर उभरता है। 'भिक्षुक', 'कुकरमुत्ता', 'दान', 'विधवा', 'राम की शक्ति-पूजा' तथा 'बादल-राग' जैसी रचनाओं के माध्यम से कवि ने शोषित वर्ग, किसान, श्रमिक और उपेक्षित नारी के पक्ष में अपनी संवेदनशील प्रतिबद्धता व्यक्त की है। निराला का विद्रोह ध्वंसात्मक न होकर निर्माणपरक है, जिसका लक्ष्य सामाजिक पुनर्संरचना और मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा है। उनके काव्य में मानवतावाद, समता-बोध, नारी-मुक्ति, श्रम-सम्मान और नैतिक चेतना का समन्वित रूप मिलता है। इस प्रकार निराला का साहित्य न केवल युगीन यथार्थ का दर्पण है, बल्कि मानवीय मूल्य-स्थापना का सक्रिय सांस्कृतिक दस्तावेज भी है।

मुख्य शब्द (Keywords)

निराला, मानवीय मूल्यबोध, मानवतावाद, सामाजिक न्याय, आर्थिक विषमता, नारी-मुक्ति, किसान-चेतना, विद्रोह और संघर्ष, छायावाद, सांस्कृतिक पुनर्संरचना

वर्तमान युग की सर्वाधिक ज्वलंत समस्या मूल्य संकट है। आज मूल्योन्मुख सांस्कृतिक क्रान्ति की परम आवश्यकता है। वैज्ञानिक प्रगति तथा प्रौद्योगिक विकास ने मानवीय मूल्यों तथा मानवीय गरिमा और गौरव को दूर तक प्रभावित किया है। आणविक विभीषिका के कारण मानवीय अस्तित्व के समक्ष अनेक प्रश्न चिह्न खड़े हो गए हैं। बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्र को अपने अधिकार में करने को तैयार हैं। अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप द्वारा ग्रीनलैंड, कनाडा, पनामा नहर और गाजा पट्टी को अपने अधीन करने की बात वर्तमान में सुर्खियों में हैं और उनके खिलाफ यूरोपीय राष्ट्रों का एक हो जाना किसी से छिपा नहीं है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि सम्पूर्ण विश्व एक बारूद के ढेर पर बैठा है, कब तृतीय विश्वयुद्ध छिड़ जाए कहा नहीं जा सकता। हर व्यक्ति कुंठा, अवसाद और हताशा में जीने के लिए विवश है।

इन परिस्थितियों में साहित्य यदि मानवीय मूल्यों के विश्लेषण, पुनरीक्षण और उनकी स्थापना में सक्रिय नहीं होता, तो उसकी कोई उपयोगिता और प्रयोजनीयता नहीं रहती। छायावाद के युगान्तरवादी कवि निराला ने युगीन मानवीय मूल्यों को बड़ी निकटता से देखा-परखा है और जहाँ कहीं सड़ा-गलापन नज़र आया, उसकी खुलकर आलोचना की है। काव्य में उनका-सा स्पष्टवादी मुखर स्वर विरले ही रचनाकार का होगा। निराला का मूल्य-बोध उनके निजी जीवन से प्रसूत है। निराला ने जिन मानव-मूल्यों की अपने काव्य में अभिव्यक्ति की उन्हें अपने निजी जीवन में भी जिया है। उनकी कविता अनुभूति से भरी हुई है। इस प्रकार, उनके जीवन एवं लेखन में एक सूत्रता मिलती है।

निराला के समय समाज में आर्थिक वैषम्य चारों ओर एवं अपनी चरम सीमा पर व्याप्त था। एक ओर शोषक वर्ग जिसमें पूँजीपति वर्ग, व्यापारी जमींदार एवं अफसर थे तो वहीं दूसरी ओर शोषित वर्ग जिसमें दलित, मजदूर, किसान, निम्न वर्ग के निर्धन लोग थे। निराला ने काव्य के द्वारा शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति और शोषक वर्ग के प्रति आक्रोश व्यक्त किया। शोषक वर्ग के प्रति अत्यधिक घृणा और आक्रोश का कारण निराला की अपनी संकटपूर्ण आर्थिक स्थिति भी रही है। शोषितों

* **सहायक आचार्य हिन्दी विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राजस्थान)**

एवं पीड़ितों में सर्वप्रथम कृषक का शोषित नीरस एवं सारहीन जीवन उनके समक्ष आता है। निराला स्वयं किसान-कवि कहे जाते हैं। वे चूँकि एक किसान थे और ग्रामीण क्षेत्र से व्यापक रूप से सम्बद्ध थे, अतः किसानों की समस्याओं और परेशानियों को गहराई से समझने का उन्हें अवकाश मिला है। इन सभी समस्याओं का उन्होंने स्वयं भी सामना किया है।

किसान-संवेदना का पता उनकी 'बादल-राग' कविता से स्पष्ट रूप से चल जाता है। आर्थिक मारों से पीड़ित किसान का शरीर पूरी तरह जर्जर हो गया है। बादल से वह परित्राण की आशा करता है। बादल यहाँ क्रान्ति और विप्लव का प्रतीक है। सामन्तों और ताल्लुकेदारों ने किसान का बुरी तरह शोषण किया है। उसका सम्पूर्ण स्वत्व समाप्त हो गया है। अब उसका एक मात्र सम्बल बादल (क्रान्ति वीर) है, जो शोषण और अन्याय से राहत दिला सकता है-

"जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर
तुझे बुलाता कृषक अधीर
ऐ विप्लव के वीर
चूस लिया है उसका सार
हाड़-मात्र ही है आधार
है जीवन के पारावार।"[1]

'कुकरमुत्ता' कविता के माध्यम से वे पूँजीवादी व्यवस्था का घोर विरोध करते हैं। इसमें कई प्रकार के व्यंग्य हैं और कविता के अनेक आयाम हैं परन्तु एक अर्थ बिल्कुल स्पष्ट है और वह है निराला की समाज के शोषित वर्ग के साथ सहानुभूति तभी तो वे पूँजीवादी वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले गुलाब की बड़े तीखे शब्दों में आलोचना करते हैं और समाज के शोषित वर्ग के प्रतीक कुकुरमुत्ता के पक्षधर है।

वे नहीं चाहते कि बुद्धि इतनी विकसित हो जाए कि हृदय-पक्ष बिल्कुल तिरोहित हो जाए। वे चाहते हैं कि सारी पूँजी जो मिल-मालिकों के पास है अगर राष्ट्र के नाम हो जाए, तो जनता के दुःख-दर्द दूर हो जाएं। इस तरह, वे सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण चाहते हैं-

"भेद खुल जाए वह
सूरत हमारे दिल में है।
देश को मिल जाय जो
पूंजी तुम्हारी मिल में है।"[2]

'दान' का कितना कृत्सित रूप समाज में प्रचलित है, इसका निदर्शन निराला ने 'दान' कविता में किया है। यहाँ राम-भक्त ब्राह्मण द्वारा एक कंकाल-शेष भिक्षु मानव की उपेक्षा करते हुए बंदरों को पुए खिलाते हैं। इस भिक्षु के शरीर में केवल प्राण शेष है। यह मृत्यु-प्राय, नर कितना दुर्बल और शरीर से क्षीण है, इसका चित्र अत्यन्त हृदय-विदारक है-

"एक और पथ के, कृशकाय
कंकाल शेष नर मृत्यु-प्राय,
बैठा सशरीर दैन्य दुर्बल
भिक्षा को उठी दृष्टि निश्चल
अति क्षीण कष्ठ है, तीव्र श्वास
जीता ज्यों जीवन से उदास"[3]

आर्थिक असमानता और निर्धनता की पराकाष्ठा के दर्शन हमें 'भिक्षुक' कविता में होते हैं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि पूँजीवादी उपभोक्ता संस्कृति में मानव की नियति क्या है। फटी-पुरानी झोली लेकर भीख मांगने वाले भिक्षुक को देख किसी भी संवेदनशील व्यक्ति के हृदय के दो टुकड़े हो सकते हैं, विशेषकर उस स्थिति में जब भिक्षुक अकेला न होकर दो मासूम बच्चों के साथ हो-

"साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाये,
बायें से वे मलते हुए पेट को चलते
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाये।

भूख से सूख ओंठ जब जाते
दाता-भाग्य-विधाता से क्या पाते?
घूंट आंसुओं के पीकर रह जाते।
चाट रहे जूठी पत्तल वे सभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।"[4]

निराला ने सदियों से उपेक्षित नारी को विराटता और औदात्य प्रदान किया है। नारी को वे पुरुष के समान एवं समकक्ष स्थापित करने का आजीवन प्रयास करते रहे। वे नारी के पतन के लिए पुरुष के अहं और उसके श्रेष्ठता-भाव को ही दोषी ठहराते हैं। वे चाहते थे कि समाज में स्त्रियों को वही मान्यता मिले, जो पुरुषों को मिलती है। वे किसी प्रकार अपने को हीन न मानें। इसके लिए निराला ने स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा को अनिवार्य माना।

'परिमल' की 'विधवा' और 'बहू' कविताएं उल्लेखनीय हैं। भारत में विधवा का सामाजिक स्तर बड़ा निम्न होता है और प्रायः वह अत्यन्त असहाय, करूण स्थिति में होती है। प्रायः लोग उसे लांछित ही करते हैं। निराला ने विधवा का अत्यन्त उदात्त चित्र खींचा है। उसके जीवन में हाहाकार है। उसे न तो कोई धैर्य देने वाला है और न उसके दुःख भार को बांटने वाला है। तथापि, वह दीप शिखा सी शान्त है और अपने इष्टदेव के मंदिर में पूजा-सी हैं-

"यह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति रेखा-सी
वह टूटे तरू की छूटी लता-सी दीन
दलित भारत की ही विधवा है"[5]

इस कविता से जहाँ निराला की सहानुभूति और संवेदनशीलता का पता चलता है, वहीं उनकी यथार्थवादी दृष्टि का। विधवा की निरीहता, असहायता और तिल-तिल जलने का यह चित्र हिन्दी कविता में अप्रतिम और अद्वितीय है। एक ओर जहां इससे विधवा की दयनीय स्थिति का पता चलता है, वहीं दूसरी ओर उसके प्रति सामाजिक तिरस्कार और निष्ठुरता का।

इस कविता से पाठकों के मन में विधवा के प्रति करुणा और श्रद्धा का भाव जागृत होता है। नारी-मुक्ति और नारी-जागरण के निराला के काव्य में एकाधिक चित्र मिलते हैं। जिस तरह निराला कविता की मुक्ति की बात करते हैं, उसी तरह नारी-मुक्ति की। वे परम्परागत अवरोधों को मिटाकर पार्वती-रूपी नारी को स्वाधीन करना चाहते हैं, क्योंकि सत्य, शिव और सुन्दर की स्थापना इसके बिना असम्भव है।

निराला के यहाँ नारी शक्ति का प्रतीक है। 'पंचवटी-प्रसंग' में सीता मातृ-शक्ति है। 'तुलसीदास' में रत्नावली सरस्वती देवी के रूप में कल्पित है, जिसमें अद्‌भुत शक्ति और क्षमता है। 'राम की शक्ति पूजा' में निराला ने राम से शक्ति की आराधना करवाई है और तभी उन्हें विजय का वरदान मिलता है। इस प्रकार नारी का अत्यन्त गौरव-गरिमामय रूप निराला ने चित्रित किया है; निराला ने प्रपति-भाव की कविताओं में किसी पुरुष-देवता की आराधना और अर्चना न कर देवी की ही आराधना की है और प्रायः माता के रूप में संबोधित किया है।

वह पुरुष को सदैव सही मार्ग की ओर प्रेरित करती रही है और स्वयं जागृत रहकर उसे पथभ्रमित होने से बचाती रही है-

"रुप के द्वार पर / मोह की माधुरी'
कितने ही बार पी मुर्च्छित हुए हो, प्रिय,
जागती मैं रही,
गह बांह, बांह में भरकर संभाला तुम्हें"[6]

इस प्रकार संस्कृति के सूत्र नारी के हाथों में देकर निराला निश्चिन्त हो गए क्योंकि वही अपने चैतन्य से पुरुष की जड़ता को दूर कर सकती है।

संसार से मुख मोड़ने के लिए वे कदापि तैयार नहीं। निराला का इस सम्बन्ध में 'मैं' शैली अपनाने का दावा बिल्कुल सही है, क्योंकि अपने समकालीन रचनाकारों की तुलना में उनका काव्य कहीं ज्यादा मानवीय मूल्यों से युक्त है-

"मैंने 'मैं' शैली अपनायी
देखा दुःखी एक निज भाई
दुःख की छाया पड़ी हृदय में मेरे,
झट उमड़ वेदना आयी"[7]

निराला ने 'दीन' कविता में दीन-दुःखी व्यक्ति की असहायता का चित्रण किया है। उसे जीवन में निरंकुश उत्पीड़नों को सहन करना पड़ता है। हृदय भग्न हो जाता है और सहायता की आशा क्षीण हो जाती है, फिर भी सारी कठिनाइयों को वह कर्मवीर झेल जाता है-

"सह जाते हो / उत्पीड़न की क्रीड़ा सदा निरंकुश नग्न
हृदय तुम्हारा दुर्बल होता भग्न
अन्तिम आशा के कानों में
स्पन्दित हम-सबके प्राणों में
अपने उर की तप्त व्यथाएं
कह जाते हो
और जगत की ओर ताक कर
दुःख, हृदय का क्षोभ त्यागकर
सह जाते हो।"[8]

कुछ थोड़े-से व्यक्तियों के स्वार्थ किस प्रकार समाज पर छा जाते हैं, यह कवि ने खूब समझा है। किसान और अन्य गरीब तबकों के सबसे बड़े शत्रु जमींदार और महाजन है। इन्होंने दीन-हीनों का भरपूर शोषण किया है और ये नर-पिशाच इनके बल पर खूब फले-फूले हैं-

"जमींदार की बनी / महाजन धनी हुए हैं
जग के मूर्त पिशाच / धूर्तगण गनी हुए है"[9]

निराला का विद्रोह, क्रान्ति और संघर्ष मानवीय गरिमा और मानवीय स्वाभिमान की स्थापना के लिए ही था। समाज के दीन-हीन, पीड़ित और निरीह वर्ग के प्रति निराला के काव्य में जो सहानुभूति और संवेदना मिलती है उसका कारण और आधार मानवीय मूल्य की स्थापना ही रहा है।

डॉ. भागीरथ मिश्र का इस सम्बन्ध में कहना है कि "मानव-मूल्यों को प्रतिष्ठित करना ही उनका ध्येय था। मानवता की रक्षा और सत्यपालन के लिए उन्होंने बिना हिचक उन सभी लोगों को गले लगाया, जो समाज की नज़र में पतित, अछूत, नगण्य एवं पापी थे। उन सभी लोगों से झगड़ पड़े, जो समाज की नज़र में महान, पूज्य एवं आदरणीय थे।"[10]

'राम की शक्तिपूजा' में निराला ने मानवीय मूल्यों के लिए ही राम रावण युद्ध का चित्रण किया है। राम उदात्त मूल्यों के लिए संघर्षरत हैं, जबकि रावण अमूल्यों का प्रतीक है। 'अन्याय जिधर है, उधर शक्ति' इस कविता की वह केन्द्रीय पंक्ति है, जो राम को निरन्तर सालती रहती है और संघर्ष की प्रेरणा देती है। अंततः शक्ति की आराधना कर वे अपने संकल्प में सफल होते हैं। देवी का वरदान 'होगी जय, होगी जय, है पुरुषोत्तम नवीन' राम को मिलता है, जो वस्तुतः अन्याय पर न्याय की विजय का संकेत देता है। निराला ने दीन-हीन, उपेक्षित, पीड़ित और संत्रस्त मानव-समुदाय के उन्नयन के लिए जो कविताएँ लिखी हैं, उनमें उनकी सहज संवेदना, करुणा और सहानुभूति के दर्शन होते हैं।

निराला ने दीन-हीनों और उपेक्षितों के उन्नयन के लिए अपनी क्रियात्मक सहानुभूति का भी परिचय दिया है 'भिक्षुक' कविता की अन्तिम पंक्तियाँ इस दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं-

"ठहरो अहो मेरे हृदय में है अमृत, में सींच दूंगा
अभिमन्यु-जैसे हो सकोगे तुम
तुम्हारे दुःख में अपने हृदय में खींच लूंगा"[11]

निराला के काव्य में चरित्रों पर हम एक नज़र डालें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके सारे चरित्र जीवन से पलायन नहीं करते, वे जीवन से जूझते हैं। ऐसे चरित्र चाहे भिक्षुक हों, पत्थर तोड़ने वाली मजदूरिनी हो या कूटने-पीसने वाली कानी हो। यहाँ तक कि उनके राम-जैसे चरित्र भी सामान्य मानव की तरह व्यवहार करते हैं।

रामविलास शर्मा इसी परिप्रेक्ष्य में निराला को 'नये मानवतावाद के प्रतिष्ठापक' स्वीकार करते हैं। उनके शब्दों में "उनके साहित्य के केन्द्र में वह मनुष्य है, जो श्रम करता है, सम्पत्ति और सुख के साधनों से वंचित है, विषम परिस्थितियों से जूझता है। गिरता है, फिर आगे बढ़ता है। निराला हिन्दी साहित्य में मनुष्य की कर्मठता, वीरता, धैर्य, आंतरिक द्वंद्व, उसकी अपार जिजीविषा के चित्रकार हैं।"[12]

निष्कर्ष :

अंत में हम कह सकते हैं कि निराला एक ऐसे क्रान्तिधर्मी, संघर्षशील एवं विद्रोही व्यक्तित्व का नाम है, जो हिन्दी साहित्य में अप्रतिम एवं अनन्य है। परन्तु विद्रोह एवं संघर्ष की यह चेतना ध्वंसात्मक न होकर निर्माणपरक है। विद्रोह का अपना निर्धारित लक्ष्य है, क्रान्ति की अपनी विशिष्ट मंजिल है। निराला ने व्यवस्था, समाज और उसके अगुवाकारों की खुलकर आलोचना की उन पर निर्मम प्रहार किए, इसके पीछे उनकी मानवीय चेतना, संवेदना और सहानुभूति, मानवीय मूल्य कार्यरत थे। इस प्रकार मानवीय मूल्यों की स्थापना उनके जीवन, चिन्तन और काव्य का केन्द्र-बिन्दु रहा है।

संदर्भ :

1. त्रिपाठी, सूर्यकांत 'निराला'. (1939). *परिमल*. भारतीय साहित्य संघ, इलाहाबाद. पृ. 217.
2. त्रिपाठी, सूर्यकांत 'निराला'. (1945). *बेला*. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली. पृ. 75.
3. त्रिपाठी, सूर्यकांत 'निराला'. (1945). *अनामिका*. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली. पृ. 24.
4. त्रिपाठी, सूर्यकांत 'निराला'. (1939). *परिमल*. भारतीय साहित्य संघ, इलाहाबाद. पृ. 103.
5. त्रिपाठी, सूर्यकांत 'निराला'. (1939). *परिमल*. भारतीय साहित्य संघ, इलाहाबाद. पृ. 98.
6. त्रिपाठी, सूर्यकांत 'निराला'. (1945). *अनामिका*. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली. पृ. 9.
7. त्रिपाठी, सूर्यकांत 'निराला'. (1939). *परिमल*. भारतीय साहित्य संघ, इलाहाबाद. पृ. 97.
8. त्रिपाठी, सूर्यकांत 'निराला'. (1939). *परिमल*. भारतीय साहित्य संघ, इलाहाबाद. पृ. 111.
9. त्रिपाठी, सूर्यकांत 'निराला'. (1951). *नये पत्ते*. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली. पृ. 73.
10. मिश्र, डॉ. भागीरथ. (1980). *निराला-काव्य का अध्ययन*. इलाहाबाद. पृ. 31.
11. त्रिपाठी, सूर्यकांत 'निराला'. (1945). *बेला*. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली. पृ. 81.
12. शर्मा, डॉ. रामविलास. (1953). *निराला की साहित्य साधना*. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण. पृ. 163.

Received: 13.01.2026 | Accepted: 22.01.2026 | Published: 30.01.2026

Silk Route In India: A Study

Dr. Shiwashri Sinha*

shiwashrisinha@gmail.com

Abstract

India has three Silk Road routes. First branch travelled via Srinagar, Gilgit, and Karakoram Range; second through Purushapur; third through Hadda, Kapisa, and Bamiyan. Along these roads, Natives and non-Natives exchanged and pilgrimaged. Uttrapatha connected Burma and Yunnan. Southern China ships used this canal. 127 B.C. King Chiang Kein found bamboo and Chinese fabrics in Gandhara. According to his investigation, the objects came from Yunnan, Burma, through Bengal, India, then up the Uttarapatha to Bactria, India, and Afghanistan. Sakas and Yueh-chih went to India, and the Imperial Han strove to foster political, economic, and cultural relations with its western neighbours. Indraprastha was a gateway connecting India, Central Asia, and China (modern Delhi). Kashgar, Yarkand, and Khotan were southern and northern Silk Road branches from Indraprastha (Agnidesa). At Yu-men-kuan or Tun-Jade hueng's Gate, these branches entered China. Gandhar, Uddiyana, Abhisara, and Kasmira travellers had to cross the Pamir to reach Tashkurghan, Kashgar, or Yarkand. Bactria travellers had an easier and more profitable voyage. One may (a) proceed east through the Wakhan valley; (b) go north across the Oxus at Termex; (c) travel via the Alai valley to Darut Kurghan, "the Sone Tower" of the Silk-Route; (d) travel via Ferghana to Kashgar; or (e) travel farther north to Merkanda/Carmakhandika (Samarkand). The route across Alai valley was safer. Classical and Chinese literature indicate two Pataliputra, India-to-China land routes. Sikkim and Tibet were the other path.

Keywords:

Silk cloth, Silk Route, China Silk Route, Ladakh, Brocade, Jamawar, Cultural Significance of silk route.

Silk in India

Silk fabric originating in China was first brought to India by merchants from the Silk Road cities of Samarkand and Bukhara. As soon as they arrived, the Chinese silk cloth quickly established itself as a staple in the Indian nobility's wardrobe. In order to meet the requirements of monarchy and religious organisations, weaving centres for India's opulent jamawar and brocade textiles sprouted up in commercial and religious places. These centres were known for their expertise in the production of jamawar and brocade fabrics. The Indian states of Gujarat and Malwa, in addition to southern India, were home to many of the most important archaeological sites related to these ancient centres. The towns of Delhi, Lahore, Agra, Fatehpur Sikri, Varanasi, Mau, Azamgarh, and Murshidabad were all significant centres for the brocade weaving industry in the northern area. The

* **Teacher, Bihar Public Service Commission, Gaya , Bihar**

Indian states of Assam, Gujrat, and Malwa, as well as South India, were home to some of the most well-known centres for the Jamawar weaving tradition. Silk is regarded as a luxury item in the region that comprises India's subcontinent. Roughly 97% of the world's raw silk is produced in the Indian states of Karnataka, Andhra Pradesh, Tamil Nadu, West Bengal, and Jammu and Kashmir. These states account for the majority of the world's production of raw silk. The majority of silk is produced in North Bangalore, namely in the neighbourhoods of Muddenahalli, Kanivenarayanapura, and Mysore. These are all in close proximity to one another. Coimbatore, Erode, and Dharmapuri are three districts in the Indian state of Tamil Nadu that are becoming more significant in the production of silk. Tamil Nadu is one of the states in India. In India, the states of Andhra Pradesh and Tamil Nadu, namely the cities of Hyderabad and Gobichettipalayam, were the first to construct automated silk reeling units. These plants were originally used in Hyderabad.

Cultural Significance Of Silk Route

The Silk Road wasn't just one road; it was a system of waterways and roads that connected a number of cities. More over 4,000 kilometres in length, it linked a great number of countries together. From China through Central Asia and finally to the West, the network's two main arteries reached all the way across the globe. Along the Silk Road, several trade stations and marketplaces were established to serve as hubs for the buying, selling, transporting, storing, and distribution of products. This was the main trade route of the ancient world. Rapid growth in importance led to its incorporation into the international economic and geopolitical system, which all nations aspired to dominate. Silk was the most often traded product on the route since it was a visible sign of social rank and financial success among the route's patrons. It was also one of China's most sought-after exports, which says a lot. The nation was the undisputed leader in silk production until its manufacturing method became public knowledge. Chinese merchants started utilising this route to transport silk from China to Europe in the Middle Ages, earning it the now-famous name "Silk Route." In addition to textiles, jewellery, and precious metals, the Silk Road also served as a major trading route for food, spices, cereals, leather goods, and fine arts. Along its length, wool, gold, and silver were traded eastward, while silk was sent westward. The introduction of manufactured items such as gunpowder, paper, moldboard ploughs, and stirrups throughout Europe had far-reaching effects on the continent's social and political structures. If transportation routes were well-established, goods might move more quickly from one location to another. It also fostered communication across cultural boundaries and multidisciplinary teamwork. It was along the Chinese Silk Road, for instance, that Nestorian Christianity and Buddhism first arrived in the country. This tactic was also employed by other faiths to spread their teachings over the world, including Hinduism, Christianity, and Islam. As a result, it helped establish diplomatic and commercial ties with countries that were previously separated by a great distance. Unfortunately, the spread of diseases like bubonic plague was helped by this route of commerce and travel. Silk Road was a network of trade routes that connected China and the Mediterranean through Central Asia. Silk was the first commodity to be sent along the routes, therefore the name stuck. Increased trade, cultural interaction, and intellectual interchange occurred as a result of this almost 4,000-mile route. Silk from the West was exchanged for wool, gold, and silver from the East via the Silk Route. Conversely, the road facilitated the dissemination of knowledge and the development of new linguistic, religious, artistic, philosophical, scientific, and technological practises. Therefore, it

matured into an integral part of the international economic and political systems that every nation aspired to control. Trading over this route was dangerous because of its extreme length and the prevalence of robbers in the Levant. The bandits knew that merchants would utilise the main trade route, so they prepared to harass and loot them. Traders along the Silk Road had cause to be concerned about their safety before the rise of Arabian domination only made things worse.

The history of the Silk Road

In the year 1877, a German geographer by the name of F. Von Richtofen bestowed upon the old trading route its current name, "The Silk Road." Through travel along the Silk Road, Romans in quest of unusual wares were able to buy imperial Chinese silk as well as eastern spices. Both parties participated in the trade of commodities and services. Some scholars are of the opinion that Indo-Europeans were the ones who brought writing and carriages propelled by horses to China. Along what is now often referred to as the Silk Road, one of the first examples of international trade took place (or Silk Route). Even though it wasn't given its name until the 19th century, the Silk Road was actually a network of caravan routes that ran from the Chinese city of Chang'an (now Xi'an) in the east all the way to Rome, Italy, in the west from at least the 2nd century BC all the way up until the 15th century AD. The name "Silk Road" didn't come into use until the 19th century. European traveller Marco Polo (1254–1324) is often recognised for walking these routes and writing about them in detail, although he is seldom given credit for coming up with the names. The terms "Seidenstrasse" (silk road) and "Seidenstrassen" (silk roads) were coined by German adventurer and geographer Ferdinand von Richthofen in 1877 CE (silk routes). Both Polo and, later, von Richthofen spoke about the goods that were transported back and forth over the Silk Road. The term "Silk Road" evokes images of ancient merchants riding camels between enchanted cities surrounded by rough terrain. Despite the fact that the route's romanticism has been replaced by the terrible reality that many present-day people must face, the Silk Road is progressively being "reconstructed" to give a range of future business prospects. 8 The Silk Road was the first transcontinental trade route developed by human civilization, running through Eurasia in the first millennium B.C., and is often regarded as the fabled road from China to Rome. In reality, it helped to unite previously disparate Asian and European cultures. Before the sea route was found, the Silk Route served as a vital conduit for the exchange of goods and information between the East and the West.

The Growing Role of India in Silk Road

A international plan to build a network of roads, railways, and gas pipelines to link resource-rich Central Asia with the continent's booming economy has India's backing. Insight into the historical dynamics of cultural interaction between India and the other countries along the Silk Road may be gained by tracing the Silk Road's evolution and its relationship to India. The ancient trade route known as the Silk Road linked the subcontinents of India and Central Asia, facilitating the movement of goods, people, and ideas along its route. New Delhi is attempting to reconnect with the region after years of little engagement owing to the loss of the Silk Road. For the last decade, nations in Central Asia have actively sought for reliable partners, especially in the fields of commerce and national security. Both groups are committed to combating radicalization and terrorism, eliminating illicit commerce, and exploring opportunities for economic cooperation. Given India's historical presence in the area, there is a fantastic opportunity to deepen connections

and find new ways to work together. India's economy has been evolving since it started liberalising in the early 1990s. While the government owns and operates the majority of businesses, private companies dominate in sectors like as agriculture, most non-financial services, consumer items, manufacturing, and even certain forms of heavy industry. India is an economic and technological superpower, having made significant contributions to the development of nuclear power, communication satellites, automobiles, software design, military aircraft, deep-sea oil drilling, oceanography, and the creation of manufactured goods, among other areas. The financial system has been modernised, monetary and fiscal policies have been dramatically changed, intellectual property rights have been preserved, and there has been a liberalisation of foreign investment and exchange regimes. The rapid growth of India's software export sector has helped modernise the country's economy and boost software exports. India has been instrumental in supporting the positive trends and various actions aimed at revitalising the Silk Route. It took a couple of efforts, but the once-prospering commercial route is thriving once again. India is advancing its commercial and industrial interests across Eurasia along a path evocative of the historic Silk Road. India is actively involved in many infrastructure development projects that aim to exploit the vast hydrocarbon reserves in the Caspian Sea area and the economic potential of the Eurasian republics. However, India shouldn't judge Central Asia's relevance for itself just by the little amount of trade conducted there. If the right measures are done, this region can have a major impact on India's policy goals.

Silk production in India

If you're looking for silk, you don't need to go any farther than India, since it is the world's second-largest producer. An estimated 9.76 million people throughout the country are directly or indirectly involved in sericulture. This sector contributes significantly to the country's GDP. In India's 52,360 villages, people engage in the agricultural practise of sericulture as their primary means of subsistence. India is the world's largest producer of natural silks, with four unique varieties: mulberry, eri, tasar, and muga. Silk is utilised in the manufacture of many different products in the United States, including clothing, cosmetics, textiles, yarns, carpets, shawls, scarves, pillow coverings, and accessories. Between April and December of 2021-2022, India produced a total of 26,587 metric tonnes (MT) of silk. India increased its annual silk production by 3.4% to 34,923 MT in the fiscal year 2021-2022. (33,770 MT). About 88.4 percent of the yearly output forecast for 2021-22 may be attributed to this sector. There are many different kinds of silk produced in the nation, but mulberry silk is by far the most common. The top silk-producing states in India include Andhra Pradesh, Assam, Bihar, Gujarat, Jammu and Kashmir, Karnataka, Chhattisgarh, Maharashtra, Tamil Nadu, Uttar Pradesh, and West Bengal. Thirty-two percent of India's silk output in 2021-22 came from the state of Karnataka. Andhra Pradesh was the second-leading silk producer in India between 2021 and 2022, accounting for 25% of the country's total output.

Various Types & Forms of Silk in India

1. The weavers at Tanchoi Silk combine Indian and Chinese silks to create really one-of-a-kind fabrics.
2. You can tell that Garad silk comes from West Bengal because of its crimson border and the delicate paisley designs it has. Garad sarees are known for their high quality because of the silk fabric used to make them.

3. Jamawar is a combination of cotton and wool that is often marketed as a cheaper alternative to real silk. Shawls woven from this fabric are a wintertime staple.
4. Matka Silk, a kind of coarse handloom silk fabric, is woven from remnants of Mulberry Silk without the silk's gum being removed (sericin). The states of Karnataka and Kashmir generate the most majority of this.
5. Named after the cities of Beneras and Varanasi in India, Banarasi (sometimes spelled Benarasi) silk is distinguished by its ornate use of gold and silver brocade and zari embroidery.
6. The highest quality silk on the market, known as Mulberry Silk, comes in a variety of yellow, white, and greenish-yellow tones.
7. Murshidabad East Indian silk, known as "Silk Mecca" silk, is very desirable.The silk that is grown in Bangalore is typically considered to be the best in the world. Weaving requires a silk with fine, tangle-free fibres, and raw silk is the purest, most untreated kind of silk.
8. Kosa Silk, which originates in the Indian state of Chattisgarh, is renowned for its luxurious sheen, luxurious feel, and extensive colour palette (from pale gold to deep honey to creamy white). Kosa is a kind of Tussar Silk.
9. Muga silk, which can only be found in the Indian state of Assam, is a bright, constant yellow and is often regarded as the world's strongest natural fibre.
10. Eri Silk, also known as Errandi silk and Endi silk, is the finest and most pure kind of silk grown in the Far East.
11. Dharamavaram Silk, sometimes called "Silk for the Bride" because to its signature gold-plated borders, originated in the Indian state of Andhra Pradesh. Silk with exceptionally elaborate border motifs comes from Narayanpet, a city in the Indian state of Andhra Pradesh.
12. The silk comes from Kanchipuram, a small hamlet in the southern Indian state of Tamil Nadu. Because of their high quality construction and polish, they will endure for a very long period.
13. The Bhagalpuri silk produced in West Bengal is generally regarded as the finest and most durable silk in the world.
14. Andhra Pradesh is the birthplace of Uppada silk, also known as Uppada Pattu (Telugu for "silk"). The thread count in both the width and the length directions is the primary identifier for this fabric, which is typically woven using a cotton warp.
15. Art silk, short for artificial silk, is made by using a synthetic fabric like Rayon to imitate the appearance and feel of genuine silk at a much lesser cost.

Conclusion

The Silk Road was responsible for the spread of a significant amount of artistic influence over Central Asia. This region was an area where creative cultures from many parts of the world,

including China, India, Iran, and Greece, could interact with one another. An excellent illustration of this link may be found in the blending of Greek and Buddhist aesthetics. Silk not only had a role in the depiction of art, but it also played a symbolic role in religious practises. Along the route of the Silk Road, silk was first and primarily used as a medium of exchange. The depiction of Buddha during the Kushan era as a human being is one example of the aesthetic influences that led to the development of Buddhism. [Citation needed] During the whole of the period, this took place. Many investigators have postulated that the Greeks were responsible for the impact. The Greek and Indian cultural traditions may be shown to have had a significant impact on later Buddhist art in China and other nations along the Silk Road. It's possible that China is the cause of this influence. Along the Silk Roads that linked East and West for commercial purposes, a wide variety of goods were produced. These goods ranged in size and form. Among the things up for auction were were pieces of art. The blue stone known as lapis lazuli, which often has golden flecks embedded inside it, was very valuable due to the fact that its powdered form could be used as paint.

References

1. *Ball, Philip (19 February 2009). "Rethinking silk's origins". Nature.* ***457*** *(7232): 945.* doi*:*10.1038/457945a. PMID 19238684. S2CID 4390646.
2. Bulliet, Richard W. 1975. *The Camel and the Wheel*. Harvard University Press. ISBN 978-0-674-09130-6
3. Elisseeff, Vadime. Editor. 1998. *The Silk Roads: Highways of Culture and Commerce*. UNESCO Publishing. Paris. Reprint: 2000. ISBN 978-92-3-103652-1 softback; ISBN 978-1-57181-221-6, 1-57181-222-9.
4. *Good, I.L.; Kenoyer, J.M.; Meadow, R.H. (2009).* "New evidence for early silk in the Indus civilization". *Archaeometry (Submitted manuscript).* ***50*** *(3): 457.* doi*:*10.1111/j.1475-4754.2008.00454.x.
5. Kuzmina, E.E. *The Prehistory of the Silk Road*. (2008) Edited by Victor H. Mair. University of Pennsylvania Press, Philadelphia. ISBN 978-0-8122-4041-2
6. *R.k.datta (2007).* Global Silk Industry: A Complete Source Book. *APH Publishing. p. 17.* ISBN 978-8131300879.
7. *Omrani, Bijan; Tredinnick, Jeremy (2010). Asia Overland: Tales of Travel on the Trans-Siberian and Silk Road. Hong Kong New York: Odyssey Distribution in the US by W.W. Norton & Co, Odyssey Publications. ISBN 978-962-217-811-3.*
8. Tuladhar, Kamal Ratna (2011). *Caravan to Lhasa: A Merchant of Kathmandu in Traditional Tibet.* Kathmandu: Lijala & Tisa. ISBN 978-99946-58-91-6
9. UNCTAD. (2016). World Investment Report 2016. Geneva: UNCTAD
10. *York, Neil (2016). Silk Fabrics from the Orient (First ed.). USA: Lulu.* ISBN 978-1-365-31798-9.

Received: 14.01.2026 | Accepted: 22.01.2026 | Published: 30.01.2026

पर्यावरण, गांधी दृष्टि और हिंद स्वराज

डॉ. मिथिलेश कुमार तिवारी*
mkt1980@gmail.com

सारांश :

प्रस्तुत शोध-पत्र ''पर्यावरण, गांधी दृष्टि और हिंद स्वराज'' के अंतर्संबंधों का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अध्ययन का मुख्य उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि आधुनिक पश्चिमी विकास मॉडल से उत्पन्न पर्यावरणीय संकटों—जैसे जलवायु परिवर्तन, संसाधनों का अंधाधुंध दोहन, उपभोक्तावाद और पर्यावरणीय उपनिवेशवाद—का समाधान गांधीवादी जीवन-दृष्टि में किस प्रकार निहित है। गांधी की समग्रतामूलक (integrated) और अस्तित्वमूलक एकता पर आधारित दृष्टि मानव और प्रकृति के बीच नैतिक संबंध की स्थापना करती है। हिंद स्वराज में व्यक्त आधुनिक सभ्यता की आलोचना, औद्योगीकरण-विरोध, स्वदेशी, अपरिग्रह, अहिंसा और 'प्रोडक्शन बाय मासेज' का सिद्धांत वर्तमान पर्यावरणीय विमर्श के लिए प्रासंगिक प्रतिपक्ष प्रस्तुत करता है। शोध में यह प्रतिपादित किया गया है कि गांधी का पर्यावरण-दर्शन केवल नैतिक आग्रह नहीं, बल्कि एक वैकल्पिक विकास-परिकल्पना है, जो सतत् विकास, सामाजिक न्याय और संसाधनों के समान वितरण पर आधारित है।

मुख्य शब्द :

पर्यावरण संकट, गांधी दृष्टि, हिंद स्वराज, सतत् विकास, अहिंसा, स्वदेशी, औद्योगीकरण की आलोचना, पर्यावरणीय उपनिवेशवाद, अस्तित्वमूलक एकता, वैकल्पिक विकास मॉडल

भारत की संस्कृति 'वसुधैव कुटुम्बकम' के सिद्धांत की पक्षधर रही है और आज जब पर्यावरण की समस्या वैश्विक हो गयी है, पर्यावरण संरक्षण आज के युग की मांग है। पर्यावरण प्रदूषण का तात्पर्य है आर्थिक एवं औद्योगिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पारिस्थितिकी तंत्र में इतना अवांछित परिवर्तन उत्पन्न कर देना कि वह पारिस्थितिकी तंत्र की सहनशक्ति से अधिक हो जाय। आज मानव के इन्हीं कुकृत्यों के कारण सभी तरह के प्रदूषण जैसे- वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण, भूमि प्रदूषण, विकरणीय प्रदूषण आदि पर्यावरण संतुलन के लिए चुनौती बन गये हैं ।

विकास के पश्चिमी मॉडल के कारण ओजोन छतरी में छेद हो गया है, वनों का भयंकर विनाश हुआ, जहरीली गैसें पृथ्वी के वायुमण्डल में बढ़ गयी है जिससे पृथ्वी अधिक गर्म रहेगी, जिससे जलवायु बदलेगी, बाढ़ और सूखे की विपदा बढ़ेगी। अमरीका एवं कुछ देश इन सबके लिए तीसरी दुनिया के देशों को जिम्मेदार मानते हैं। विकास की गलत अवधारणा ने मानवता को न केवल विनाश एवं युद्ध के द्वार पर लाकर खड़ा कर दिया है बल्कि प्रकृति का दोहन कर पर्यावरण का ऐसा संकट पैदा कर दिया है जो परमाणु बम से कम से कम 100 गुणा अधिक खतरनाक है। विकसित राष्ट्रों द्वारा विकासशील राष्ट्रों पर पर्यावरणीय उपनिवेशवाद कायम करने की दिशा में प्रयत्नशील हैं।

पर्यावरणीय संस्कृति की परंपरा यहाँ अति प्राचीन काल से रही है। वृक्षारोपण की महिमा का वर्णन हमारे प्राचीन ग्रंथों में काफी है। 'मत्स्य पुराण' में लिखा है- *''दस कुंए एक तालाब के बराबर है। दस तालाब एक झील के बराबर है, दस झीलें एक पुत्र के बराबर है एवं दस पुत्र एक वृक्ष के बराबर है।* इससे पेड़ लगाने का महत्व उजागर होता है। पृथ्वी व वायुमंडल ही

* **असिस्टेंट प्रोफेसर, प्रयागराज केंद्र, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय**

हमारे जीवन के मुख्ये आधार हैं। दोनों के प्रति हमारा भी कर्तव्य है। दोनों से जितना ले उतना उन्हें वापस दें भी। अथर्वेद में लिखा है- *''हे धरती मां जो कुछ भी तुझसे लूंगा वह उतना ही होगा जिसे तू पुनरू पैदा कर सके। तेरे गर्भस्थलल पर या तेरी जीवन शक्ति पर कमी आघात नहीं करूंगा।''*

'प्रकृति' पर विजय' की बात सोचना निरी मुर्खता एवं अहंभाव को प्रकट करता है। प्रकृति से प्रेम कर ही हम अपने जीवन को सुखी- संपन्न एवं दीर्घायु बना सकते हैं। अपरिग्रह, स्वच्छता, अहिंसा, क्षमा जैसे गुण मानव को पर्यावरण संरक्षण के प्रति उत्तजरदायी बनाते हैं। हमें वन के समान परोपकारी की भावना रखनी चाहिए। भगवान बुद्ध ने कहा है *''वन मांगता कुछ नहीं बल्कि हर जीव को शक्ति एवं सुरक्षा प्रदान करता है, यहाँ तक कि उस व्याक्ति को भी छाया प्रदान करता है जो कुल्हाड़ी लेकर उसे काटने आया है।''* महात्मा गांधी भी प्रकृति के दोहन के पक्षधर नहीं थे। गांधीजी ने 'हरिजन सेवक', 07 अप्रैल 1946 में लिखा है कि

> *''जो आदमी जहाँ चाहे वहाँ और जिस तरह चाहे उस तरह थूक कर, कूड़ा-कर्कर डालकर, गंदगी फैलाकर या दूसरे तरीकों से हवा को गंदा करता है, वह कुदरत और मनुष्य के प्रति अपराध करता है। मनुष्य का शरीर ईश्वर का मंदिर है उस मंदिर में जाने वाली हवा को जो गंदा करता है वह मंदिर को भी बिगाड़ता है।''*

पर्यावरण के अनुरूप कोई भी विकास प्रक्रिया एक नई संस्कृति की मांग करती है। उस संस्कृति की ओर बढ़ने वाले किसी भी मनुष्य, संघ और संगठन को परिवर्तन का वाहक बनने के लिए कई चीजें चाहिए। कई सरकारी और गैर सरकारी गतिविधियों को उपरोक्त नई संस्कृति की ओर उठे कदम माना जा सकता है। इन गैर सरकारी गतिविधियों के उदाहरण हैं उत्तर प्रदेश में चपको आंदोलन, केरल में साइलेंट वैली ओर चेलियार नदी के आंदोलन, कर्नाटक में अप्पिको आंदोलन गोवा में मछुआरों का आंदोलन, बिहार में बोध गया भूमि संघर्ष, मध्यनप्रदेश में मिट्टी बचाओ आंदोलन की पुनरावृत्ति किये जाने की आवश्यकता महसूस की जा रही है। जिससे देश ही नहीं विश्व भी जंगल और इंसान के बीच के संबंध को करीब से महसूस किया जा सके। पर्यावरण ही जीवन है, जीवन ही पर्यावरण है इसके संरक्षण, सुरक्षा और संवर्द्धन में अपना योगदान देना समय की मांग है इसी में विश्व का कल्याण निहित है।

इस परिपेक्ष्य में गांधीजी की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता उनकी समग्रतामूलक दृष्टि (Integrated Approach) थी । उनके लिए जीवन समग्रता में है, अतएव जीवन की बुनियाद भी एक है, उसका नियमन करने वाला नियम भी एक है । वह मानव और मानवेतर जगत के एकत्व में विश्वास करते है जिसे उनकी 'अस्तित्वमूलक दृष्टि' कहा जा सकता है। सम्पूर्ण प्रकृति के प्रति उनकी एकात्म दृष्टि को निम्नानुसार स्पष्ट किया जा सकता है –

> *''मैं अद्वैत में विश्वास करता हूँ; मैं मनुष्य की मूलभूत एकता में भी और केवल मनुष्यों की ही क्यों सभी जीवधारियों की एकता में विश्वास करता हूँ । इस कारण मेरा तो ऐसा यकीन है कि एक मनुष्य के अध: पतन के साथ इस हद तक सारे संसार की अधोगति होती है।''*[1]

> *''मैं केवल मानवों के साथ ही तादात्म्य अथवा बंधुत्व स्थापित करना नहीं चाहता अपितु पृथ्वी पर रेंगने वाले कीड़ों-मकोड़ों के साथ भी तादात्म्य अथवा बंधुत्व स्थापित करना चाहता हूँ... क्योंकि हम सभी उसी ईश्वर की संतान है और इसलिए जीवन जिस रूप में भी दिखाई देता है, तत्वत: एक होना चाहिए।''*[2]

उपर्युक्त उदाहरण स्पष्ट करते हैं कि उनके अनुसार जीवन तत्वत: एक ही है। यह विज्ञान सम्मत तर्क भी है।अतएव नैतिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से वही जीवन दृष्टि एवं शैली उचित कही जा सकती है जो इस एकत्व को पुष्ट करती हो । महात्मा गांधी इस तात्विक एकता को ही सत्य मानते हैं और अहिंसा को इस सत्य की प्राप्ति का व्यावहारिक माध्यम। प्रो.नंदकिशोर आचार्य ने सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह के आयाम को विस्तार देते हुए बताया कि अस्तित्व के एकत्व का व्यावहारिक स्वरूप अहिंसा के रूप में ही अभिव्यक्त हो सकता है। अहिंसा की इस सनातनता का आग्रह ही सत्याग्रह है अत: सत्याग्रह *'अन्य'* के प्रति *'स्व'* का उत्तरदायित्व है और साथ ही *'स्व'* की तलाश भी है । यही अद्वैत है अत: गांधीजी के अर्थशास्त्र, समाज, राज्य और संस्कृति सत्याग्रही स्वरूप लिए है ।[3]सार रूप में यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि यह *'स्वानुभूति'* की तलाश *'अन्य'* के प्रति उत्तरदायित्व पूर्ण बोध ही गांधीजी की पर्यावरणीय दृष्टि का एक महत्वपूर्ण अंग है।

प्रकृति मनुष्य के उपभोग के लिए नहीं है। वह मनुष्य और मनुष्येतर जगत के समान अधिकार को स्वीकार करते हुए कहते हैं :

''मैं यह अवश्य मानता हूँ कि ईश्वर की सृष्टि के समस्त प्राणियों को जीने का उतना ही अधिकार है जितना हमें।[4]''

''भविष्य के मापदण्ड में केवल मानव जाति का नहीं, समस्त प्राणि जगत का ख्याल रखा जायेगा और जिस प्रकार अब हम धीरे-धीरे; लेकिन निश्चित रूप से इस फैसले पर आ रहे हैं कि यह समझना गलत है कि हिंदू अपनी संख्या के पॉचवे हिस्से को निकृष्ट मानने पर भी उन्नति कर सकते हैं या पश्चिम के देश पूर्वी और अफ्रीकी राष्ट्रों को शोषित और पददलित करने उसके सहारे जी तथा उन्नति कर सकते हैं, उसी तरह हमें समय आने पर यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि सृष्टि के निम्नतर प्राणियों पर हमारा प्रभुत्व इसलिए नहीं है कि हम उन्हें मार डालें,बल्कि वह हमारे और उनके पारस्परिक हित-संवर्धन के लिए हैं। मैं यह निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि ईश्वर ने उन प्राणियों को भी वैसी ही आत्मा दी है जैसी कि मुझे।[5]''

गांधीजी की अहिंसक पर्यावरणीय दृष्टि में अनेक अन्तर्दृष्टियां भी प्राप्त होती है जिनका सामना हमें आज भी करना पड़ रहा है । उन्होंने इंग्लैंड प्रवास के दौरान औद्योगीकरण के अभिशाप को देखा था जिसका वर्णन कई बार किया। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि उपनिवेशवाद के कारण खतरे में पड़े पर्यावरण पर भी अपना ध्यान केंद्रित किया। साम्राज्यवाद को संसाधनों के शोषण के साथ जोड़ कर देखा। भारत का उदाहरण उनके सामने मौजूद था जो इस शोषण का शिकार हो रहा था। उन्होंने चेतावनी दी कि संसाधनों का यह अंधाधुंध दोहन मानव अस्तित्व के लिए खतरा साबित होगा –

''ईश्वर न करे कि भारत कभी पश्चिमी ढ़ंग के उद्योगवाद को अपनाए। अगर तीस करोड़ की आबादी वाला समूचा राष्ट्र पश्चिमी ढ़ंग के आर्थिक शोषण पर उतर आए तो वह टिड्डी दल की तरह सारी दुनिया को चट कर जाएगा।''[6]

गांधीजी के कथन का संदर्भ हमें याद दिलाता है कि स्वतंत्र भारत में हमने उसी उद्योगवाद और आर्थिक शोषण को अपनाया जिसके प्रति गांधीजी ने आगाह किया था परिणामस्वरूप आंतरिक उपनिवेशवाद को जन्म दिया। इसमें देश में उपस्थित कमजोर समूहों को हमने विकास की 'अनिवार्य लागत' का हिस्सा बनाया। प्राकृतिक संसाधनों को लेकर चलने वाली लड़ाई का एक पक्ष पर्यावरण पर समान अधिकार की आवाज भी है। आम जनता की आजीविका की लड़ाई(struggle for right and justful livelihood) में गांधीजी ने सशक्त हस्तक्षेप किया जो पर्यावरणीय दृष्टि से भी अनुकूल था। उनके द्वारा प्रतिपादित चरखा और स्वदेशी ने (मशीनों द्वारा संसाधनों के अंधाधुध दोहन पर आधारित) व्यापक उत्पादन (मॉस- प्रोडक्शन) के स्थान पर लोगों के द्वारा लघु स्तर पर व्यापक उत्पादन (प्रोडक्शन बाय मासेज) को तरजीह दी, इसका एक सशक्त पर्यावरणीय पक्ष भी है।

आज न केवल गांवों और आदिवासी समूहों में अपितु शहरों में भी आम जनता व कमजोर समूह संसाधनों तक पहुँच से वंचित होते जा रहे हैं। संसाधनों के केंद्रीकरण के प्रति गांधीजी ने सीधी चेतावनी दी थी –

''मैं नगरों की बढ़वार को एक बुराई मानता हूँ; यह मानव जाति और दुनिया के लिए दुर्भाग्य का विषय है; यह इंग्लैंड और, निश्चित रूप से, भारत के लिए दुर्भाग्य का विषय है। अंग्रेजों ने शहरों के माध्यम से भारत का शोषण किया है। शहरों ने पलट कर गॉवों का शोषण किया है। शहरों का भवन- निर्माण गांवों की रक्तरूपी सीमेंट से हुआ है। मैं चाहता हूँ कि जो रक्त आज नगरों की धमनियों में बह रहा है, वह फिर एक बार गांवों की रक्तवाहिकाओं में बहने लगे।''[7]

सारत: यह कहा जा सकता है कि गांधीजी की पर्यावरणीय दृष्टि का एक सशक्त तत्वमीमांसीय आधार है जो अस्तित्वमूलक एकता से सम्पुष्ट होता है। उनकी एक प्रसिद्ध उक्ति हर समय के लिए एक महत्वपूर्ण मार्गनिर्देशक है कि *संसार में इतने संसाधन है कि वह प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता पूरी करने में समर्थ है किन्तु यह एक व्यक्ति के लालच के लिए भी पर्याप्त नहीं है।*

हम पश्चिमी विकास या आधुनिक विकास का विकल्प ढूंढना चाहते हैं। विकल्प ढूढ़ने के क्या कारण हैं। हम आधुनिक विकास का विकल्प आखिर क्यों ढूंढना चाहते हैं? उतना ही महत्वपूर्ण यह सिद्ध करना है कि पश्चिमी विकास का विकल्प गांधीवादी विचार में है या नहीं ? क्या गांधीवाद को पश्चिमी विकास के बरक्स खड़ा किया जा सकता है।

वस्तुतःआधुनिक सभ्यता का अनुत्तरित अंतर्विरोध अनदेखा करने लायक नहीं है। लेकिन हम गैर आधुनिक होने के अपमान को बर्दास्त नहीं कर सकते। क्या गांधी आधुनिकता के विरोधी हैं? क्या वे प्रगति नहीं चाहते? क्या गांधी वर्तमान सभ्यता का विरोध कर लोगों को अंधकार के युग में ढकेलना चाहते हैं? आज से पाँच वर्ष पूर्व हम 'हिन्द स्वराज्य' का सौ वर्ष मना चुके हैं। गांधी जी ने लंदन से दक्षिण अफ्रीका लौटते हुए 1909 में ही आधुनिक सभ्यता की आलोचना हिन्द-स्वराज्य में की है। हिन्द स्वराज्य के सभ्यता दर्शन में गांधी लिखते हैं कि, 'लोग बाहरी (दुनिया) की खोजों में और शरीर के सुख में धन्यता-सार्थकता और पुरुषार्थ मानते हैं।'[8] सभ्यता की निशानी क्या है? 'अच्छे घर' शरीर को सजाने के लिए तरह-तरह के कपड़े बनवाना, पाँच गोलियों वाली बंदूक, जमीन जोत के लिए इंजन, लोगों को भरमाने वाले लेखनी को छपवाने की कला, रेल से जल्दी से सफर कर लेना यह 'सभ्यता की चोटी' (शिखर) मानी जाती है। हिन्द-स्वराज्य में ही वे लिखते हैं कि, "पहले लोगों को मार-पीट कर गुलाम बनाया जाता था, अब लोगों को पैसे का और भोग (मजा, आनंद) का लालच देकर गुलाम बनाया जाता है।" गांधी ने स्पष्ट कहा था कि, "वे दुनिया के लाखों लोग जो बेआवाज है, स्वस्थ और सुखी बने और उनका आध्यात्मिक विकास हो। ...अगर हमें मशीनों की जरूरत हुई तो हम निश्चय ही उनको बनायेंगे। प्रत्येक ऐसी मशीन उपयोगी है जिससे हर इंसान को मदद मिल सके, लेकिन हमें ऐसी मशीनें नहीं चाहिए जिनसे शक्ति कुछ हाथों में केन्द्रित हो जाए और सामान्यजन मशीनी पुर्जे बनकर रह जायें या बेरोजगार हो जायें।"

आज हम इस स्थिति में पहुँच चुके हैं जब हमें हिंसा और अहिंसा में से किसी एक को छोड़ना ही होगा। आचार्य राममूर्ति कहते हैं कि "सभ्यता का विकास ऐसे बिन्दु पर पहुँच गया है कि यह निर्णय टाला नहीं जा सकता। वे कहते हैं कि विज्ञान और लोकतंत्र दो ऐसी शक्तियाँ है, जो अब पुरानी दुनिया को पुराने तरीके से चलने नहीं देगी। हमें इसे टालते नहीं जाना चाहिए इससे सभ्यता का संकट और गहरा होता जा रहा है। पर्यावरणवादी चेतावनी दे रहे हैं कि जिस दुनिया में मनुष्य रहता आया है वह दुनिया हाथ से निकल रही है। तापमान का बढ़ना, ओज़ोन परत में छिद्र इस ख़तरे से मनुष्य का जीवन ही संकट में पड़ गया है। इस चेतावनी को टाला नहीं जा सकता। उनका मानना है कि नई सभ्यता के निर्माण की शक्ति समाज में, मनुष्य में व्यक्ति में है इसलिए विनोबा विज्ञान और आध्यात्म का समन्वय करने पर बल देते हैं।[9]

आज एक ओर इस 'बेलगाम वृद्धि' को पर्यावरणीय चुनौतियां मिल रही हैं वहीं दूसरी ओर जीवन की गुणवत्ता को निर्धारित करने के लिए अन्य मापदंड स्वास्थ्य, औरतों की स्थिति, मानवाधिकार, शिक्षा आदि के साथ- साथ पर्यावरण को भी जोड़ा जा रहा है। 1990 में UNDP ने प्रथम मानव विकास रिपोर्ट प्रकाशित किया जिसमें यह माना गया कि आर्थिक संकेतकों के अलावे अन्य स्थिति भी समाज के विकास के संकेतक हैं। जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा, गरीबी आदि। वैश्वीकरण का मानवीय चेहरा कैसे उभरे इसके लिए UNDP प्राथमिकताओं में बदलाव पर बल देती है। लेकिन क्या असमानता और गरीबी वैश्वीकरण का परिणाम नहीं है ? संकेतक सार्वभौम नहीं हो सकते, क्षेत्रीय भिन्नता के आधार पर अलग-अलग जगहों के संकेतक भिन्न-भिन्न होंगे। जब किसी राष्ट्र के मुद्रा का अवमूल्यन अन्य राष्ट्र के मुद्राओं की तुलना में किया जाता है तब उस देश द्वारा किया जाने वाला निर्यात सस्ता और आयात महंगा हो जाता है। यह नीति निर्यात को प्रोत्साहित और आयात को निरुत्साहित करता है। देश में होने वाले खपत से उत्पादन अधिक होगा तभी निर्यात बढ़ाकर विदेशी मुद्रा को बढ़ाया जा सकता है। डॉलर और सोने के बीच समतुल्यता कायम रखने के लिए अमेरिका और अन्य सहयोगी राष्ट्रों द्वारा संयुक्त रूप से स्वर्ण पूल बनाया गया। डॉलरों को सोना में बदलने की कोशिश को अमेरिका ने दुश्मनी का संकेत माना इस प्रकार अमेरिका ने अपने घाटे के साथ दुनिया के देशों को भी जीने के लिए मजबूर किया। सोने की कीमत बढ़ने के संकेत आते ही इन देशों के केंद्रीय बैंक बाजार में सोना बेच कर डालर की कीमत को बराबर कर लेते हैं। उत्पादित सामग्री के खपत के लिए बाजार में बिक्री को प्रोत्साहित करने के लिए उपभोक्तावादी प्रवृत्ति का विस्तार किया जाता है । औद्योगिक क्रांति और अर्थव्यवस्था का पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में रूपान्तरण पर्यायवादी प्रक्रियाएँ है।[10]

औद्योगीकरण के पूर्व दस्तकार जो औजार और उपकरण का प्रयोग करते थे उसके मालिक अधिकांशतः वे खुद होते थे। उत्पादित सामग्री व्यापारी उनसे माल खरीदा करते थे। सम्पूर्ण परिवार इस कार्य में उनकी मदद करता था। जब मशीनें आईं तो उत्पादन बढ़ा, दस्तकार मजदूर बन गए, उनके हाथ से हुनर छिन गया दूसरी ओर कच्चे माल का खपत बढ़ा। श्रम सहित सभी चीज खरीद-बिक्री की वस्तु बन गई। (हिन्द स्वराज्य, पृ. 19) यही कारण है कि 'शरीर का सुख कैसे मिले, यह आज की सभ्यता ढूंढती हैं, और यही देने की वह कोशिश करती है। परंतु वह सुख भी नही मिल पाता' (वही, पृ. 19-20) गांधीजी इस सभ्यता को नाशवान और दूसरों का नाश करने वाली बताते हैं। वे कहते हैं कि "यह सभ्यता ऐसी है कि अगर हम धीरज धर

कर बैठे रहेंगे तो सभ्यता की चपेट में आये हुए लोग खुद की जलायी हुई आग में जल मरेंगे।" (पृ. 20) वे इस सभ्यता को 'शैतानी' कहते हैं।

वर्तमान सभ्यता, आधुनिक सभ्यता या पश्चिमी सभ्यता का विरोध गांधी क्यों कर रहे थे? वह भी एक सौ पाँच वर्ष पूर्व गांधीजी ने देखा था कि हिंदुस्तान अंग्रेजों से नहीं, बल्कि आजकल की सभ्यता (तहजीब) से कुचला जा रहा है। (पृ.24) उस सभ्यता से आज हमारा विरोध नहीं रह गया है, गांधीजी कहते हैं 'हमें अँग्रेजी राज्य तो चाहिये पर अंग्रेज़ (शासन) नहीं चाहिये।' वे कहते हैं कि 'आप बाघ का स्वभाव तो चाहते हैं, लेकिन बाघ नहीं चाहते।' (पृ.12) हम उस सभ्यता के मोह में फंसे हुए दिवा स्वप्न देख रहे हैं। उस समय भी सभ्यता के हिमायत करने वाले लोग थे जिससे हमारी आंखे चौंधिया गई थी आज भी वही स्थिति है। सभ्यता के पाखंड को गांधी धर्म के पाखंड से अधिक भयानक मानते हैं। यह सभ्यता नुकसान करने वाली कैसे है इस पर विस्तार से तर्क देते हैं, विकल्प भी प्रस्तुत करते हैं। आजादी के 9 वर्ष पूर्व 1938 में भी गांधी अपने स्वराज के तस्वीर को हिन्द स्वराज के आधार पर ही खड़ी करना चाहते थे। जनवरी 1921 में उन्होंने लिखा कि इस किताब में जिस स्वराज्य की तस्वीर मैंने खड़ी की है, वैसा स्वराज्य कायम करने के लिए आज मेरी कोशिशें चल रही हैं। लेकिन मैं जानता हूँ कि अभी हिंदुस्तान उसके लिए तैयार नहीं है।

आर्थिक भूमंडलीकरण ने संस्कृति का चोला बदल दिया है। अब मानव प्रकृति में नहीं संस्कृति में जीता है। संस्कृति और प्रकृति के विरोध ने नए बहस पैदा किये हैं। आशीष नंदी द्वारा संपादित पुस्तक 'विज्ञान आधिपत्य और हिंसा' (Science hegemony and violence, oxford university press) में शिव विश्वनाथ ने राबर्ट जुंक को उद्धृत करते हुए लिखा है कि विज्ञान को तकनीक और राजनीति से अलग करने में ही उसका मोक्ष है। जब कि बहुत से विद्वान विज्ञान और तकनीक को अभिन्न मानते हैं। विज्ञान, तकनीक और राज्य के गठबंधन के बाद देकार्त के दार्शनिक सिद्धांत, फ्रांसिस बेकन के तर्क सिद्धांत और गैलेलियो के गणितीय सिद्धांत जो आधुनिक विज्ञान के आधार हैं, की भौतिक त्रुटियों पर काफी बहस हुई है। औपनिवेशिक समाजशास्त्र को यह भी चुनौती माना गया कि प्रचलित अर्थशास्त्र पिछड़े देशों की समस्याओं का मुक़ाबला नहीं कर सकता, उन्हें अपने अनुभवों से नया अर्थशास्त्र गढ़ना होगा। आधुनिक तकनीक और अर्थशास्त्र ने विकास नीति की दैत्याकार विचारधारा को जन्म दिया है। वंदना शिवा ने लिखा है कि आधुनिक विज्ञान का गठबंधन पूंजीवाद तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों के साथ हो चुका है। किशन पटनायक कहते हैं कि आधुनिक विज्ञान के टेक्नॉलॉजी ने सुखी समाज नहीं बल्कि सुखी वर्ग पैदा किया है। पश्चिमी सभ्यता का भौतिक और सांस्कृतिक विकास अभियान नव उपनिवेशवाद के इस दूसरे दौर में उफान पर पहुँच चुका है। हालांकि यह सभ्यता खुद के अंतर्द्वंद्व में फँसा हुआ है। एक तरफ बम को सभ्यता की निशानी माना जा रहा है वहीं दूसरी तरफ निःशस्त्रीकरण के लिए समझौते हो रहे हैं। धीरेंद्र मजूमदार कहते हैं कि यह परिस्थिति मानव बुद्धि की प्रचंड विडम्बना है।[11] वे कहते हैं कि यह मानव के अस्तित्व की रक्षा के लिए उसकी बुद्धि और पुरुषार्थ को बहुत बड़ी चुनौती है।[12] जिसका उत्तर ढूंढा जाना शेष है।

व्यापारिक पूंजीवाद विज्ञान को प्रोत्साहित करता है दूसरी ओर सामंती अवशेषों की रक्षा करने के लिए अंधविश्वासों को बढ़ावा देता है। विज्ञान का उपयोग वह लूट और मुनाफे के लिए करता है। दरअसल प्रकृति और मानव समाज के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास और प्रसार उसका लक्ष्य कभी नहीं होता।[13]आधुनिक पूंजीवादी-भौतिकवादी सभ्यता के खतरनाक संकेत यह है कि हम वास्तविकता से विमुख हो गए हैं। उन सभी चीजों को मूल्यहीन मानने लगे हैं जिन्हें हमने स्वयं नहीं बनाया है। 'मूल्य के श्रम सिद्धांत' की रचना में मार्क्स से भी भूल हुई थी। दरअसल हमें पूंजी का बड़ा अंश प्रकृति से प्राप्त हुआ है। प्राकृतिक पूंजी का तेजी से समाप्त होना चिंता का विषय बन चुका है। इसलिए यह मानना कि उत्पादन की समस्या सुलझाई जा चुकी है, बिलकुल बेमानी है, आत्मघातक है।[14] डॉ. राधाकृष्णन कहते हैं कि मानवीय नियंत्रण से मुक्त हो जाने के बाद टेक्नोलाजी अपना अर्थ खो बैठती है और उद्देश्यों पर उपायों की विजय हो जाती है।[15]गांधी कहते हैं कि हर एक आदमी जितना उसे चाहिए उतना ही ले उससे ज्यादा न ले तो दुनिया में गरीब, गरीब न रहे और एक भी आदमी इस दुनिया में भूखा न मरे। आवश्यकताओं की वृद्धि दूसरों के हक को हड़पना है जो विषमता और अन्याय है। गांधी मानते हैं कि सुख-दुख मन कि स्थिति है, संपत्ति सुख का मापदंड नहीं हो सकता। इसलिए वर्तमान विकास के अंतर्विरोधों से मुक्ति दिलाने में गांधी के विचार हमें एक ऐसी सभ्यता की ओर ले जाते हैं जिसमें आध्यात्मिकता और भौतिकता के बीच नैतिक संतुलन स्थापित करने की बात काही गई है।

लेखक परिचय :

डॉ. मिथिलेश कुमार तिवारी, गांधी अध्ययन एवं भारतीय समाज कार्य के क्षेत्र में सक्रिय हैं। इन्होंने अभी तक कुल 13 मूल पुस्तकों का लेखन एवं 16 पुस्तकों का सम्पादन किया है। साथ ही राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय शोध पत्रिकाओं में कुल 53 शोध आलेख प्रकाशित हुए है। भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद, नयी दिल्ली एवं अन्य एजेंसियों से अभी तक कुल 09 शोध परियोजनाओं का सफलतापूर्वक संचालन किया है। लेखन एवं शोध के अतिरिक्त पिछले 10 वर्षों से ये समाज कार्य के भारतीयकरण के क्षेत्र में कार्य कर रहें है तथा भारतीय समाज कार्य परिषद के अखिल भारतीय सह-सचिव के रूप में कार्यरत हैं। सम्प्रति महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा के क्षेत्रीय केंद्र, प्रयागराज में वरिष्ठ सहायक आचार्य पद पर कार्यरत हैं।

संदर्भ

[1] यंग इंडिया. (1924, दिसम्बर 04). पृ. 398

[2] यंग इंडिया. (1929, अप्रैल 04). पृ. 107

[3] आचार्य, नंदकिशोर. (2008). *सभ्यता का विकल्प*. वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर. पृ. 9-11

[4] हरिजन, (1937, अक्टूबर 09). पृ. 286

[5] यंग इंडिया. (1925, दिसम्बर 17). पृ. 440

[6] यंग इंडिया. (1928, दिसम्बर 20). पृ. 422

[7] हरिजन. (1946, जून 23). पृ. 198

[8] गांधी, महात्मा. (1909). *हिंद स्वराज*. पृ. 17-18

[9] भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला. (1999). भाषण

[10] अविनाश. (2004). *वैश्वीकरण की पृष्ठभूमि* (Background of Globalization का अनुवाद). सेंटर फॉर एजुकेशन एंड डाक्यूमेंटेशन, बंबई. पृ. 37

[11] मजूमदार, धीरेंद्र. (1971). *क्रांति: प्रयोग और चिंतन*. सर्वसेवा संघ, राजघाट, वाराणसी. पृ. 69.

[12] उपरिवत, पृ.67

[13] शर्मा, रामविलास. (1982). *भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद* (खंड 1). राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली. पृ. 20

[14] शुमाकर, ई. एफ. (1977). *समुचित तकनीक बेहतर भी कारगर भी* (अनुवादक: भवानी दत्त पण्ड्या). राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली. पृ. 12

[15] राधाकृष्णन, सर्वपल्ली, पूर्व और पश्चिम, पृ. 133

Received: 14.01.2026 | Accepted: 22.01.2026 | Published: 30.01.2026

Controlled Inclusion: Patriarchal Gatekeeping and the Limits of Women's Substantive Representation in Indian Democracy

Suraj Kumar Verma*

surajhind758@gmail.com

Abstract

This research paper interrogates the persistent tension between gender representation and the politics of gender within India's democratic setup, revealing how patriarchal mechanisms perpetuate marginalization of women despite formal institutional advances. Drawing on Hanna Pitkin's classic distinction between descriptive and substantive representation, it argues that controlled inclusion manifesting as symbolic quota system, proxy candidacies, and strategic co-optation, allows patriarchal structures to absorb numerical gains while safeguarding substantive male dominance. This dynamic not only undermines genuine gender equality but also poses profound challenges to democratic resilience by eroding institutional trust, exacerbating identity-based polarization, and diminishing the civic participation of the half population. Despite constitutional guarantees and landmark reforms, like the 73rd and 74th Amendments reserving 1/3rd of seats in local bodies, resulting in over 1.4 million elected women representatives, and the recent Nari Shakti Vandan Act (2023) providing one-third reservation in national and state legislatures (pending implementation after delimitation) women's parliamentary presence remains strikingly low. As of late 2025, women hold approximately 14% of seats in the Lok Sabha, placing India around 140th to 149th among nearly 190 countries worldwide, significantly below the global average of 27.2%. Through a multi-level empirical analysis spanning Gram Panchayats, state assemblies, and the national parliament, this study uncovers recurring patterns of gendered barriers: proxy leadership "Sarpanch Pati", familial dynastic control, resource inequalities in ticket distribution, the chilling effect phenomena and subtle norms of pseudo-empowerment that confine women to performative roles. Qualitative insights from fieldwork in Uttar Pradesh and comparative quantitative data on electoral outcomes demonstrate how these mechanisms perpetuate power imbalances despite increased formal inclusion. Theoretically grounded in feminist institutionalism and the politics of belonging, this paper argues that such controlled inclusion reinforces gender exclusion and fragments democratic belonging, reflecting global threats such as populism and norm erosion. In India, this manifests as increasing polarization along caste-gender intersections and declining trust in electoral institutions, as women's agency is systematically constrained. The findings demonstrate that contemporary patriarchy evolves adaptive strategies, controlled co-optation, fragmented authority, and symbolic visibility that preserve male dominance under the guise of progress. This not only hinders substantive equality but also weakens democratic

* ***Doctoral fellow*, Centre for The Study of Social Inclusion, Faculty of Social Sciences, Banaras Hindu University, Varanasi-221005**

resilience by limiting diverse policy inputs on issues such as reproductive rights, violence prevention, and economic empowerment. Finally, this research paper offers implications for reforms: beyond quotas, intra-party democratization, gender audits, financial autonomy and civic education are necessary to dismantle these mechanisms. By relating comparative political behaviour to identity politics in the Global South where democratic setup exists.

Keywords:

Gender Representation, Controlled Inclusion, Patriarchal Mechanisms, Democratic Resilience, Politics of Belonging.

Introduction

This paper argues that despite significant constitutional and legislative advancements aimed at increasing women's political participation, a complex interplay of patriarchal mechanisms transforms formal inclusion into a controlled, rather than genuinely empowering, process, thus impeding democratic resilience in India. This phenomenon is particularly evident in the disparity between descriptive representation, characterized by increased female electoral presence, and substantive representation, where women's actual decision-making influence and power remain circumscribed (Neha et al., 2025; Varghese, 2020). This controlled inclusion often manifests as symbolic gestures, such as quota systems and proxy candidacies, which allow patriarchal structures to absorb numerical gains without ceding substantive male dominance (Simon & Hasan, 2025). This dynamic, where patriarchal frameworks assimilate increased female participation while retaining underlying power structures, ultimately undermines genuine gender equality and poses significant challenges to the democratic resilience of India by eroding institutional trust and exacerbating identity-based polarization. The present study posits that this controlled inclusion is not merely an oversight but a deliberate, albeit often subtle, political strategy to manage the integration of women into political spheres without fundamentally altering the existing power hierarchies (Bhusry, 2023). The recent Nari Shakti Vandan Adhiniyam, while legislating a one-third reservation for women in national and state legislatures, exemplifies this controlled inclusion, as its implementation remains contingent upon future delimitation, effectively delaying its immediate impact on substantive representation (K, 2025). This strategic deferral, coupled with historical trends where political parties often field women in less winnable seats or restrict their candidacies to reserved categories, highlights the pervasive influence of patriarchal norms on candidate selection and electoral outcomes (Khan, 2025; Kumar, 2025). Furthermore, the intersectionality of gender with caste and class introduces additional layers of complexity, where statutory reservations, while providing access, often fail to dismantle the deeply entrenched structural challenges faced by women from marginalized communities in navigating political institutions (Dhaske, 2016). These challenges frequently manifest as a lack of access to financial resources, limited political networking opportunities, and disproportionate exposure to political violence and harassment, further entrenching their marginalization within the political landscape. This paper contends that these subtle yet pervasive mechanisms, ranging from familial dynastic control to the chilling effect phenomena, ultimately restrict women's agency and perpetuate a performative rather than transformative political engagement, as evidenced by recurring patterns across various levels of

governance (Lawrence & Hensly, 2023; Varghese, 2020). Indeed, the disproportionate focus on male political actors and their privileges often undermines the civic and leadership roles of women, leading to their stigmatization as a group and raising questions about governmental legitimacy. This critical examination further investigates how these patriarchal strategies, including proxy leadership and resource inequalities, contribute to the phenomenon of "exclusion through inclusion," where formal representation does not translate into effective political empowerment (Prodip, 2021). The persistence of male-dominated attitudes and social norms within Indian society continues to impede women's prospects in political decentralization, even amidst constitutional amendments aimed at strengthening their leadership capabilities (Mathew, 2021; Priyanshi, 2024). This study delves into how these deep-seated patriarchal structures, despite legal frameworks like the 73rd and 74th Amendments, continue to limit women's substantive political participation, often reducing their roles to symbolic presence rather than empowered leadership (Kalaramadam, 2018). This pervasive marginalization underscores the broader societal perception of politics as a "masculine" domain, contributing to the limited political agency and leadership capacity of women (Biswas, 2019). This perspective is further reinforced by the prevalence of various forms of political violence, including mental and psychological abuse, which disproportionately affect women and deter their sustained engagement in higher levels of power politics. Therefore, understanding the multifaceted challenges that women face, from financial barriers to social customs and stereotypical attitudes, is crucial for assessing the true extent of their political leadership and participation in India (Banerjee, 2017; Varghese, 2020). This comprehensive analysis aims to dissect these intricate dynamics, illustrating how ostensibly progressive policies are often subverted by entrenched patriarchal norms, thereby maintaining a status quo that privileges male dominance despite superficial gains in female representation.

Problem Statement

This study aims to investigate the mechanisms through which patriarchal structures in India transform formal gender inclusion into controlled participation, thereby limiting substantive representation and impeding democratic resilience. Specifically, it examines how strategies such as symbolic quota systems, proxy candidacies, and strategic co-optation are employed to absorb numerical gains in women's political presence without fundamentally altering the existing power hierarchies. It further analyzes the impact of these mechanisms on the effectiveness of democratic institutions and the overall health of India's democratic resilience. This research will also explore how the underrepresentation of women's voices in political institutions leads to persistent disparities in policy accessibility and societal impact, despite legislative efforts to promote gender equality. Thus, this paper seeks to provide a nuanced understanding of how systemic barriers and socio-cultural norms interact to perpetuate women's underrepresentation, despite formal mechanisms designed to enhance their political participation. It will also identify potential avenues for fostering genuine empowerment and dismantling the deep-rooted patriarchal mechanisms that impede equitable political engagement. This will involve a comprehensive analysis of the interplay between social, economic, political, and cultural factors that contribute to gender disparities, utilizing key patriarchal theories to contextualize these manifestations in contemporary India. By examining these multifaceted influences, this study seeks to elucidate the pathways through which superficial inclusion often reinforces, rather than challenges, male dominance in political spheres. It further

posits that this controlled inclusion manifests as a form of symbolic representation that ultimately fails to translate into substantive policy changes or genuine empowerment for women. This research will delve into the critical underrepresentation of women in political leadership, despite their historical involvement in various political movements and their significant electoral participation, examining how societal structures and cultural norms often curtail their political agency.

Theoretical Framework

This framework will integrate feminist institutionalism and critical patriarchy theories to scrutinize how formal institutional designs interact with informal norms and practices to produce gendered political outcomes. Specifically, it will analyze how prevailing patriarchal mechanisms, often subtle and pervasive, contribute to the controlled inclusion of women in political spheres, thus limiting their substantive representation and reinforcing existing power structures. This theoretical lens allows for an examination of how legislative quotas, while seemingly progressive, can become mechanisms for "tokenism" rather than genuine empowerment, particularly in a socio-cultural context where traditional gender roles remain deeply entrenched (Jabali et al., 2025; Varghese, 2020). This approach highlights how the persistence of economic underdevelopment and unequal gender norms can undermine the transformative potential of gender quotas, even as women enter political office in unprecedented numbers. Furthermore, it emphasizes the importance of moving beyond mere descriptive representation to achieve substantive representation, where women actively shape policy and governance in ways that address gender-specific issues and promote broader societal equity (Mohapatra et al., 2023). This also involves an examination of how cultural and societal expectations, such as strict gender norms and an emphasis on meritocracy, can lead to the stigmatization of women elected via quotas, whose qualifications may be seen as suspect (Joshi, 2022). Moreover, this framework acknowledges that the effectiveness of gender quotas is not automatic and relies heavily on specific institutional and societal conditions, such as the presence of robust women's civil society organizations (Mechkova & Carlitz, 2019).

Descriptive and Substantive Representation

Drawing on Hanna Pitkin's foundational work, this study differentiates between descriptive representation, which concerns the numerical presence of women in legislative bodies, and substantive representation, which focuses on the extent to which women's interests and perspectives are genuinely advanced through policy and political action (Wang, 2020). While descriptive representation is a necessary precursor, this paper argues that in the Indian context, it has often been decoupled from substantive representation due to the pervasive influence of gendered institutions and informal patriarchal practices (Gendered Institutions and Women's Political Representation in Africa, 2021). This decoupling is often exacerbated by the phenomenon of "proxy candidacies" or "Sarpanch Pati" (husband of the elected female village head), where women are nominally elected but their male relatives wield actual political power, thereby preventing genuine advocacy for women's concerns (Kalaramadam, 2012). Such controlled inclusion ensures that while women may be visibly present, their political agency and capacity for substantive policy influence are severely circumscribed, perpetuating gender-unequal outcomes beyond politics to areas like health,

education, and economic participation (Anukriti et al., 2023). Indeed, the critical mass theory posits that a substantial presence of women in governance is crucial not only for descriptive representation but also for driving substantive policy changes that benefit the female population (Raghunandan, 2017). However, research indicates that merely increasing the legislative presence of women does not automatically translate into the successful passage of policies addressing women's interests, particularly when women representatives prioritize party affiliations over gender-specific concerns (Hickey et al., 2014; Wang, 2020). This suggests that while gender quotas can catalyze change by enabling policy alignment with women's preferences, their efficacy is highly contingent on the specific political stratum and prevailing gender inequality (Mori, 2024). This underscores the necessity of examining the contextual factors institutional design, cultural norms, and societal expectations that mediate the relationship between descriptive and substantive representation (Khan, 2025; Mechkova & Wilson, 2020). This nuanced understanding highlights that while increased female representation can foster women's political participation by encouraging grassroots activism, the underlying mechanisms determining policy impact remain complex and context-dependent (Beaman et al., 2011; Goyal, 2023). For instance, the effectiveness of women's representation in reducing political inequalities and improving participation varies significantly across different regions, often influenced by the ability of elected women to transform their performance into tangible outcomes.

Feminist Institutionalism

This framework investigates how institutions, though seemingly gender-neutral, are deeply imbued with gendered power dynamics that systematically disadvantage women, often through both formal rules and informal practices. Feminist institutionalism, therefore, moves beyond simply observing women's numerical presence to critically analyze how deeply embedded norms and patriarchal structures within political institutions shape their agency and influence policy outcomes (Chauvel & Hartung, 2016). It examines how seemingly neutral rules often perpetuate gender biases, reflecting and reinforcing existing societal inequalities (ElMorally, 2024). This theoretical approach is critical for understanding why the mere presence of gender quotas, despite increasing descriptive representation, often fails to dismantle systemic barriers to substantive equality, particularly in contexts with deeply ingrained patriarchal norms and practices (ElMorally, 2024). It further illuminates how historical legacies and gender biases continue to shape institutional functioning, thereby hindering women's political participation and representation (Gilas, 2024). Moreover, this perspective underscores that even in the presence of gender quotas, informal practices and resistance from established political actors can undermine the transformative potential of increased female representation, leading to situations where women's individual preferences may be constrained by broader institutional norms (Celis et al., 2008; Gilas, 2024). This approach thus offers a more comprehensive lens for evaluating the true impact of women's increased political participation by considering the interplay between formal institutions, informal practices, and deeply entrenched gendered power dynamics (Franceschet, 2011; Gilas, 2024). This framework provides a critical lens for assessing the effectiveness of institutional reforms, such as gender quotas, and for developing gender-sensitive policies, while also considering the intersectionality of identities and systems of oppression to holistically address gender inequalities.

Methodology

The quantitative analysis will systematically assess trends in women's electoral success, legislative participation, and policy initiatives across Gram Panchayats, state assemblies, and the national parliament. This involves statistical analysis of voting patterns, policy enactment rates, and the demographic characteristics of elected women, providing a broad empirical overview of gender representation (Gammage et al., 2015). Concurrently, qualitative research will delve into the lived experiences of women representatives, exploring the informal barriers, patriarchal mechanisms, and specific challenges they encounter in their political careers, drawing data from local election results and participation in Panchayat meetings (Mohapatra et al., 2023). This qualitative data will be collected through semi-structured interviews and focus group discussions with key stakeholders including elected women representatives, government officials, and community members, aiming to uncover the nuanced socio-cultural and institutional challenges (Bhorse, 2024). By integrating these quantitative and qualitative insights, the study aims to triangulate findings, providing a robust and multi-faceted understanding of the complex interplay between gender representation and the politics of gender in India's democratic landscape (Varghese, 2020). This comprehensive approach will reveal how formal advancements in gender representation often confront ingrained patriarchal structures, manifesting as controlled inclusion rather than genuine empowerment (Raghunandan, 2017). The methodology will also incorporate a feminist and intersectional framework to analyze the complex interplay of gender, sexuality, class, and caste as depicted in political discourse and policy outcomes, ensuring a nuanced understanding of multilayered oppression (Ranga & Prasad, 2025). This rigorous methodology will allow for an exploration of how different political contexts and levels of governance shape the experiences and impacts of women in leadership positions.

Data Sources

Secondary data from this study will be collected through in-depth, semi-structured interviews with women parliamentarians from India's two largest national political parties: the Bharatiya Janata Party and the Indian National Congress (Bhusry, 2023). These interviews will focus on their experiences with policy-making, legislative debates, and the challenges they face in navigating the male-dominated political landscape. Additionally, qualitative data from interviews and focus group discussions will be thematically analyzed to identify recurring patterns and insights into women's political participation (Bhorse, 2024). This approach will provide a rich understanding of the barriers and opportunities for women in Indian politics. Secondary data will be gathered from a thorough review of existing literature, including scholarly articles, government reports, news archives, and parliamentary records, to contextualize and corroborate the primary findings (Bharadwaj & Pradeep, 2024; Raghunandan, 2017). This will include an analysis of historical trends in women's political representation and the impact of various legislative reforms, such as the 73rd and 74th Amendments, on women's participation at the local governance level, particularly focusing on the emergence of women leaders in rural areas (Raghuwanshi, 2024). Furthermore, election data from State Election Commissions will be analyzed to assess the effectiveness of gender-based representation in fostering political inclusion and reducing gender-based political inequalities at local levels (Mohapatra et al., 2023). This multi-faceted data collection strategy, integrating both primary and secondary sources, is designed to provide a comprehensive and nuanced understanding

of the complexities surrounding women's political participation and representation in India (Adhikari, 2022; Bhusry, 2023). The methodological rigor will thus enable a nuanced examination of how formal quotas interact with informal patriarchal practices, ultimately shaping the substantive representation of women in Indian politics.

Analytical Strategy

The analytical strategy will primarily involve a comparative framework to assess the variations in political engagement and empowerment across different levels of governance, from local Panchayats to state assemblies and the national parliament. This multi-level analysis will allow for the identification of systemic barriers and enabling factors influencing women's political careers, along with an evaluation of the impact of gender quotas on upward political mobility (Karekurve-Ramachandra, 2024). Specifically, the study will investigate how local political representation can serve as a pathway to power for women, examining whether increased presence in local politics improves party elite responsiveness and expands women's capacity to organize grassroots activist networks to influence party nomination decisions (Goyal, 2024). This will involve examining how women in local government leverage their positions to build a voter base, develop social capital, and contest elections with limited financial resources, thereby understanding their progression within the political hierarchy (Khan, 2025). It will also examine the influence of media representation on public perception and how this affects women's political participation, especially among young women. Furthermore, the analysis will consider the efficacy of gender mainstreaming and gender budgeting in policy-making, evaluating their impact on addressing specific needs and challenges faced by women in politics.

Mechanisms of Controlled Inclusion

This section explores the various strategies and informal practices through which patriarchal structures in India maintain dominance despite formal advancements in gender representation. It delves into how mechanisms such as proxy candidacies, familial political succession, and strategic co-optation dilute the substantive impact of increased numerical representation, particularly within local governance structures (Jensenius, 2016; Mohapatra et al., 2023). These mechanisms often undermine the intended empowerment of women, transforming their political presence into a performative rather than truly influential role within the democratic process (Hickey et al., 2014). This controlled inclusion often limits women's political influence to local issues, preventing them from shaping larger policies and legislation, while simultaneously impacting their life-course trajectories, especially for those who become politically active after motherhood (Jakimow & Pragati, 2021). The study will also analyze whether legislated gender quotas at the local level effectively generate a supply of capable female leaders for higher offices or if their impact is largely contained within the local governance sphere (Karekurve-Ramachandra, 2024; Mohapatra et al., 2023; O'Connell, 2018). Such an investigation aims to discern the spillover effects of local quotas on state and national politics, thereby assessing the long-term efficacy of affirmative action policies in fostering genuine political inclusion (O'Connell, 2018). This analysis will consider whether quotas primarily lead to descriptive representation or if they genuinely foster substantive changes in policy outcomes and political culture, particularly regarding women's issues. It will also investigate

how political parties strategize to meet quota requirements while maintaining patriarchal norms, often through the selection of less experienced or politically connected women. This strategic selection often results in women who are less likely to challenge existing power structures or advocate for substantive policy changes beyond superficial issues.

Proxy Leadership and the "Sarpanch Pati" Phenomenon

This phenomenon, where the male relative of an elected female representative unofficially wields power, significantly undermines the autonomy and decision-making capacity of women in local governance, effectively reducing their role to a symbolic placeholder (Mohapatra et al., 2023). This practice raises critical questions about the actual efficacy of gender quotas in promoting genuine women's empowerment and leadership within the Panchayati Raj Institutions. Such structural inequalities between genders in the political arena, characterized by reduced organizational and decision-making influence, underscore how power dynamics perpetuate female oppression and patriarchy (Varghese, 2020). This informal power dynamic often extends beyond the domestic sphere, influencing resource allocation, policy implementation, and even electoral processes at the local level (Bhorse, 2024; Khan, 2025). The persistent prevalence of the "Sarpanch Pati" phenomenon thus highlights a critical disjunction between the de jure recognition of women's political rights and the de facto realities of patriarchal control that restrict their substantive political agency. The phenomenon often manifests as a deliberate strategy by male political actors to retain influence within the quota system, effectively bypassing the intent of women's reservation policies (Khan, 2025). This not only perpetuates traditional gender roles but also limits the scope for women to independently initiate and implement policies that genuinely address women's interests and developmental priorities (Ahmad & Bano, 2019). This circumvention of true representation thereby calls into question the transformative potential of quotas when confronted by deeply entrenched societal norms and political practices that prioritize male dominance. This leads to a situation where parties may strategically field less experienced women, including the wives of male party members, to fulfill reservation requirements, further entrenching the influence of male power brokers (Jakimow & Pragati, 2021; Parray & Hussain, 2023).

Familial and Dynastic Co-optation

This practice is often observed at higher levels of government as well, where women from politically influential families are more likely to secure party tickets, thereby perpetuating dynastic politics rather than fostering merit-based entry for women (Shirpurkar, 2020). This approach not only restricts the opportunities for women without familial ties to political elites but also entrenches existing power structures, limiting the diversity of voices and perspectives in governance. Moreover, this dynastic co-optation can undermine the democratic process by prioritizing lineage over qualification and public service, creating a political elite that is unrepresentative of the broader female population (Shirin, 2007). This phenomenon often ensures that women's political participation remains within prescribed patriarchal boundaries, particularly evident in studies where women sarpanch's still rely heavily on male family members for political liaising and decision-making, despite their elected status (Srishti & Boran, 2025). This reliance highlights how party elites and established political families act as gatekeepers, frequently relegating women to

subordinate roles or selecting candidates who are unlikely to challenge the prevailing power structures (Joshi, 2022). This suggests that such practices, while appearing to increase female representation, ultimately reinforce existing patriarchal systems by controlling the avenues through which women can access and exercise political power (Kgobe & Ramoroka, 2024). Such a system can lead to token representation, where women elected through reservations may not possess genuine decision-making power or be accorded due seriousness by their male counterparts. This phenomenon is further exacerbated by instances where women candidates' campaigns do not feature their own images, instead using those of their male relatives, signaling a continued reliance on male patronage (Navaneeth, 2020). This underscores a broader issue where political parties, despite advocating for women's reservation, often fail to actively promote women's candidacies in unreserved seats, thus limiting their substantive political advancement (Khan, 2025; Ramaswamy, 2005).

Resource Inequality and the Chilling Effect

This disparity in resource access, coupled with the "chilling effect" a phenomenon where female politicians face disproportionate scrutiny, harassment, and violence, leading to self-censorship or withdrawal from political life, further exacerbates the challenges women encounter in navigating the political landscape. This lack of financial and logistical support from political parties, alongside the threat of physical and verbal abuse, deters many qualified women from seeking or retaining political office, ultimately hindering substantive gender representation. Furthermore, women candidates often face unequal access to campaign funds and support from patriarchal party structures, which significantly impedes their electoral success (Manandhar, 2021; Prodip, 2021). Moreover, this systemic disadvantage often forces women to rely on male relatives for financial backing, further reinforcing the patriarchal control over their political careers. The reluctance of party gatekeepers to place women in top positions on ballot lists and their aversion to quotas, especially within radical right parties, further limits women's electoral fortunes, particularly for those perceived as beneficiaries of such reservations (Khan, 2025). This marginalization is often reinforced by the media, which frequently portrays women in politics negatively, perpetuating stereotypes and undermining their credibility, as seen in instances where female politicians are scrutinized for their appearance rather than their policy stances.

Quantitative Snapshot: India (Late 2025)

Despite constitutional mandates and legislative advancements aimed at increasing women's political participation, India's performance in women's representation at national and state levels remains significantly below global averages. Specifically, the proportion of women in the Lok Sabha consistently hovers around 14%, a figure dwarfed by the global average of 27.2%, reflecting a persistent gap between legislative intent and actual parliamentary composition (Kumar, 2025). This underrepresentation is particularly striking given India's large female electorate, suggesting that while women actively participate as voters, their conversion into elected representatives is severely hampered. This disparity is not merely a quantitative shortfall but also indicative of deeper systemic and structural barriers, including economic constraints and a lack of internal democracy within political parties, that impede women's ascension to higher political offices (Bhusry, 2023; Neha et

al., 2025). Sociocultural norms, including gender stereotypes that devalue women's leadership capabilities, also contribute significantly to this underrepresentation. These ingrained societal attitudes often lead to a lack of support for female candidates, as constituents may perceive them as less capable or legitimate leaders than their male counterparts.

Multi-Level Empirical Comparison

This study will employ a multi-level empirical analysis to compare women's political representation across Gram Panchayats, state assemblies, and the national parliament, identifying persistent gendered barriers. Specifically, it will investigate how the implementation of gender quotas at the local level, such as those mandated by the 73rd and 74th Amendments, contrasts with the challenges faced in achieving similar representation in higher legislative bodies. This comparative approach will illuminate the nuanced mechanisms through which patriarchal structures adapt to and circumvent formal institutional changes, highlighting the resilience of gendered power dynamics.

West Bengal: Party-Led Inclusion

In West Bengal, the Communist Party of India (CPI(M)) strategically utilized women's wings and self-help groups to mobilize women, effectively leveraging these grassroots organizations to foster greater female political participation and representation within the state. This top-down approach, while increasing descriptive representation, often resulted in women being co-opted into existing party structures rather than genuinely reshaping political discourse or policy priorities (Goyal, 2023). Conversely, in states like Uttar Pradesh, despite local leadership quotas, the gender gap in political participation remains significant, suggesting that quota implementation alone does not guarantee substantive gender equality without complementary socio-political shifts (Iyer & Mani, 2019). Indeed, this highlights that systemic and sociocultural factors, including prevailing gender stereotypes and the disproportionate burden of family responsibilities on women, continue to impede women's full engagement in the political arena, even with formal reservations (Li, 2024). Furthermore, the persistent challenges faced by women in accessing political party tickets, especially for leadership positions, underscore the need for internal party reforms to facilitate genuine inclusion. This suggests that the efficacy of quotas in promoting substantive representation is contingent upon broader reforms addressing institutional biases and deeply entrenched patriarchal norms within political organizations (Mohapatra et al., 2023). This study aims to dissect these intricate dynamics, moving beyond simple numerical assessments to explore the quality and impact of women's political engagement across different tiers of governance. It will further examine how factors such as socioeconomic status, education, and caste intersect with gender to shape political opportunities and outcomes for women, providing a more granular understanding of the multifaceted barriers to their empowerment. By analyzing these disparities, the research seeks to uncover whether increased numerical representation translates into substantive political influence and policy changes that benefit women, or if it merely constitutes a form of "controlled inclusion".

Uttar Pradesh: Strongman Politics

The case of Uttar Pradesh, characterized by "strongman" politics, exemplifies how deep-seated patriarchal structures and clientelistic networks can undermine formal gender quotas, leading to

proxy representation and a lack of authentic female political agency, particularly evident in the persistence of large gender gaps in both electoral and non-electoral participation. For instance, women in Uttar Pradesh exhibit a 31% point lower likelihood of attempting to meet village leaders and a 27% point lower attendance at village council meetings compared to men, despite nominal electoral participation rates being comparable (Iyer & Mani, 2019). This discrepancy highlights a critical disjunction between formal political engagement and active civic participation, often perpetuated by a culture of political violence, intimidation, and the weaponization of identity politics, which collectively deter women from asserting their political voice and leadership. This environment fosters a situation where women, even when elected, frequently operate as proxies for male relatives, further reinforcing the patriarchal control over political decision-making (Lawrence & Hensly, 2023). This dynamic not only perpetuates traditional gender roles within the political sphere but also effectively neutralizes the transformative potential of women's representation. Such controlled inclusion limits women's ability to advocate for policies addressing women's interests, thereby hindering substantive representation and democratic resilience (Afridi et al., 2013; Mori et al., 2023). Therefore, understanding the underlying determinants of these gender gaps is crucial for developing effective interventions that move beyond mere descriptive representation to foster genuine political empowerment for women. This study will thus meticulously analyze the mechanisms through which these patriarchal structures manifest, examining whether the mere presence of women in political roles translates into actual policy influence or remains largely symbolic.

Implications for Democratic Resilience

This examination will also explore how the quality of female representation, influenced by factors such as political experience and grassroots activism, impacts policy outcomes and democratic accountability (Anukriti et al., 2023; Goyal, 2023). Moreover, it will critically assess whether women's increased participation in local self-governance structures translates into a reduction in corruption and an improvement in public service delivery, considering that female leaders often exhibit greater commitment to ethical conduct (Afridi et al., 2013). Furthermore, the study will investigate the efficacy of various training programs and capacity-building initiatives aimed at empowering elected women representatives, particularly in navigating complex political landscapes and challenging entrenched patriarchal norms (Ahmad & Bano, 2019). This includes an analysis of how female political participation can disrupt existing power dynamics and contribute to more inclusive governance by addressing socio-cultural barriers and amplifying grassroots voices. Such comparative analysis will illuminate the transferable lessons and persistent challenges in fostering authentic female political empowerment within varying geopolitical contexts, providing a nuanced understanding of how formal quotas interact with informal patriarchal mechanisms (Ali et al., 2021; Jabali et al., 2025). This detailed investigation will also explore the potential for coalition building among women representatives and civil society organizations to advance gender-equitable policies, given that collaborative efforts can amplify their impact in often resistant political environments.

Discussion: The Adaptive Nature of Contemporary Patriarchy

This section will explore how patriarchal systems in India have evolved to maintain male dominance despite formal advancements in women's political representation (Ahmad & Bano,

2019; Mechkova & Wilson, 2020). This adaptation frequently involves strategies such as co-opting female leaders, limiting their substantive power, and leveraging traditional gender roles to maintain male-centric political control. These mechanisms underscore the need to move beyond numerical representation and address the deeper structural and cultural impediments that limit women's authentic political agency, emphasizing the importance of institutional support and capacity building for women in leadership positions (Afridi et al., 2017). It will further investigate whether initiatives aimed at women's empowerment, including governmental programs and legislative measures, effectively counter these adaptive patriarchal strategies or merely serve as symbolic gestures. The paper will contextualize the manifestation of patriarchy in modern India by applying key patriarchal theories, such as Sylvia Walby's Theory of Patriarchy and Pierre Bourdieu's Theory of Masculine Domination (Simon & Hasan, 2025). This theoretical framework will enable a robust analysis of how these enduring power structures influence women's political participation and leadership, particularly in light of contemporary efforts to increase their representation. Furthermore, this section will analyze how public perceptions of gender roles, particularly within the family and society, influence the acceptance and effectiveness of women in political leadership, often creating a complex interplay between traditional views and evolving societal norms. These dynamics highlight the need for comprehensive interventions that address both institutional and socio-cultural barriers to dismantle systemic patriarchal mechanisms (Bhatnagar, 2024; Fernandez, 2023).

Conclusion and Reform Roadmap

Building on these insights, this section will outline a comprehensive reform roadmap aimed at fostering genuine gender equality and democratic resilience in India, proposing multi-faceted strategies that extend beyond mere quotas to address deeply entrenched patriarchal norms and structural inequalities. This roadmap will emphasize the importance of political education for women, challenging existing power structures, and fostering a supportive environment that enables their full and equal participation in all spheres of political life. It will also advocate for legislative quotas for women candidates and incentives for political parties to elevate women leaders, alongside gender sensitivity training programs to transform the political landscape. Additionally, it will recommend stringent anti-corruption measures and transparent electoral processes to ensure that increased female representation translates into more equitable resource allocation and improved governance outcomes. Finally, this section will discuss the critical role of civil society organizations and grassroots movements in advocating for women's political rights and holding elected officials accountable, thereby strengthening democratic institutions from the ground up. Ultimately, the objective is to move beyond tokenistic inclusion towards substantive political empowerment for women, enabling them to shape policy and governance in ways that genuinely reflect the diverse needs of society. The ongoing legislative journey of the Nari Shakti Vandan Adhiniyam, with its provision for one-third reservation in national and state legislatures, exemplifies the political complexities and societal obstacles that have historically delayed meaningful progress in women's political representation. This Act, however, is contingent upon a delimitation exercise, which introduces further delays and uncertainties regarding its actual implementation, thus extending the wait for increased female participation at higher legislative levels. This underscores a recurrent pattern where legislative intent for gender equality encounters practical and political impediments,

thereby perpetuating a controlled inclusion that maintains substantive patriarchal dominance. This situation mirrors broader challenges where formal policy advancements, such as reservation quotas, often encounter deeply entrenched cultural and structural barriers, limiting their substantive impact on women's political agency. The historical trajectory of women's political engagement in India, despite notable figures like Indira Gandhi and Pratibha Patil, reveals a persistent struggle against these systemic barriers. This enduring struggle highlights that while descriptive representation is a crucial first step, it alone is insufficient to achieve substantive representation without broader societal and political reforms. The efficacy of quota systems, while increasing female electoral participation, remains debated regarding their ability to genuinely empower women and improve democratic outcomes, with some scholars arguing they may lead to "second-class" politicians or reinforce party leadership control. The critical mass theory posits that a certain threshold of female representation is necessary to significantly influence policy-making, yet studies indicate that simply increasing women's presence through quotas does not automatically translate into effective political participation or substantive policy changes due to socio-political embeddedness. This necessitates a comprehensive re-evaluation of policy frameworks, moving beyond mere numerical targets to address the qualitative aspects of women's political empowerment, ensuring that increased representation translates into genuine influence and leadership within political institutions. The long-debated Women's Reservation Bill, seeking to legislate for gender quotas to reserve a third of seats in the national parliament and state assemblies, exemplifies the challenges in fast-tracking increases in women's descriptive representation. This bill, despite its potential to significantly alter the landscape of Indian politics, has faced numerous setbacks and delays, reflecting the deeply entrenched patriarchal structures that resist substantive changes to the existing power dynamics. While quotas can increase descriptive representation, their effectiveness in fostering substantive representation and empowering women remains a subject of academic debate, particularly concerning their ability to translate into higher-level political influence. Indeed, critics often contend that while quotas may provide opportunities, they do not inherently dismantle the systemic barriers, such as familial dynastic control or resource inequalities in ticket distribution, that continue to impede women's independent political ascent and their ability to challenge established power structures. The nuanced effectiveness of reservation policies in empowering women politically remains a complex topic, with some scholars suggesting they might inadvertently contribute to tokenism or limit women to local issues rather than enabling them to influence broader policy at state or national levels.

References

Adhikari, A. (2022). Substantive Representation of Women Parliamentarians and Gender Equality in Nepal. In *Routledge eBooks* (p. 206). Informa. https://doi.org/10.4324/9781003275961-13

Afridi, F., Iversen, V., & Sharan, M. R. (2013a). Women Political Leaders, Corruption and Learning: Evidence from a Large Public Program in India. *SSRN Electronic Journal*. https://doi.org/10.2139/ssrn.2223119

Afridi, F., Iversen, V., & Sharan, M. R. (2013b). Women Political Leaders, Corruption and Learning: Evidence from a Large Public Program in India. *RePEc: Research Papers in Economics*. https://econpapers.repec.org/RePEc:iza:izadps:dp7212

Afridi, F., Iversen, V., & Sharan, M. R. (2017). Women Political Leaders, Corruption, and Learning: Evidence from a Large Public Program in India. *Economic Development and Cultural Change*, *66*(1), 1. https://doi.org/10.1086/693679

Ahmad, N., & Bano, A. (2019). Women's Political Empowerment through Local Government in the Patriarchal Society of Pakistan. *Liberal Arts and Social Sciences International Journal (LASSIJ)*, *3*(1), 1. https://doi.org/10.47264/idea.lassij/3.1.1

Ali, H., Bibi, Z., & Sardar, R. (2021). Women's Political Participation In Khyber Pakhtunkhwa Local Governance 2015: Challenges And Opportunities. *Pakistan Journal of Gender Studies*, *21*(2), 53. https://doi.org/10.46568/pjgs.v21i2.558

Anukriti, S., Calvi, R., & Chakravarty, A. (2023). Can Effective Policy Implementation Alter Political Selection? Evidence from Female Legislators in India. *SSRN Electronic Journal*. https://doi.org/10.2139/ssrn.4651060

Banerjee, R. (2017). Does Time Matter? – A Study of Participation of Women in Urban Governance. *Space and Culture India*, *4*(3), 62. https://doi.org/10.20896/saci.v4i3.232

Beaman, L., Duflo, E., Pande, R., & Topalova, P. (2011). Political Reservation and Substantive Representation: Evidence from Indian Village Councils. *RePEc: Research Papers in Economics*, *7*(1), 159. http://www.ncaer.org/publication_details.php?pID=108

Bharadwaj, N., & Pradeep, M. D. (2024). Review of Literature and Research Plan on the Emancipation of Political Rights for Women within the Modern Democratic Regime in India. *International Journal of Management Technology and Social Sciences*, 192. https://doi.org/10.47992/ijmts.2581.6012.0339

Bhatnagar, S. (2024). Patriarchy and the Indian Society. *SSRN Electronic Journal*. https://doi.org/10.2139/ssrn.4806415

Bhorse, D. (2024). Impact of Women\'s Participation in Local Governance on Socio-Economic Development: A Case Study of Panchayati Raj Institutions in Maharashtra. *International Journal for Research in Applied Science and Engineering Technology*, *12*(4), 1085. https://doi.org/10.22214/ijraset.2024.59997

Bhusry, V. (2023). Women Parliamentarians in India since 1991: Challenges and Opportunities. *Hatfield Graduate Journal of Public Affairs*, *7*(1). https://doi.org/10.15760/hgjpa.2023.7.1.4

Biswas, D. (2019). Women Empowerment through Panchayati Raj Institutions: An Empirical Study. *Journal of Emerging Technologies and Innovative Research*. https://www.jetir.org/view?paper=JETIR1901C64

Celis, K., Childs, S., Kantola, J., & Krook, M. L. (2008). RETHINKING WOMEN'S SUBSTANTIVE REPRESENTATION. *Representation*, *44*(2), 99. https://doi.org/10.1080/00344890802079573

Chauvel, L., & Hartung, A. (2016). Malaise in the Western Middle Classes. *SSRN Electronic Journal*. https://doi.org/10.2139/ssrn.3035220

Dhaske, G. (2016). *The Complexity of Heuristic Structure of Gender Intersectionality and Statutory Political Participation for Women in India: Exploring Structural Challenges*. *6*(1), 37. https://doi.org/10.48336/ijdkxl6402

ElMorally, R. (2024). Beyond Gender Quotas: Unveiling Intersectional Pathways to Political Equity in Egypt. *Open Journal of Political Science*, *14*(2), 234. https://doi.org/10.4236/ojps.2024.142015

Fernandez, L. (2023). Unveiling Gender Dynamics: An In-depth Analysis of Gender Realities. *INFLUENCE International Journal of Science Review*, *5*(3), 61. https://doi.org/10.54783/influencejournal.v5i3.182

Franceschet, S. (2011). Gendered Institutions and Women's Substantive Representation: Female Legislators in Argentina and Chile. In *Palgrave Macmillan UK eBooks* (p. 58). Palgrave Macmillan. https://doi.org/10.1057/9780230303911_4

Gammage, S., Kabeer, N., & Rodgers, Y. van der M. (2015). Voice and Agency: Where Are We Now? *Feminist Economics*, *22*(1), 1. https://doi.org/10.1080/13545701.2015.1101308

Gendered Institutions and Women's Political Representation in Africa. (2021). https://doi.org/10.5040/9780755637829

Gilas, K. (2024). Género, instituciones y poder: nuevas tendencias teóricas para el estudio del poder generizado en América Latina. *Revista Mexicana de Ciencias Políticas y Sociales*, *69*(251). https://doi.org/10.22201/fcpys.2448492xe.2024.251.87987

Goyal, T. (2023). Representation from Below: How Women's Grassroots Party Activism Promotes Equal Political Participation. *American Political Science Review*, *118*(3), 1415. https://doi.org/10.1017/s0003055423000953

Goyal, T. (2024). Local political representation as a pathway to power: A natural experiment in India. *American Journal of Political Science*, *69*(2), 516. https://doi.org/10.1111/ajps.12840

Hickey, S., Sen, K., & Bukenya, B. (2014). The Politics of Inclusive Development. In *Oxford University Press eBooks*. Oxford University Press. https://doi.org/10.1093/acprof:oso/9780198722564.001.0001

Iyer, L., & Mani, A. (2019). The road not taken: Gender gaps along paths to political power. *World Development*, *119*, 68. https://doi.org/10.1016/j.worlddev.2019.03.004

Jabali, O., Jabali, S., & Jabali, S. (2025). Power, participation, and patriarchy: a mixed-methods study of Palestinian women in political and public life with insights on health. *BMC Public Health*, *25*(1). https://doi.org/10.1186/s12889-025-24958-5

Jakimow, T., & Pragati, P. (2021). Life-course and Cohort Impacts in Women's Pathways to Politics: Post-active Motherhood as a Time of Political Possibility in India. *The Journal of Development Studies*, *57*(11), 1795. https://doi.org/10.1080/00220388.2021.1919633

Jensenius, F. R. (2016). Competing Inequalities? On the Intersection of Gender and Ethnicity in Candidate Nominations in Indian Elections. *Government and Opposition*, *51*(3), 440. https://doi.org/10.1017/gov.2016.8

Joshi, D. K. (2022). Substantive Representation of Women by Parliamentarians in Asia. In *Routledge eBooks* (p. 1). Informa. https://doi.org/10.4324/9781003275961-1

K, P. (2025). NARI SHAKTI VANDAN ADHINIYAM: PROMISES, HURDLES, AND THE FUTURE OF WOMEN'S POLITICAL REPRESENTATION IN INDIA. *Zenodo (CERN European Organization for Nuclear Research)*. https://doi.org/10.5281/zenodo.17723585

Kalaramadam, S. (2012). Dis/empowering political subjects: The production of "failed" elected women representatives in India. *Women s Studies International Forum*, *35*(4), 276. https://doi.org/10.1016/j.wsif.2012.05.003

Kalaramadam, S. (2018). Presence into Participation and Representation. *Journal of South Asian Development*, *13*(1), 1. https://doi.org/10.1177/0973174118757630

Karekurve-Ramachandra, V. (2024). *Gender quotas and upward political mobility in India*. https://doi.org/10.31235/osf.io/4zqve

Kgobe, F., & Ramoroka, T. (2024). Understanding women's representation and participation in local government planning. *International Journal of Research in Business and Social Science (2147-4478)*, *13*(3), 354. https://doi.org/10.20525/ijrbs.v13i3.3256

Khan, M. S. (2025). Gender Quotas, Context, and Substantive Representation: a Literature Review [Review of *Gender Quotas, Context, and Substantive Representation: a Literature Review*]. *Desafíos*, *37*(2), 1. Universidad del Rosario, Bogota. https://doi.org/10.12804/revistas.urosario.edu.co/desafios/a.15452

Kumar, R. (2025). Breaking Barriers, Building Parity: Women's Political Representation in India's 2024 Elections and Beyond. *International Journal of Research and Scientific Innovation*, 1602. https://doi.org/10.51244/ijrsi.2025.120600135

Lawrence, P. G., & Hensly, C. (2023). Gender-Based Policies and the Role of Patriarchal Norms: Evidence from Northern India. *Feminist Economics*, *29*(2), 252. https://doi.org/10.1080/13545701.2023.2168025

Li, Y. (2024). Systemic and Sociocultural Factors Impeding Women's Political Participation and Leadership Development: A Sociological Inquiry. *SHS Web of Conferences*, *187*, 3016. https://doi.org/10.1051/shsconf/202418703016

Manandhar, S. (2021). Women Representation in Nepalese Local Election 2017: Issues and Challenges. *Journal of Political Science*, 34. https://doi.org/10.3126/jps.v21i1.39283

Mathew, D. A. (2021). Re-positing gender in the new nationalist paradigm. In *Routledge eBooks* (p. 59). Informa. https://doi.org/10.4324/9781003042211-7

Mechkova, V., & Carlitz, R. (2019). Gendered Accountability: When and Why Do Women's Policy Priorities Get Implemented? *SSRN Electronic Journal*. https://doi.org/10.2139/ssrn.3384559

Mechkova, V., & Wilson, S. L. (2020). Norms and rage: Gender and social media in the 2018 U.S. mid-term elections. *Electoral Studies*, *69*, 102268. https://doi.org/10.1016/j.electstud.2020.102268

Mohapatra, B. P., Desai, U. B., & Pawar, A. S. (2023). Does Gender Based Representation Matters in Fostering Political Inclusion of Women in Local Governments? A Case of India. *SocioEconomic Challenges*, *7*(3), 63. https://doi.org/10.61093/sec.7(3).63-75.2023

Mori, Y. (2024). Gender Quotas as Catalysts for Change: A Comprehensive Review of Gender Quotas in Politics [Review of *Gender Quotas as Catalysts for Change: A Comprehensive Review of Gender Quotas in Politics*]. *India Studies in Business and Economics*, 21. Springer Nature. https://doi.org/10.1007/978-981-97-3709-3_2

Mori, Y., Rajasekhar, D., Manjula, R., Kurosaki, T., & Goto, J. (2023). Do Women Council Members Allocate More Public Goods? Evidence from Rural India. *Economic Development and Cultural Change*, *73*(1), 451. https://doi.org/10.1086/727799

Navaneeth, M. S. (2020). Reservations for Women in Kerala's Local Self-government Institutions: A Mere Tokenism? *SSRN Electronic Journal*. https://doi.org/10.2139/ssrn.3758947

Neha, Padiyar, G. S., Gulshani, G., & Ansari, G. (2025). Women's political representation: Navigating barriers and shaping impacts. *International Journal of Political Science and Governance*, *7*(5), 9. https://doi.org/10.33545/26646021.2025.v7.i5a.518

O'Connell, S. D. (2018a). Can Quotas Increase the Supply of Candidates for Higher-Level Positions? Evidence from Local Government in India. *RePEc: Research Papers in Economics*. https://econpapers.repec.org/RePEc:iza:izadps:dp11286

O'Connell, S. D. (2018b). Can Quotas Increase the Supply of Candidates for Higher-Level Positions? Evidence from Local Government in India. *SSRN Electronic Journal*. https://doi.org/10.2139/ssrn.3111159

Parray, R. A., & Hussain, Md. I. (2023). Political reservation and its impact on women's political participation in India: A review [Review of *Political reservation and its impact on women's political participation in India: A review*]. *International Journal of Political Science and Governance*, *5*(1), 54. https://doi.org/10.33545/26646021.2023.v5.i1a.202

Priyanshi. (2024). Constitutional Amendment 106 Women Reservation - What can be Learned from 1/3rd PRI Reservation? *International Journal for Research in Applied Science and Engineering Technology*, *12*(4), 3161. https://doi.org/10.22214/ijraset.2024.60550

Prodip, M. A. (2021). Exclusion Through Inclusion: Institutional Constraints on Women's Political Empowerment in India and Bangladesh. *World Affairs*, *184*(2), 213. https://doi.org/10.1177/00438200211013017

Raghunandan, T. R. (2017). Re-energizing Democratic Decentralization in India. In *Oxford University Press eBooks*. Oxford University Press. https://doi.org/10.1093/oso/9780199474370.003.0012

Raghuwanshi, A. A. (2024). Empowering Women Leaders in Rural India - A Qualitative Study of Women Sarpanches' Experiences. *International Journal of Humanities and Social Science*, *11*(6), 62. https://doi.org/10.14445/23942703/ijhss-v11i6p106

Ramaswamy, S. (2005). India's Crisis of Governance: The Women's Perspective. *Policy and Society*, *24*(3), 122. https://doi.org/10.1016/s1449-4035(05)70063-1

Ranga, R., & Prasad, P. (2025). The Politics of Representing Gender and Sexuality in Arundhati Roy's Selected Books. *World Journal of English Language*, *16*(1), 305. https://doi.org/10.5430/wjel.v16n1p305

Shirin, M. (2007). Deliberative Democracy and the Politics of Redistribution: The Case of the IndianPanchayats. *Hypatia*, *22*(4), 64. https://doi.org/10.2979/hyp.2007.22.4.64

Shirpurkar, Sanjeev. C. (2020). WOMEN REPRESENTATION AND RURAL DEVELOPMENT THROUGH PANCHAYATI RAJ SYSTEM IN INDIA- EMERGING TRENDS AND CHALLENGES. *EPRA International Journal of Multidisciplinary Research (IJMR)*, 284. https://doi.org/10.36713/epra5490

Simon, R., & Hasan, S. (2025). Patriarchy and Gender Inequality: A Comprehensive Analysis of Women's Empowerment in Contemporary India. *Gender Issues*, *42*(1). https://doi.org/10.1007/s12147-025-09351-1

Srishti, & Boran, R. (2025). A study on the socio-political empowerment of women Sarpanch in Sikar District, Rajasthan. *International Journal of Political Science and Governance*, *7*(8), 175. https://doi.org/10.33545/26646021.2025.v7.i8c.636

Varghese, T. (2020). Women's Political Participation and Leadership in India: Examining the Challenges. *Public Policy And Administration*, *19*(1), 111. https://doi.org/10.5755/j01.ppaa.19.1.25228

Wang, S. (2020). Essays on the Gendered Origins and Implications of Social Policies in the Developing World. *Research Portal Denmark*, 226. https://local.forskningsportal.dk/local/dki-cgi/ws/cris-link?src=cbs&id=cbs-84f1e1c0-add4-4426-9b9a-9cb55d1a618a&ti=Essays%20on%20the%20Gendered%20Origins%20and%20Implications%20of%20Social%20Policies%20in%20the%20Developing%20World

Received: 14.01.2026 | Accepted: 22.01.2026 | Published: 30.01.2026

दलित साहित्य में स्त्री का बदलता स्वरूप

प्रेमकला यादव*
premkalayadav403@gmail.com

सारांश

प्रस्तुत शोध-पत्र ''दलित साहित्य में स्त्री का बदलता स्वरूप'' दलित साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि, उसके दार्शनिक आधार तथा उसमें दलित स्त्री की स्थिति, संघर्ष और रूपांतरण का सम्यक् विश्लेषण करता है। अध्ययन का प्रारंभ 'दलित' शब्द की व्युत्पत्ति, ऐतिहासिक संदर्भ और वैचारिक विकास से होता है तथा यह प्रतिपादित करता है कि दलित साहित्य मूलतः सामाजिक विषमता, वर्ण-व्यवस्था और पितृसत्तात्मक संरचना के विरुद्ध एक प्रतिरोधात्मक विमर्श है। शोध में यह स्पष्ट किया गया है कि दलित स्त्री दोहरे शोषण—जातिगत और लैंगिक—की शिकार रही है। एक ओर वह सवर्ण सामाजिक संरचना द्वारा उत्पीड़ित है, तो दूसरी ओर अपने ही वर्ग की पितृसत्तात्मक मानसिकता से ग्रस्त है। हिंदी दलित साहित्य में प्रारंभिक चरण में स्त्री का चित्रण प्रायः पीड़िता, लाचार और सहनशील रूप में मिलता है; किंतु उत्तरकालीन लेखन में वह संघर्षशील, आत्मसम्मान-सम्पन्न और अधिकार-सचेत रूप में उभरती है। आत्मकथाओं, कहानियों और उपन्यासों में दलित स्त्री का स्वर 'मैं' से 'हम' की सामूहिक चेतना तक विकसित हुआ है।

संवैधानिक प्रावधानों—समानता, आरक्षण, शिक्षा एवं राजनीतिक प्रतिनिधित्व—के बावजूद सामाजिक यथार्थ में दलित स्त्री की स्थिति संतोषजनक नहीं है। रोजगार, शिक्षा, स्वास्थ्य और सुरक्षा के क्षेत्र में असमानता विद्यमान है। तथापि दलित स्त्री लेखन ने आत्म-अभिव्यक्ति, प्रतिरोध और अस्मिता-बोध को नई दिशा प्रदान की है। शोध का निष्कर्ष यह है कि दलित साहित्य में स्त्री का स्वर अब करुणा से आगे बढ़कर प्रतिरोध, आत्मनिर्णय और सामाजिक परिवर्तन का प्रतीक बन रहा है।

मुख्य शब्द

दलित साहित्य, दलित स्त्री, पितृसत्ता, जाति-व्यवस्था, अस्मिता, सामाजिक न्याय, संवैधानिक अधिकार, स्त्री विमर्श, प्रतिरोध चेतना, शिक्षा और आरक्षण

प्रस्तावना

साहित्य जीवन का आधार माना जाता है और इस आधार तत्व प्रेम और संवेदना की मजबूत भित्ति से निर्मित एवं सौंदर्य के धागों से समाज बँधा होता है। साहित्य ही समाज का दिशा निर्देशक होता है। इसके जरिए ही व्यक्ति अपने उद्देश्यों को स्वरूप देता है। मनुष्य के सहज भावों को साहित्य के माध्यम से विस्तृत किया जाता रहा है। एक संवेदनशील व्यक्ति ही अपने परिवेश की अच्छाई और बुराई का विश्लेषण करता है। समाज की बुराइयों से लड़ने का यही हौसला ही उसे दूसरे व्यक्तियों से अलग और अनुकरणीय बनाता है। सदियों से पददलित और सामाजिक वरीयता क्रम में सबसे नीचे पायदान पर रहे दलित समाज से आये साहित्यकारों द्वारा उनकी सदियों की उपेक्षा और पीड़ा की कोख से निकला दलित साहित्य भी जीवन को समतल बनाने में मानवीय स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे का उद्घोष करता है।

* **शोधार्थी, हिंदी विभाग, महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी, बिहार**

दलित शब्द की व्युत्पति संस्कृत भाषा के दल धातु से हुई है। जिसका अर्थ है- दबाया गया, गिराया गया, शोषित, अपमानित, उपेक्षित, वंचित आदि। जिसे हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों में अस्पृश्य या शूद्र कहते हैं। विश्व स्तर पर रंग भेद से पीड़ित लोग विशेषकर नीग्रो की भी गणना इसमें की जा सकती है। मानक अंग्रेजी - हिन्दी कोश में दलित शब्द के लिए 'डिप्रेसड' शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसका अर्थ है दबाया, नीचा करना, विनत करना, नीचे लाना।

दलित साहित्य एवं उसकी सीमाओं को सोहनपाल ने व्याख्यित करते हुए लिखा है- दलित वह है जिसका दलन किया है, उपेक्षित, अपमानित, प्रताड़ित, बाधित, पीड़ित व्यक्ति भी दलित श्रेणी में आते हैं। सदियों से उपेक्षित अपमानित, शोषित, सामाजिक बंधनी में बंधी नारी और बच्चे भी इसी श्रेणी में आते हैं। साहित्यिक प्रतीक के रूप में दलित शब्द आक्रोश, चीख, वेदना, चुभन, घुटन और छटपटाहट का प्रतीक है। दलित शब्द आधुनिक काल की देन है लेकिन भारत में दलित की उत्पत्ति बहुत प्राचीन है। भारत के प्राचीन साहित्य में शूद्र, दास, अन्तज्य, अस्पृश्य शब्दों का प्रयोग मिलता है। ये सभी शब्द दलित शब्द के प्राचीन रूप है। दलित शब्द आधुनिक काल की देन है। और इसका उपयोग बीसवीं शताब्दी के शुरुआत में चलन में आया। एक वर्ग विशेष को संबोधित करने के लिए दलित विशेषण को उपयुक्त माना गया।

दलित साहित्य की अवधारणा:

दलित साहित्य, सामाजिक विषमता के विरुद्ध एक आन्दोलन है जो समाज में समता, बन्धुता, न्याय और राष्ट्रीय एकता का समर्थक है। कवि एन. आर. सागर ने अपनी कविता 'आजाद' में लिखा है कि हमारा संघर्ष समानता के लिए, स्वतंत्रता के लिए, अस्मिता की सुरक्षा के लिए, सामाजिक प्रतिष्ठा लिए है।" प्रो. विमल थोरात का मानते हैं कि दलित साहित्य उस विद्रोह का उन्मेष है जो किसी विशिष्ट जाति या व्यक्ति के विरुद्ध नहीं बल्कि 'स्व की खोज' में निकले हुए एक पूरे समाज का पूर्व परम्पराओं से विद्रोह एवं अपने अस्तित्व की स्थापना का प्रयास है। शरण कुमार निम्बाले ने ठीक ही कहा है कि- "दलित साहित्य का अनुभव, अबतक साहित्य में व्यक्त हुआ अनुभव है। इसलिए यह एक व्यक्ति का होते हुए भी पूरी जाति का प्रतिनिधित्व करता है। दलित साहित्य में अनुभव स्वतंत्रता की आकांक्षा से व्यक्त होता है। उसका स्वरूप 'मैं की अपेक्षा हम' जैसा रहा है। इसी विशिष्ट अनुभव ने दलित को लिखने के लिए प्रेरित किया।"

डॉ. तुलसीराम दो तथ्यों को दलित साहित्य का मूल मंत्र मानते हैं। एक बौद्ध दर्शन और दूसरा अम्बेडकर का दर्शन। इन दोनों के मिश्रण से दलित साहित्य का जन्म हुआ है। दलित साहित्य की अवधारणा की विशिष्टताओं को ओमप्रकाश वाल्मीकि के निष्कर्षों से समझा जा सकता है। जिसके प्रमुख बिंदु निम्न हैं-

1. विमुक्ति और स्थलम्बला के सवालों पर डॉ. अम्बेडकर के दर्शन की स्वीकृति
2. बुद्ध दर्शन का अनीश्वरवाद, अनात्मवाद तथा कर्म कांड का विरोध
3. वर्ण-व्यवस्था विरोध, जातिभेद विरोध, साम्प्रदायिकता का तीखा विरोध
4.अलगाववाद का नहीं, भाईचारे का समर्थन
5. स्वतन्त्रता, सामाजिक न्याय की पक्षधरता
6. सामाजिक बदलाव के लिए अटूट प्रतिबद्धता
7.सामंतवाद ब्राह्मणवाद का प्रबल विरोध
8. अधिनायकवाद का विरोध
9.पारम्परिक सौन्दर्य शास्त्र या विरोध
10. दलित साहित्य का उदय और विकास

राष्ट्रीय स्तर पर पूर्व से पश्चिम तक तथा उत्तर से दक्षिण तक विभिन्न क्षेत्रों में दलित चिन्तन का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि दलितों की समानान्तर और पुष्ट परम्परा बौद्ध आन्दोलन के साथ प्रारम्भ होती है। कतिपय अवरोधो के बावजूद निरन्तर गति से आज तक चल रही है। मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन और सन्त साहित्य के सुधारवादियों मे कड़े तेवर को प्रमुखता के साथ देखा जा सकता है। अलवार, नयनार एवं लिंगायत संत तिरुवल्लवर, अंदाल नामदेव, तुकाराम बसवण्णा, कबीर, रैदास, मीरा, गुरुनानक, दादू दयाल, नरसिंह मेहता आदि की वाणियों में दलित चेतना के तत्व बहुतायत रूप से पाये जाते हैं। संत रविदास ने कहा है-

ऐसा चाहाँ राज, जहां मिले सबन को अन्न।

छोटे बड़े सब राम बसै, रहें रविदास प्रसन्न।।

आधुनिक काल, नवजागरण, लोकजागरण और दलित जागरण का यह स्वर्ण युग है। इस काल में महात्मा ज्योतिबा फुले, सावित्री बाई, साहूजी महाराज, पेरियार रामास्वामी, भीमा बाई, नारायण गुरु, बिरसा मुण्डा. अछूतानन्द, तिलक, माँझी और भीमराव अम्बेडकर जैसे महापुरुषों के जीवन संघर्ष से एक जन दलित चेतना बनती दिखाई देती है।

इस प्रकार दलित चेतना आज एक महत्वपूर्ण चेतना बन चुकी है। यह साहित्य के माध्यम से भारतीय समाज व्यवस्था में दलितों की स्थिति परिस्थिति मुख्यधारा के साथ उनके तालमेल, अस्मिता और पहचान आदि समाज के सामने प्रकट करते हैं। यह चेतना जीवन यथार्थ को सबसे अलग करती है। आधुनिक संदर्भों में भारतीय दलित साहित्य का आरंभ महाराष्ट्र में मराठी भाषा में होता है। जहाँ सन् 1960 के आस-पास दलित शब्द अपनी विशिष्ट पहचान बनाता है। औपचारिक रूप से साहित्यिक सम्मेलन की शक्ल में 2 मार्च 1958 को मुंबई के दादर स्थित बंगाली हाईस्कूल के सभागृह में दलित लेखकों का पहला साहित्य सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में लेखकों ने दलित साहित्य संज्ञा का पहली बार सार्वजनिक इस्तेमाल किया। धीरे-धीरे यह चेतना दिल्ली और बिहार तक भी पहुँच गयी।

इक्कीसवीं सदी की शुरुआत से ही लगभग हिंदी की सभी प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिकाएँ जैसे कथादेश, आलोचना, उद्भावना, कथन, बयान इत्यादि ने दलित विमर्श को और अधिक विस्तृत कर दिया। सन् 2000 से देवेन्द्र चौधरी देव के संपादन में त्रैमासिक पत्रिका 'तीसरा पक्ष' (जबलपुर) मध्य प्रदेश से निकलने लगी। इस तरह हिंदी में दलित साहित्यकारों ने हिंदी दलित साहित्य को प्रसारित करने तथा दलित लेखकों को प्रकाशित करने में इन पत्रिकाओं ने एक स्तंभ का कार्य किया, फलस्वरूप सैकड़ों दलित साहित्यकार प्रकाश में आए।

हिन्दी दलित साहित्य में स्त्री:

शूद्रों की तरह स्त्री भी भारतीय समाज व्यवस्था में निचले पायदान पर स्थित रही है। उसके लिये तो बहुत सारे कर्तव्य निश्चित किये गये हैं, परन्तु अधिकार लेशमात्र भी नहीं दिए गए। धार्मिक ग्रंथों में तो स्त्री के स्वतंत्र होने पर ही प्रतिबन्ध लगाया गया है। उसके अनुसार स्त्री को बाल्यकाल में पिता, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्रों के संरक्षण में रहना चाहिये। स्त्री किसी भी अवस्था में स्वतंत्र नहीं है। यही कारण रहा है कि स्त्री किसी भी वर्ण की रही हो भारतीय समाज में उनका स्थान गुलामों से ज्यादा नहीं रहा। ऐसे में दलित स्त्री के कष्ट और दोहरे हो जाते हैं, क्योंकि हिन्दू धर्म में रहते हुये एक तरफ वह ऊँच-नीच का दंश झेलती, सवर्ण समाज से प्रताड़ित होली रहती है तो दूसरी ओर एक स्त्री होने के नाते अपने पति के तानाशाही का भी शिकार होना पड़ता है।[1]

दलित साहित्य का उद्भव यों तो महात्मा फुले और बाबा साहेब के विपुल साहित्य जो कि दलित आंदोलन की कोख से उत्पन्न माना जा सकता है, पर हिंदी में इस परंपरा का आगाज नाथ सिद्ध साहित्य, आल्हा, कबीर, रैदास, नामदेव जैसे निर्गुण कवियों के द्वारा माना जा सकता है। अधिकांश भक्त कवियों के साहित्यों में स्त्री माया का स्वरूप है वह फिर किसी भी जाति जी क्यों न हो?

नारी की झाँई परत, अंधे होत भुजंग।
उनके कौन हवाल जी नित नारी के संग ॥
माया महा ठगिनी हम जानी।

(कबीर सथावली)

कबीर के साहित्य में जहाँ एक ओर स्त्री दशा का वर्णन मिलता है, वही दूसरी और वे साधना की अवस्था में स्वयं स्त्री हो जाते हैं। प्रेम की जो उदात्त अवस्था है कबीर उसे केवल स्त्री मन में ही पाते हैं और इसलिए वे कभी- 'राम मोरा पति, मैं राम की बहुरिया' बन जाते हैं तो कही 'दुलहिन गावहुँ मंगलाचार, हम घर आये हो, राजा राम भरतार' गाकर एक तरह से स्त्री को पुरुष की अपेक्ष महिमा वर्णित ही कर रहे होते हैं।

हिंदी का अधिकांश दलित साहित्य दलित पुरुष की मुक्ति के सवालों को लेकर ही लिखा गया है, दलित स्त्री अधिकांश स्थानी पर उपेक्षित और उत्पीड़ित है। मोहनदास नैमिषराय, सूरजपाल और धर्मवीर की आत्मकथाएँ तो दलित स्त्री पर किए जा रहे उत्पीड़न का पूर्णता विरोध करते हैं। सूरजपाल चौहान अपनी कृति 'संतप्त' में तो कर्कशा स्त्री के मरने पर भी पैर-पसार कर सोने की प्रचलित पंक्तियाँ तक उधृत है-

"मरे क कर्कशा नारि, मरे यह बलम निखट्टू।
मैरिये गरिया बैल, मी वह हठठर टट्टू
भैया वर मर जाइए, जो बड़े पे हाथ उठावे
बेटा वह जर जाइए जो वक्त पे काम ना आवे
बेटी वह मर जाइए जो गलियों में हँसी करावे
मित्र वह मर जाइए जो बात का धनी न पावे
कड़ गिरधर कविराय, सदा तुम सुख से सोओ।
ये आठो मर जायें, कभी मत इनको रोओ।।"

सूरजपाल चौहान, संतप्त, पृ.78

तब भी दलित साहित्य सामाजिक मुक्ति का सवाल है स्वयं मोहनदास नैमिषराय ने मेरठ की तवायफों पर 'क्या मुझे खरीदोगे' और इतिहास प्रसिद्ध दलित गीरांगना झलकारी बाई' पर इसी नाम से एक महत्वपूर्ण उपन्यास की रचना की है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'अम्मा' कहानी और 'जूठन' में अपनी माँ की बहादुरी के जो किस्से बयान किए हैं, वे किस्से भी दलित स्त्री के लिए गर्व की बात हो सकती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी साहित्य के लंबे कालखंड के गुजर जाने के बाद भी सामाजिक क्रांति की एक चेतना के रूप में दलित साहित्य का विकास हुआ और उसमें सदियों से पीड़ित दलित स्त्री के जीवन और संघर्ष को बहुआयामी स्वर देने के साथ-साथ उसकी भविष्य दृष्टि का भी विविधवर्णी चित्रण हुआ है।

दलित साहित्य में स्त्री का बदलता स्वरूप-

आजादी के बाद महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति में काफी परिवर्तन हुआ है लेकिन यहां तक पहुंचने के लिए उन्हें बहुत संघर्षों का सामना करना पड़ा है दलित स्त्री रचनाकारों ने उन सब संघर्षों का चित्रण अपनी कहानियों और आत्मकथाओं में किया है।

स्वतंत्रता देशवासियों के लिए एक नये सूर्योदय जैसा था सैकड़ों वर्षों से उत्पीड़ित जनता को एक नई आशा की किरण दिखाई देने लगी स्वाधीनता संग्राम और दलित आंदोलन के कारण राष्ट्रीय स्तर पर चल रही गतिविधियों का समाज पर प्रभाव पड़ रहा था जिससे स्त्रियों के लिए अवसर के द्वार खुल गए थे लेकिन फिर भी दलित स्त्रियों के प्रति प्रताड़ना, उनका दमन और उनकी पीड़ा भारत में पितृ सत्तात्मक समाज में व्यापक प्रचलन में हजारों वर्षों से रहा है भारत के नये वर्ग को वास्तविकता की कसौटी पर कसा जाए तो इस तथ्य का अनुमान लगाया जा सकता है कि संवैधानिक प्रावधानों और उदार प्रगतिशील बुद्धिजीवियों के हस्तक्षेप के बावजूद देश में पितृ सत्तात्मक सामाजिक और मानसिक चक्रव्यूह का टूटना संभव नहीं हो सका हैं इस उत्पीड़न का देश विशेष रूप से मध्यम निम्न और गरीबी से पीड़ित निम्न वर्ग को भोगना पड़ता है भारत की स्त्रियों में 21% जनसंख्या दलितों की है ग्लोबल हुमन कैपिटल इंडेक्स द्वारा जारी किए गए 2017 के आंकड़ों में भारत की स्थिति 130 देश में 103 नंबर पर है इन आंकड़ों को स्वाधीनता के 75 वर्षों में नये संघर्ष के परिणाम का आधार बनाया जा सकता है स्त्री और पुरुष असमानता का एक मानक रोजगार है रोजगार आय का एक मुख्य स्रोत होता है और आय ही यह तय करती है कि व्यक्ति या परिवार की जीवन शैली और सांस्कृतिक प्रगति में क्या हासिल हो पाया है वित्तीय स्थिति पर ही सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जैसे अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्र में आने वाले बदलाव का अनुमान लगाना संभव होता है।

शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में 21% लैंगिक भेदभाव कम हुआ है; स्त्री प्रताड़ना के 53% मामले स्त्रियों के खिलाफ होते हैं; 72% महिलाएं मानती हैं कि स्त्री और पुरुष के बीच भेदभाव बरकरार है। भारतीय उद्योगों में स्त्रियों को शामिल करने की अनिच्छा है सकल घरेलू आय में महिलाओं के योगदान का वैश्विक आंकड़ा 37% है जबकि भारत में यह केवल 17% है।

सवर्ण नारियों को तो यह सब भोगना ही पड़ता है लेकिन अगर तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो दलित स्त्री के लिए यह संघर्ष और भी कठिन है क्योंकि एक और जहां दलित स्त्रियों की सामाजिक अवहेलना की जाती है वहीं दूसरी तरफ पुरुष का पितृसत्तात्मक आग्रह और अधिक आक्रामक हो जाता है घरेलू हिंसा दलित वर्ग में चरम पर है और स्त्रियों पर होने वाले अत्याचार सर्वाधिक है संवैधानिक आरक्षणों द्वारा विशेष रूप से स्त्रियों में शिक्षा के प्रति जागृति आई है वह अपनी संतानों को

शिक्षा के प्रति प्रोत्साहित करती है और उसका खर्च भी उठाती है इसके फलस्वरूप हरिजन आदिवासी वर्ग के नौजवान आज रोजगार के क्षेत्र में ऊंचे-ऊंचे पदों पर पहुंचने लगे हैं।[2]

उद्योग व्यापार और स्वरोजगार के क्षेत्र में भी उन्होंने अपनी जगह बना ली है विडंबना यह है कि इस तरह की सफलता पाने के बाद भी वह अपनी जड़ों को नहीं भूल पाए हैं जिसके कारण इन्हें अभी भी सामाजिक अवहेलना का शिकार होना पड़ता है सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए यह अपने गोत्र तक छोड़ देते हैं।

दलित साहित्यकारों द्वारा लिखे जाने वाले साहित्य को लेकर एक सहज प्रक्रिया उठना है कि दलित और दलित स्त्रियों द्वारा जमीनी स्तर पर किए जाने वाले संघर्ष में साहित्य का क्या योगदान रहा है? क्या वह इस संघर्ष को प्रोत्साहित कर पा रहा है? दलित लेखकों में से कुछ अपने ही वर्ग की आलोचना करते हैं और जुगुप्सा, घृणा, अतिशयोक्ति जैसी शैलियों को लोकप्रियता की युक्ति तक समझ लेते हैं, जिससे ये दलित साहित्य को विवादास्पद बना देते हैं जिसका प्रमुख उदाहरण डॉक्टर धर्मवीर का विवादास्पद सिद्धांत है।

डॉ. धर्मवीर के लेखन को लेकर दलित समाज में गहरा प्रभाव पड़ा विशेष रूप से दलित स्त्रियों में उनके व्याख्यान को लेकर यह आक्रोश मुखर होता रहा है प्रेमचंद की किताब 'सामंतों' का मुंशी के विमोचन आयोजन में तो स्त्रियां मेज पर चढ़ गई और उनका पेन के इंक से अभिषेक कर डाला इस किताब में उन्होंने बहु-विख्यात कहानी कफन पर अपना विधाता पूर्ण अनुमान सामने रखा है उनके अनुसार नायिका बुधिया को प्रसव पीड़ा के दौरान पति और ससुर का व्यवहार इसलिए सहना पड़ा क्योंकि वह जानती थी कि उसका गर्भ ठाकुर द्वारा किए गए बलात्कार का परिणाम था। इन अजीबो-गरीब कहानियों से धर्मवीर एक सिद्धांत को चर्चा में लाना चाहते थे। शायद यह सिद्धांत वह अपनी कहानी के प्रमाण के लिए कर रहे हैं कि दलित नारियों के साथ गैर दलितों द्वारा जो भी विवाह होता है वह केवल बलात्कार होता है। इस मान्यता की पृष्ठभूमि उनकी अपने समाज के लिए स्थापना है कि प्रत्येक दलित संतान जायज है। अगर कोई औरत इस विमर्श का विरोध करती है तो धर्मगुरु धर्मवीर का फतवा होगा वेश्या के रूप में अपना दाम बढ़ाये या देवदासी के रूप में पुजारी की संपत्ति में हाथ मारे।[3]

ग्रामीण क्षेत्रों में दलित स्त्रियों का रोजगार केवल खेतों की मजदूरी है। जमींदारी और जागीरदारी प्रथा भले ही कानूनी तौर पर खत्म हो गई है, लेकिन भू स्वामियों का वर्चस्व अभी भी बरकरार है। इनके खेतों में काम करने वाली स्त्रियों से ये देर रात तक मेहनत कराते हैं और उनकी मजदूरी भी उन्हें भाग्य से नसीब नहीं होती; और जो शारीरिक, मानसिक उत्पीड़न दिया जाता है वो अलग है।

बिना किसी कसूर के पुलिस द्वारा पकड़े जाना, थाने में सामूहिक बलात्कार करना, हरिजन आदिवासियों को सरकारी पट्टे में जमीन को बाहुबलियों द्वारा कब्जा लेना आम कहानी है। सापेक्षतः आजादी के 70 साल बाद भी नारी मुक्ति के तमाम कानून धरे के धरे रह गए हैं। उनकी आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया। दलित साहित्य में उनकी चर्चा भी इन्हीं विषयों को लेकर होती है जैसे वह एक लाचार है। साहित्य से लेकर समाज तक उनकी यही छवि बनाई जा रही है कि वह निर्बल, अयोग्य और व्यभिचारणी है।

जो कुछ भी बदलाव हुआ वह ब्रिटिश राज के अंतिम दशक में, स्वाधीनता के प्रारंभिक वर्षों में हुआ। अंबेडकर वह मुख्य व्यक्ति थे जिन्होंने शिक्षा और रोजगार में दलितों को आरक्षण दिलवाया। हम देखते हैं कि कुछ दलित इससे आर्थिक और सामाजिक पायदान पर चढ़ने में लाभान्वित हुए। यह आरक्षण के द्वारा ही संभव हो पाया, किंतु मुद्दा यह है कि आरक्षण का लाभ एक पतली सतह पर ही पहुंच पाया। सभी लोग मानते हैं कि अम्बेडकर महान थे। निसंदेह वह थे, इसलिए उन्होंने दूसरे विश्व युद्ध के बाद की परिस्थितियों का लाभ उठाया जो स्वतंत्रता के बाद ऐतिहासिक रूप से बनी थी लेकिन आज हम देख सकते हैं कि लाखों अछूतों की स्थिति में इससे कोई अंतर नहीं आया।[4]

सुजाता ने हाल ही में देश के सर्वोच्च पद पर एक दलित के संदर्भ में सवाल किया तो उन्होंने इसे कहा कि - "ये सिर्फ एक गूलर का फूल है और दलितों के मुंह पर एक तमाचा है यह वैसा ही है। .... तुम कहते हो कि तुम्हारे लिए कुछ नहीं किया इस व्यक्ति को देखो ऐसी बातों का कोई अर्थ नहीं है, असल बात यह है कि दलितों पर अत्याचार हो रहा है।"[5]

संवैधानिक संरक्षण:

स्वतंत्र भारत के संविधान में नारी का आत्म सम्मान और उसके गरिमा की रक्षा करने के लिए कई प्रावधान निर्धारित किए गए हैं। अनुच्छेद 14, 15 और 16 नारी की समानता सुनिश्चित करता है। इसके लिए संविधान और कानून का संरक्षण भी

उसे प्राप्त है धर्म, प्रजाति, जाति, जन्म स्थान, परिवार के निवास से को लेकर उसके साथ किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जा सकता। नीति निर्देशक सिद्धांतों के अंतर्गत अनुच्छेद 39 और 42 में नारी के संबंध में राज्य की नीति की दशा निर्देशित है। यहां बताया गया है कि नीतियां ऐसी होनी चाहिए जिनसे स्त्री और पुरुष को एक जैसा लाभ मिले और उन्हें जीवन यापन के समान अवसर और सामान पारिश्रमिक मिल सके। अनुच्छेद 42 में प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य है कि वह अपने सभी कार्यकर्ताओं को काम करने के लिए सुविधाजनक और अनुकूल परिस्थितियां उपलब्ध करें।[6]

संविधान का अनुच्छेद 243 स्त्री की सामाजिक स्थिति के उत्थान और समाज की मुख्य धारा में उसे लाने का दृश्य अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसमें व्यवस्था है कि ग्राम पंचायत में स्त्रियों को आरक्षण दिया जाए इससे यह ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करने वाली स्त्रियों को बहुत लाभ मिलेगा। संविधान में यह अधिकार नारी की उन्नति के लिए उपयुक्त आधार बनाता है इतना ही नहीं संविधान के 73वें और 74वें संविधान के द्वारा पंचायत और नगर पालिका संस्थाओं में भी स्त्रियों को 33% आरक्षण देने का प्रावधान किया गया है। इससे स्थानीय स्तर पर उनकी स्थिति बेहतर हुई है।

ऐतिहासिक आलेखों के अनुसार प्राचीन भारत की नारियां भारत में पुरुषों के बराबर ही थी लेकिन मध्यकाल में उनकी स्वतंत्रता बाधित होती चली गई। ब्रिटिश साम्राज्य के दौरान भारतीय सुधारो के भागीरथ प्रयत्नों से कुछ सामान कार्य रूढ़ियों में रोग के लिए कानून बना । जैसे सती, जौहर तथा देवदासी प्रथा लेकिन जातीय गौरव के नाम पर चल रही ऐसी प्रथाओं को आजादी के बाद ही बनने वाले कठोर कानून से रोका जा सका।

नारी की मुक्ति के लिए कानूनी प्रावधानों का इतिहास 100 साल से भी पुराना है। जैसा कि संयुक्त राष्ट्र की 2024 रिपोर्ट बताती है कि नारी सशक्तिकरण की दृष्टि से हम 146 देश में 127वें में स्थान पर है विवाह के लिए विधिक रूप से मान्य उम्र 18 वर्ष है लेकिन 44% भारतीय लड़कियां बचपन में ही व्याह दी जाती है। यह स्थितियां तब है जब भारत में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से ज्यादा है और शिक्षा, गरीबी और पिछड़ेपन के कारण से यह स्त्रियां दलित समूह में ही ज्यादा है। संवैधानिक और कानूनी उपायों से उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। ग्रामीण क्षेत्रों में बाल विवाहो का प्रतिशत 31% है बाल विवाहो को प्रतिबंधित करने का कानून 1929 में बना दिया गया था।

समाजवादी काल में ही भारतीय अपराध संहिता 1860 लागू कर दी गई जो दहेज हत्या, बलात्कार, अपहरण तथा अन्य अपराधों से स्त्री को संरक्षण देती है इस कानून का 304ए और 498 बी में स्त्री को यह अधिकार है कि वह पति और उसके परिवार द्वारा अपने अधिकारों के उल्लंघन की स्थिति में शिकायत कर सकती है ब्रिटिश काल में विवाह, तलाक आदि के लिए दूसरे कानून भी बने 1932 में कैसा कानून बनाया गया इसमें स्त्री को अपने विवाह से मुक्त होने की व्यवस्था थी आजादी के बाद स्त्री पर होने वाले अत्याचार को केंद्र में रखकर कई कानून बने हैं।

भारतीय समाज की एक बड़ी बुराई स्त्री के सामने विवाह के बाद आती है वह है दहेज प्रथा। विवाह के समय अपनी बेटी को पिता की तरफ से उपहार देना स्वाभाविक है और यह सदियों से होता रहा है, लेकिन हमारे समय में यह एक कुरीति के रूप में प्रचलित हो गई है। दहेज के नाम पर मोलभाव किया जाता है। विवाह होने के बाद भी यह अत्याचार नहीं रुकता और ससुराल में इसके कारण उन्हें कई अत्याचार झेलने पड़ते हैं। उन्हें मारने, जला देने जैसे कृत भी इसमें शामिल है भारत में प्रतिवर्ष हजारों लड़कियां इसका शिकार होती हैं। ससुराल में शारीरिक हिंसा भी एक अन्य स्वरूप है नेशनल क्राइम ब्यूरो के रिकॉर्ड में 2012 में 8233 हत्याएं शिकार हुई।

नारी पुरुष की समानता निश्चित करने के लिए स्त्रियों को रोजगार, वेतन जैसे समान कानूनी अधिकार प्राप्त है। कार्य स्थल पर यौन उत्पीड़न रात में काम न करने जैसे व्यवहारों के लिए कानूनी बंदिशें है। इस तरह पूरी संवैधानिक और कानून सुरक्षा के बाद भी स्त्रियां इन अपराधों से प्रताड़ित होती है। दलित और निर्धन स्त्रियों के प्रति अत्याचारों का अनुपात कुछ ज्यादा ही है इसका मुख्य कारण शिक्षा का अभाव है नारी सशक्तिकरण के लिए शिक्षा का प्रचार प्रसार एक प्रभावशाली माध्यम सिद्ध हो सकता है। इससे उनमें जागरूकता, चेतन, आत्मविश्वास और साहस का गुण आ सकता है। संविधान के अनुच्छेद 21 में सभी को निशुल्क शिक्षा मुहैया कराए जाने के लिए सरकार बाध्य है किंतु ग्रामीण दलित वर्गों में अब तक शिक्षा का प्रकाश नहीं पहुंच पाया है।[7]

इसका एक कारण तो है पुरुषवादी मानसिकता है अन्य कारण शिक्षा का महंगा होते जाना नारीवादी आंदोलन भी लैंगिक असमानता दूर करने के लिए बहुत कुछ नहीं कर पा रहा है। आवश्यकता है उनके अधिक मजबूत होने और सामाजिक-

राजनीतिक क्षेत्र में अधिक सक्रिय होने की ताकि वह अपनी बात मनवा सके अभी तो स्थिति यह है कि तमाम संवैधानिक और कानूनी संरक्षणों के बाद भी दलित स्त्रियों के दशा में उपयुक्त बदलाव नहीं हो पाए हैं और इसके लिए दलित स्त्रियों को लगातार संघर्ष करते रहना होगा।

निष्कर्ष

उपस्थित अध्ययन से यह प्रतिपादित होता है कि दलित साहित्य भारतीय समाज में सामाजिक न्याय और समानता की स्थापना का एक सशक्त वैचारिक उपकरण है, और इसमें दलित स्त्री की भूमिका केंद्रीय होती जा रही है। प्रारंभिक साहित्य में जहाँ दलित स्त्री का चित्रण मुख्यतः शोषण और करुणा के प्रतीक के रूप में हुआ, वहीं समकालीन लेखन में उसका स्वर अधिक आत्मविश्वासी, विद्रोही और आत्मनिर्णयपरक दिखाई देता है।

दलित स्त्री जाति और लिंग—दोनों स्तरों पर संरचनात्मक असमानताओं का सामना करती है, जिससे उसका संघर्ष बहुस्तरीय हो जाता है। यद्यपि भारतीय संविधान ने समानता, शिक्षा, रोजगार और राजनीतिक प्रतिनिधित्व के अधिकार प्रदान किए हैं, तथापि सामाजिक यथार्थ में इन अधिकारों का समुचित क्रियान्वयन अभी भी अधूरा है। शिक्षा, आर्थिक स्वावलंबन और राजनीतिक सहभागिता ने दलित स्त्री में जागरूकता और आत्मसम्मान की भावना को सुदृढ़ किया है, किंतु व्यापक सामाजिक मानसिकता में अपेक्षित परिवर्तन अभी शेष है।

अतः कहा जा सकता है कि दलित साहित्य में स्त्री का बदलता स्वरूप केवल साहित्यिक अभिव्यक्ति का परिणाम नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन की एक ऐतिहासिक प्रक्रिया का द्योतक है। यह स्वरूप करुणा से प्रतिरोध, मौन से मुखरता और पराधीनता से स्वायत्तता की ओर अग्रसर है। भविष्य में दलित स्त्री लेखन सामाजिक पुनर्संरचना और समतामूलक समाज-निर्माण में और अधिक प्रभावकारी भूमिका निभा सकता है।

संदर्भ :-

[1] भारती, अनिता. (2013). *समकालीन नारीवादी और दलित स्त्री का प्रतिरोध*. नई दिल्ली: स्वराज प्रकाशन. पृ. 167

[2] इंटरव्यू. (2018, 20 अगस्त). *दलित प्रेसिडेंट: दैट इज ए फिश ली*.

[3] धर्मवीर. (2023). *प्रेमचंद: सामन्त का मुंशी*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृ. 66.

[4] लाल, चमन. (2017). *दलित साहित्य: एक मूल्यांकन*. नई दिल्ली: राजपाल एंड संस. पृ. 17.

[5] इंटरव्यू. (2018, 20 अगस्त). *दलित प्रेसिडेंट: दैट इज ए फिश लीफ*.

[6] भारती, अनिता. (2013). *समकालीन नारीवादी और दलित स्त्री का प्रतिरोध*. नई दिल्ली: स्वराज प्रकाशन. पृ.172

[7] डी. बी. स्टार. (2018, 15 सितंबर). *दैनिक समाचार पत्र*. ग्वालियर संस्करण.

Received: 14.01.2026 | Accepted: 22.01.2026 | Published: 30.01.2026

चुनावी और सरकारी भाषणों का तुलनात्मक राजनीतिक प्रोक्ति-विश्लेषण: इंदिरा गांधी, अटल बिहारी वाजपेयी और नरेंद्र मोदी के छह भाषणों का अध्ययन

कनुप्रिया माली*
kanupriyamali21@gmail.com

सारांश:

भारतीय राजनीतिक संप्रेषण में चुनावी भाषण और सरकारी भाषण-दो भिन्न प्रकार की वैधता-निर्माण प्रक्रियाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। चुनावी भाषण प्रायः भावनात्मक अपील, विरोधी-निर्माण तथा जन-संचलन पर आधारित होते हैं जबकि सरकारी भाषण संस्थागत उत्तरदायित्व, नीति-संकेत, स्थिरता और राष्ट्र-निर्माण की भाषिक संरचना को प्राथमिकता देते हैं। प्रस्तुत अध्ययन में तीन भिन्न राजनीतिक कालखंडों से लिए गए छह भाषणों- इंदिरा गांधी (1971 चुनावी और 1975 स्वतंत्रता दिवस), अटल बिहारी वाजपेयी (1999 चुनावी और 1999 स्वतंत्रता दिवस), तथा नरेंद्र मोदी (2019 चुनावी और 2024 स्वतंत्रता दिवस) को सम्मिलित करते हुए एक लघु-कॉर्पस (mini-corpus) तैयार किया गया है। इस कॉर्पस का तुलनात्मक भाषिक और विमर्शात्मक परीक्षण शब्द-आवृत्ति, शैलीगत उपकरणों (दोहराव, समानांतरता, अनाफ़ोरा, रूपक), सर्वनाम-प्रयोग, भावनात्मकता तथा आलोचनात्मक विमर्श-विश्लेषण के आधार पर किया गया। अध्ययन से ज्ञात होता है कि चुनावी भाषण जहाँ भावनात्मक गति, नेतृत्व-केंद्रितता और द्वैध नैरेटिव पर आधारित होते हैं, वहीं सरकारी भाषण राष्ट्र, नीति, स्थिरता, उत्तरदायित्व और वैधता को अपनी भाषिक संरचना में प्रमुखता देते हैं। अध्ययन यह भी दर्शाता है कि तीनों प्रधानमंत्रियों के विचार-विमर्श में युगानुसार परिवर्तन होने पर भी सत्ता-प्राप्ति और सत्ता-स्थापन की भाषा दो पृथक् भाषिक तथा राजनीतिक संरचनाएँ प्रस्तुत करती है।

***मुख्य शब्द**:*

चुनावी भाषण, सरकारी भाषण, राजनीतिक प्रोक्ति, आलोचनात्मक विमर्श-विश्लेषण, विमर्श, इंदिरा गांधी, अटल बिहारी वाजपेयी, नरेंद्र मोदी

1. **प्रस्तावना**

राजनीतिक भाषण केवल संप्रेषण के उपकरण मात्र नहीं होते, वे सत्ता-निर्माण, वैधता-प्राप्ति, स्मृति-निर्माण तथा सामूहिक राजनीतिक चेतना के गठन में केंद्रीय भूमिका निभाते हैं। भारतीय लोकतांत्रिक परंपरा में चुनावी भाषण और सरकारी भाषण दो भिन्न, किंतु परस्पर जुड़े हुए राजनीतिक प्रयोजनों की पूर्ति करते हैं। चुनावी भाषणों का उद्देश्य समर्थन जुटाना, उत्साह उत्पन्न करना और भावनात्मक संघटन करना होता है, जबकि सरकारी भाषण राष्ट्र को संबोधित करते हुए स्थिरता, नीति-दिशा और संस्थागत नेतृत्व की छवि प्रस्तुत करते हैं।

भारतीय राजनीतिक इतिहास में इंदिरा गांधी, अटल बिहारी वाजपेयी और नरेंद्र मोदी तीन भिन्न युगों के प्रतिनिधि हैं-

- इंदिरा गांधी (1971–1975): केंद्रीकृत सत्ता, करिश्माई नेतृत्व और वैधता-संकट के दौर का विमर्श।
- अटल बिहारी वाजपेयी (1999): गठबंधन राजनीति, शांत-संवादी और काव्यात्मक भाषिक शैली।
- नरेंद्र मोदी (2019–2024): डिजिटल राष्ट्रवाद, नेतृत्व-केंद्रित नैरेटिव और उच्च भावनात्मक प्रवाह।

* **पी-एच. डी. शोधार्थी (भाषा प्रोद्योगिकी), भाषा विज्ञान एवं भाषा प्रोद्योगिकी विभाग**
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र

यह अध्ययन इन तीन युगों के चुनावी और सरकारी भाषणों की भाषिक संरचना, विचारधारात्मक प्रक्षेपण और विमर्श-रणनीतियों का तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

2. अध्ययन के उद्देश्य

1. चुनावी और सरकारी भाषणों की भाषा, स्वर, संरचना तथा शैलीगत उपकरणों का तुलनात्मक विश्लेषण करना।
2. आलोचनात्मक विमर्श-विश्लेषण के ढाँचे में राज्य-वैधता, नेतृत्व-छवि और राष्ट्र-नैरेटिव के तंत्रों की पहचान करना।
3. चुनावी और सरकारी विमर्श में प्रयुक्त प्रतीकों, रूपकों, सर्वनाम-उपयोग तथा भावनात्मक रणनीतियों की तुलना करना।
4. यह समझना कि सत्ता-प्राप्ति और सत्ता-संचालन-दोनों की भाषिक प्रक्रियाएँ किस प्रकार भिन्न और विशिष्ट होती हैं।

3. साहित्य-समीक्षा

राजनीतिक प्रोक्ति विश्लेषण (Political Discourse Analysis) आधुनिक भाषाविज्ञान और सामाजिक-सिद्धांत का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। Fairclough (1995) सत्ता, भाषा और विचारधारा के परस्पर संबंधों को 'text–discourse–social practice' के रूप में परिभाषित करते हैं। Wodak (2009) बताती हैं कि राष्ट्रवाद, पहचान और वैधता-निर्माण 'discursive strategies' के माध्यम से निर्मित होते हैं।

भारतीय संदर्भ में चुनावी भाषणों पर कुछ अध्ययनों में 'नारे', 'विकास-विमर्श', 'नेतृत्व-छवि' पर चर्चा मिलती है, किंतु तुलनात्मक रूप से चुनावी बनाम सरकारी भाषणों का भाषिक विश्लेषण लगभग अनुपस्थित है। विदेशी अध्ययनों में campaign rhetoric vs. presidential addresses का अंतर प्रमुख शोध विषय रहा है (Jamieson, 1996)।

राजनीतिक प्रोक्ति-विश्लेषण आधुनिक भाषाविज्ञान, समाजशास्त्र और विचारधारा-अध्ययन का महत्त्वपूर्ण संगम है। इस क्षेत्र में किए गए प्रमुख अध्ययनों में यह स्पष्ट है कि भाषा केवल सूचना का साधन नहीं है अपितु सत्ता और विचारधारा का वाहक है। शोधकर्ताओं ने राज्य-विमर्श, चुनावी वक्तृता, राष्ट्रवाद-निर्माण, 'हम–वे' संरचना, भावनात्मक भाषिक रणनीतियों और नेतृत्व-कथाओं को राजनीतिक भाषा का आधार माना है।

भारतीय संदर्भ में राजनीतिक भाषणों का अध्ययन हुआ है, किंतु चुनावी बनाम सरकारी भाषणों का तुलनात्मक, भाषिक और विमर्शीय विश्लेषण दुर्लभ है। डिजिटल युग, मीडिया-संस्कृति और राष्ट्रीयतावादी विमर्श के प्रभाव ने राजनीतिक भाषा को और भी जटिल बनाया है। इस अध्ययन का महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि यह तीन राजनीतिक युगों को तुलनात्मक दृष्टि से जोड़ते हुए भाषा की राजनीति और राजनीति की भाषा दोनों को समझने का प्रयास करता है- विशेषकर Emergency-era, Coalition-era और Digital-era को।

4. डेटा और पद्धति

4.1 अध्ययन के लिए चयनित भाषण

प्रधानमंत्री	चुनावी भाषण	सरकारी भाषण
इंदिरा गांधी	1971 चुनावी भाषण ("गरीबी हटाओ")	15 अगस्त 1975 (आपातकाल-कालीन स्वतंत्रता दिवस भाषण)
अटल बिहारी वाजपेयी	1999 चुनावी रैली	15 अगस्त 1999 स्वतंत्रता दिवस भाषण
नरेंद्र मोदी	2019 चुनावी रैली (वाराणसी)	15 अगस्त 2024 स्वतंत्रता दिवस भाषण

4.2 पद्धति

शब्द-आवृत्ति विश्लेषण, एन-ग्राम (एक-ग्राम, द्वि-ग्राम, त्रि-ग्राम), शैलीगत उपकरणों का अध्ययन,
सर्वनाम-विश्लेषण, भावनात्मकता का तुलनात्मक आकलन

- आलोचनात्मक प्रोक्ति विश्लेषण
    - सत्ता-वैधता निर्माण, 'हम–वे' संरचना, नैरेटिव-फ्रेमिंग

4.3 प्रयुक्त उपकरण

AntConc, Voyant Tools तथा मैनुअल प्रोक्ति विश्लेषण।

5. तुलनात्मक विश्लेषण

5.1 चुनावी भाषणों की भाषा : चुनावी भाषण भावनात्मकता, आंदोलन-निर्माण, नेतृत्व-छवि और भविष्य-निर्मित आकांक्षाओं पर आधारित होते हैं। इनमें तत्कालिक जन-संवेग, नारे, संघर्ष-रूपक और विरोधी-निर्माण प्रमुख आधार बनते हैं। जैसा कि Jamieson (1996) लिखती हैं, campaign rhetoric "mobilizes emotion before it mobilizes reason." तीनों प्रधानमंत्रियों- इंदिरा गांधी (1971), अटल बिहारी वाजपेयी (1999), और नरेंद्र मोदी (2019) के चुनावी भाषण इसी तर्क को पुष्ट करते हैं, परंतु तीनों की भाषाई रणनीतियाँ अपने-अपने समय की राजनीतिक आवश्यकताओं से अलग तरह निर्मित होती हैं।

A. इंदिरा गांधी (1971) : इंदिरा गांधी के 1971 के भाषण का मूल विमर्श गरीबी-उन्मूलन, संघर्ष, त्याग और योजना-आधारित राष्ट्र-निर्माण पर आधारित है। यह विमर्श गरीबी, योजना, त्याग और जन-कल्याण-सत्ता की वैधता को लोक-आधारित बनाने का प्रयास था। उनके भाषण में "गरीबी हटाओ" एक नारे से अधिक एक discursive anchor का कार्य करता है (Manor, 1984).

भाषण में बार-बार दिखने वाले वाक्य-

- "हमें मिलकर गरीबी हटानी है।", "हम सब साथ चलें।"

जन-सहभागिता का सामूहिक विमर्श प्रस्तुत करते हैं।
सर्वनाम-रणनीति:

- मैं ⟶ संकल्प, आप ⟶ जनता, हम ⟶ राष्ट्र-निर्माण का समूह

Lakoff (2004) के अनुसार यह "Nation-as-Family" रूपक का राजनीतिक संस्करण है: नेता = संरक्षक, और जनता = परिवार के सदस्य।

इंदिरा गांधी अपने विरोधियों को "देश को पीछे ले जाने वाले तत्व" के रूप में चित्रित करती हैं, जो CDA में negative other-representation (van Dijk, 1998) का उदाहरण है। इस प्रकार, 1971 का भाषण राज्य के विकासवादी नैरेटिव और जनता के भावनात्मक भरोसे, दोनों को एक साथ mobilize करता है।

- प्रमुख शब्द: गरीबी, संघर्ष, बलिदान, जनता, कांग्रेस, योजना
- विरोधी फ्रेमिंग: "वे देश को पीछे ले जाना चाहते हैं"
- रूपक: राष्ट्र = परिवार, नेता = संरक्षक
- सर्वनाम रणनीति: मैं + आप = हम ⟶ "हम मिलकर गरीबी हटाएँगे"
- भाषा सरल, भावनात्मक, आदेशात्मक।

मुख्य विशेषताएँ:

- आधिकारिक किंतु भावनात्मक भाषा, संघर्ष-केंद्रित रूपक
- सामूहिक 'हम' का निर्माण, नैतिक-वैधता के लिए जनता का आह्वान

B. अटल बिहारी वाजपेयी (1999)

अटल जी की भाषा भारतीय राजनीति में सबसे शांत, नैतिक और काव्यात्मक मानी जाती है। उनके चुनावी भाषण में यह स्पष्ट दिखता है-

- "यह देश हमारा भी है और आपका भी"-mutual responsibility
- "लोकतंत्र विश्वास पर चलता है"-moral framing
- "हमने शांति का हाथ बढ़ाया"-ethical self-representation

Charteris-Black (2005) इसे moral legitimacy metaphor कहते हैं, जिसमें नेता स्वयं को "सदाचार" के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करता है।

अटल जी कठिन मुद्दों को भी काव्यात्मक भाषा में रखते हैं-जैसे "यह यात्रा कठिन है, परंतु असंभव नहीं"- जो राजनीतिक भाषा को भावनात्मक के साथ-साथ चिंतनशील भी बनाता है।

उनकी rhetoric में "हम" सर्वनाम का अत्यधिक प्रयोग coalition politics की आवश्यकता को दर्शाता है (Yadav, 2001)। उनके विरोधी को demonize करने के बजाय वे उसे ideological competitor के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जो 1971 और 2019 के भाषणों से भिन्न है।

- काव्यात्मकता + सौम्य अपील, विरोध कम, 'नैतिक विमर्श' अधिक
- रूपक: राष्ट्र = यात्रा, जनता = पथिक, प्रमुख शब्द: शांति, विश्वास, विकास, अवसर
- सर्वनाम: 'हम' प्रधान-समूहवादी नैरेटिव।

मुख्य विशेषताएँ: काव्यात्मकता, नैतिक विमर्श, शांत, समन्वयकारी शैली, सर्वनाम-'हम सब'

C. नरेंद्र मोदी (2019)

नरेंद्र मोदी की चुनावी भाषा उच्च भावनात्मकता, राष्ट्रवाद और व्यक्ति-केंद्रित नेतृत्व शैली का मिश्रण है। 2019 के भाषण में बार-बार आशा-संरचना (hope construction) और विजय-रूपक (victory metaphor) दिखाई देते हैं:

- "भारत फिर जीतेगा", "यह देश झुकेगा नहीं, रुकेगा नहीं", "मैं आपके सपनों की लड़ाई लड़ रहा हूँ"

यह heroic leadership framing (Archetti, 2014) है, जिसमें नेता स्वयं को संघर्ष-योद्धा की छवि में स्थापित करता है। Modi का सर्वनाम प्रयोग अत्यंत रणनीतिक है:

- "मैं"-personal mission, "हम"-national unity
- "वे"-विरोधी दल ⟶ discursive othering (van Dijk, 1998)

Twitter-style punchlines, rhythmic repetition, और symbolic nationalism उनके भाषण को आधुनिक, digital-era rhetoric बनाते हैं।

- भावनात्मकता सबसे अधिक, विरोधी पक्ष की स्पष्ट ध्रुवीकरण भाषा
- लोकप्रिय नारे: "मैं भी चौकीदार", "भारत फिर जीतेगा"
- रूपक: भारत = विराट शक्ति / अस्मिता / जागृत राष्ट्र
- सर्वनाम रणनीति: I ⟶ leader-as-hero, We ⟶ national unity

यह नेतृत्व-स्तुति और राष्ट्रीय गौरव दोनों को जोड़ता है।

मुख्य विशेषताएँ:

- राष्ट्र = शक्ति, अस्मिता, 'मैं' और 'हम' का संतुलित प्रयोग
- विरोधियों का तीव्र ध्रुवीकरण, तेज गति वाला भाषिक प्रवाह

चुनावी भाषणों का समग्र निष्कर्ष

तीनों नेताओं के अभियान भाषणों में एक बात सामान्य है- जन-संवेग (mobilization) लेकिन उनकी शैली में युगानुसार बड़ा अंतर है:

पहलू	इंदिरा (1971)	वाजपेयी (1999)	मोदी (2019)
विमर्श	विकास + संघर्ष	नैतिकता + शांति	राष्ट्रवाद + विजय
स्वर	आदेशात्मक	सौम्य	ऊर्जावान
विरोधी फ्रेम	"पीछे ले जाते हैं"	सीमित	तीव्र
रूपक	राष्ट्र = परिवार	राष्ट्र = यात्रा	राष्ट्र = शक्ति

चुनावी भाषणों का मुख्य स्वर

- भावनात्मक गतिशीलता, भविष्यवादी वादे
- प्रतीकात्मक राष्ट्रवाद, विरोधी दलों का निर्माण एक 'दूसरे' के रूप में

5.2 सरकारी भाषणों की भाषा

सरकारी भाषण स्थिरता, नीति-संकेत, संस्थागत उत्तरदायित्व और राष्ट्र-निर्माण का विमर्श प्रस्तुत करते हैं। Fairclough (2000) के अनुसार state discourse tends to "normalize power through administrative language."

A. इंदिरा गांधी (1975 आपातकाल-काल)

1975 का भाषण नियंत्रण-केंद्रित, अनुशासनवादी और सत्ता-संरक्षण का भाषिक उदाहरण है। इंदिरा गांधी के भाषण में निम्न तत्त्व स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं:

1. **Legitimation strategy (Wodak, 2009):** "अनुशासन देश की आवश्यकता है"
   "आपातस्थिति इसलिए लागू की गई कि देश सुरक्षित रह सके" यह Emergency को नैतिक व प्रशासकीय उपाय के रूप में पेश करता है।
2. **Negative other-representation (van Dijk):** "कुछ तत्व अराजकता फैलाना चाहते हैं" विरोधी समूह को chaos के स्रोत की तरह चित्रित किया गया।
3. **State paternalism:** "सरकार आपकी भलाई के लिए कठोर निर्णय ले रही है" यह state-as-parent metaphor (Lakoff, 2004) है।
4. **Fear Security framing :** "देश के दुश्मन सक्रिय हैं" - security state की भाषा।

Emergency-era discourse में power asymmetry को linguistic form में normalize किया गया है।

- प्रमुख शब्द: अनुशासन, स्थिरता, देशहित, आपातस्थिति
- Legitimation strategy: "अनुशासन देश की आवश्यकता है"
- पितृसत्तात्मक राज्य-विमर्श:
  - "सरकार आपकी भलाई चाहती है"
- विपक्ष को अप्रत्यक्ष रूप से 'अराजक तत्व' कहा गया
- भाषा कठोर, अधिकारवादी, संरचनात्मक।

यह भाषण सत्ता-वैधता के पुनर्गठन का माध्यम था।

मुख्य विशेषताएँ:

- कठोर, अधिकारवादी भाषा, सुरक्षा-केंद्रित विमर्श
- पितृवत् राज्य-छवि, विरोधियों का अप्रत्यक्ष नकारात्मक चित्रण

B. अटल बिहारी वाजपेयी (1999)

1999 का भाषण शांति, संयम और भविष्यवादी आशाओं से निर्मित था। वाजपेयी जी का यह भाषण nuclear tests, Kargil war और coalition politics के बाद की स्थिति में दिया गया था। इसलिए tone = जिम्मेदार, संयत, राष्ट्र-निर्माणवादी।

मुख्य तत्त्व:

- **Responsible nationalism:** "हम शांति चाहते हैं, परथा हमें कमज़ोर नहीं समझा जाना चाहिए।" यह balanced assertiveness है।
- **Moral-political legitimization:** "लोकतंत्र हमारी आत्मा है"- ethical nationalism (Chakrabarty, 2000)।
- **Inclusive pronouns:** 'हम सब' ⟶ coalition/consensus politics की भाषा।
- **Development narrative:** "21वीं सदी भारत की सदी हो सकती है"-aspirational futurism।

उनकी भाषा authoritative नहीं, dialogic है।

- समन्वयकारी भाषा, परमाणु परीक्षण के बाद जिम्मेदार-विमर्श, प्रमुख शब्द: शांति, संयम, प्रगति, आशा

- रूपक: "यह शताब्दी भारत की शताब्दी हो सकती है", संगठित लोकतंत्र की भाषा, कोई ध्रुवीकरण नहीं।

मुख्य विशेषताएँ:

- समन्वयकारी स्वर, शांति-आधारित राष्ट्रवाद, सर्वसमावेशी भाषा

C. नरेंद्र मोदी (2024)

2024 का भाषण अत्यंत व्यवस्थित, दृष्टि-प्रधान और भविष्य-निर्माण पर केंद्रित है।

- **Nationalist optimism:** "2047 तक भारत विकसित राष्ट्र बनेगा"- visionary construction (Fairclough, 2000)
- **Leadership centrality:** "मैं वचन देता हूँ"- strong personal agency
- **Mass collectivism:** "140 करोड़ देशवासी"- population as national collective metaphor।
- **High emotionality + techno-nationalism:** "डिजिटल भारत दुनिया को मार्ग दिखा रहा है।"

यह भाषण state discourse को narrative politics के साथ जोड़ता है।

- प्रमुख शब्द: विकसित भारत, विश्व गुरु, अमृत काल, आत्मनिर्भर
- narrative: नेतृत्व-केंद्रित, विकास + रक्षा + टेक्नोलॉजी
- हम–विमर्श: "140 करोड़ देशवासी"
- रूपक: भारत = उठती हुई वैश्विक शक्ति
- भावनात्मकता उच्च, पर चुनावी भाषण जितनी आक्रामक नहीं।
- "2047 तक भारत विकसित राष्ट्र बनेगा।"
- "140 करोड़ देशवासी एक साथ चल रहे हैं।"

मुख्य विशेषताएँ:

- प्रेरणात्मक शैली, तकनीकी-राष्ट्रवाद, नेतृत्व-केंद्रित कथा

सरकारी भाषणों का समग्र निष्कर्ष

पहलू	इंदिरा (1975)	वाजपेयी (1999)	मोदी (2024)
स्वर	अधिकारवादी	संयत	प्रेरणात्मक
विमर्श	सुरक्षा–अनुशासन	शांति–प्रगति	विकास–राष्ट्रवाद
रूपक	राज्य = संरक्षक	राष्ट्र = मार्ग	भारत = उभरती शक्ति
Othering	उच्च	बहुत कम	मध्यम

सरकारी भाषणों का मुख्य स्वर

- नीति + उत्तरदायित्व, राष्ट्र-निर्माण, संस्थागत legitimacy, कम ध्रुवीकरण, अधिक स्थिरता

5.3 चुनावी बनाम सरकारी भाषा: मुख्य अंतर

पहलू	चुनावी	सरकारी
उद्देश्य	समर्थन-संचलन	वैधता-स्थापन
स्वर	तीव्र, भावनात्मक	संयत, स्थिर
रूपक	संघर्ष–विजय	राष्ट्र-निर्माण
सर्वनाम	मैं + आप	हम + राष्ट्र
विरोधी-निर्माण	तीव्र	न्यून
भाषा	नारे, दोहराव	नीति, प्रशासनिक

Fairclough (1995) के अनुसार discourse varies by purpose, audience, power, and ideology. इस सिद्धांत के आधार पर, दोनों प्रकार के भाषणों में स्पष्ट अंतर दिखाई देते हैं:

1. उद्देश्य का अंतर

- चुनावी भाषण ⟶ persuasion (Benoit, 2007), सरकारी भाषण ⟶ legitimation (Wodak, 2009)

2. Linguistic devices का अंतर

उपकरण	चुनावी	सरकारी
Repetition	उच्च	मध्यम
Anaphora	बार-बार	संयत
Metaphors	भावनात्मक	नीति-केंद्रित
Tone	energetic	rational

3. सर्वनाम-रणनीतियाँ

- **चुनावी भाषणों में** - *"मैं/आप"* का प्रयोग जिससे वक्ता और जनता के बीच निकटता तथा व्यक्तिगत संबंध की भावना निर्मित की जाती है।
- **सरकारी भाषणों में** - *"हम/राष्ट्र"* का प्रयोग जिसके माध्यम से सामूहिकता, राष्ट्रीय एकता और संस्थागत पहचान को सुदृढ़ किया जाता है।

4. विचारधारात्मक कार्य

- **चुनावी विमर्श में** - ध्रुवीकरण की प्रक्रिया, जिसके अंतर्गत राजनीतिक और सामाजिक विभाजनों को उभारकर समर्थन संगठित किया जाता है।
- **सरकारी विमर्श में** - सामान्यीकरण की प्रक्रिया, जिसके माध्यम से सत्ता, नीतियों और निर्णयों को स्वाभाविक, स्वीकृत और वैध रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

5.4 तीनों युगों का Cross-Era Comparison

A. इंदिरा गांधी

- अधिकारवादी भाषिक संरचना, संघर्ष-केंद्रित नैरेटिव, राज्य-नियंत्रण का विमर्श

B. अटल बिहारी वाजपेयी

- संतुलित, काव्यात्मक, मध्यमार्गी भाषा, नैतिकता-आधारित विमर्श, वैचारिक संवाद पर बल

C. नरेंद्र मोदी

- भावनात्मक-डिजिटल राष्ट्रवादी, नेतृत्व-केंद्रित भाषा, उच्च प्रतीकात्मकता, हम- वे का स्पष्ट विभाजन

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन यह स्पष्ट रूप से स्थापित करता है कि चुनावी भाषण और सरकारी भाषण केवल संदर्भ या मंच के स्तर पर भिन्न नहीं हैं, वे दो पूर्णतः अलग भाषिक, वैचारिक और विमर्शीय संरचनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। चुनावी भाषण उस राजनीतिक क्षण की अभिव्यक्ति होते हैं जब सत्ता अभी प्राप्त की जानी होती है; अतः उनकी भाषा अनिवार्यतः भावनात्मक अपील, जन-संवेग, नेतृत्व-छवि निर्माण, वादों और विरोधी-निर्माण की रणनीतियों से निर्मित होती है। इस प्रकार के भाषणों में भाषा का प्रयोग जनता को प्रेरित करने, उसे अपने पक्ष में संगठित करने और विरोधी शक्तियों को नैतिक अथवा वैचारिक रूप से कमजोर सिद्ध करने के लिए किया जाता है। नारे, दोहराव, तीव्र रूपक, प्रत्यक्ष संबोधन और द्वैध संरचनाएँ (हम बनाम वे) चुनावी भाषणों की केंद्रीय विशेषताएँ बन जाती हैं।

इसके विपरीत, सरकारी भाषण सत्ता-प्राप्ति के बाद दिए जाने वाले ऐसे भाषिक वक्तव्य होते हैं जिनका उद्देश्य समर्थन जुटाना नहीं, बल्कि पहले से स्थापित सत्ता को वैध, स्थिर और दीर्घकालिक रूप में प्रस्तुत करना होता है। अतः सरकारी भाषणों की भाषा अपेक्षाकृत संयत, संस्थागत और नीति-केंद्रित होती है। इनमें राष्ट्र-निर्माण, प्रशासनिक उत्तरदायित्व, विकास-दृष्टि, सामाजिक एकता और संवैधानिक वैधता पर विशेष बल दिया जाता है। जहाँ चुनावी भाषणों में विभाजन और ध्रुवीकरण की प्रवृत्ति प्रबल होती है, वहीं सरकारी भाषण अधिक समेकित और समावेशी 'हम' का निर्माण करने का प्रयास करते हैं, जिससे राज्य स्वयं को संपूर्ण राष्ट्र के प्रतिनिधि के रूप में स्थापित कर सके।

इंदिरा गांधी, अटल बिहारी वाजपेयी और नरेंद्र मोदी- इन तीनों प्रधानमंत्रियों के भाषणों का तुलनात्मक अध्ययन यह भी दर्शाता है कि राजनीतिक भाषा कोई स्थिर या सार्वकालिक संरचना नहीं है, वह समय, सत्ता-संतुलन, तकनीकी माध्यमों और ऐतिहासिक-राजनीतिक संदर्भों के अनुसार निरंतर रूपांतरित होती रहती है। इंदिरा गांधी के भाषणों में जहाँ संघर्ष, अनुशासन और राज्य-केंद्रितता प्रमुख हैं- विशेषतः आपातकालीन संदर्भ में- वहीं अटल बिहारी वाजपेयी की भाषा अधिक नैतिक, समन्वयकारी और संवादपरक दिखाई देती है, जो गठबंधन-राजनीति और लोकतांत्रिक सहमति की आवश्यकता को प्रतिबिंबित करती है। इसके विपरीत, नरेंद्र मोदी के भाषणों में डिजिटल युग की विशेषताएँ, उच्च भावनात्मकता, प्रतीकात्मक राष्ट्रवाद और नेतृत्व-केंद्रित कथानक स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आते हैं।

इस अध्ययन से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि सत्ता-प्राप्ति और सत्ता-स्थापन की प्रक्रियाएँ राजनीतिक भाषा के दो अलग-अलग कार्यक्षेत्र निर्मित करती हैं। सत्ता-प्राप्ति की भाषा अधिक गतिशील, संघर्षपूर्ण और प्रेरक होती है, जबकि सत्ता-स्थापन की भाषा स्थायित्व, वैधता और संस्थागत निरंतरता को प्राथमिकता देती है। फिर भी, दोनों ही अवस्थाओं में भाषा सत्ता के प्रयोग और औचित्य को वैचारिक रूप से स्वीकार्य बनाने का कार्य करती है। इस प्रकार राजनीतिक भाषा लोकतंत्र में केवल संप्रेषण का माध्यम नहीं, बल्कि सत्ता, विचारधारा और राष्ट्रीय कल्पना के निर्माण का एक प्रभावशाली उपकरण बन जाती है।

समग्र रूप से देखा जाए तो यह अध्ययन भारतीय राजनीतिक विमर्श की उस गहरी संरचना को उद्घाटित करता है, जिसमें भाषा के माध्यम से जनता, राष्ट्र और सत्ता के बीच संबंधों को परिभाषित और पुनर्परिभाषित किया जाता है। भविष्य के शोधों में यदि अधिक विस्तृत भाषिक-संग्रह, विभिन्न सामाजिक समूहों की प्रतिक्रिया और डिजिटल माध्यमों की भूमिका को भी शामिल किया जाए, तो भारतीय राजनीतिक भाषा की समझ और अधिक समृद्ध तथा बहुआयामी हो सकती है।

संदर्भ :

1. बेन्वा, डब्ल्यू. एल. (2007). राजनीतिक अभियानों में संप्रेषण. पीटर लैंग
2. चक्रवर्ती, दीपेश (2000). यूरोप का प्रादेशीकरण. प्रिन्सटन विश्वविद्यालय प्रकाशन
3. चार्टरिस-ब्लैक, जोनाथन (2005). राजनेता और वक्तृता: रूपक की प्रभावोत्पादक शक्ति. पेल्ग्रेव
4. चिल्टन, पॉल (2004). राजनीतिक प्रोक्ति का विश्लेषण: सिद्धांत और व्यवहार. रूटलेज
5. फेयरक्लफ, नॉर्मन (1995). आलोचनात्मक विमर्श-विश्लेषण. लॉन्गमैन
6. फेयरक्लफ, नॉर्मन (2000). न्यू लेबर, नई भाषा?. रूटलेज
7. जेमिसन, कैथलीन हॉल (1996). राष्ट्रपति-निर्माण की भाषा. ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस
8. लैकॉफ़, जॉर्ज (2004). हाथी के बारे में मत सोचो. चेल्सी ग्रीन
9. मैनर, जेम्स (1984). इंदिरा गांधी. रूटलेज
10. वान डाइक, ट्यून ए. (1998). विचारधारा: एक बहुविषयक अध्ययन. सेज
11. वोडाक, रूथ (2009). राजनीति का क्रियात्मक विमर्श. पेल्ग्रेव मैकमिलन

Received: 14.01.2026 | Accepted: 22.01.2026 | Published: 30.01.2026

नेपाल से सम्बन्धित फणीश्वर नाथ रेणु के रिपोर्ताज का शिल्पगत और भाषा वैशिष्ट्य

डॉ. तुलसी छेत्री*
tulsi.chhetry@yahoo.com

सारांश:
यह शोध-पत्र फणीश्वर नाथ रेणु के नेपाल-सम्बन्धी रिपोर्ताजों—'सरहद के उस पार' और 'नेपाली क्रांति कथा'—के शिल्पगत तथा भाषिक वैशिष्ट्यों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इसमें स्पष्ट किया गया है कि रेणु ने नेपाल के सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष, राणा शासन के दमन तथा मिल मजदूरों की पीड़ा को अत्यंत यथार्थपरक ढंग से चित्रित किया है। वर्णनात्मक शैली, संवादात्मकता, सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण, आंतरिक एकालाप तथा चित्रात्मक अभिव्यक्ति उनके रिपोर्ताज की प्रमुख विशेषताएँ हैं। भाषा की दृष्टि से हिंदी, नेपाली, मैथिली, अंगिका, बंगला और अंग्रेज़ी के मिश्रण ने रचनाओं को जीवंतता प्रदान की है। इस प्रकार रेणु के रिपोर्ताज समकालीन यथार्थ, मानवीय संवेदना और बहुभाषिक अभिव्यक्ति के प्रभावी उदाहरण हैं।

मुख्य शब्द :
फणीश्वर नाथ रेणु; रिपोर्ताज साहित्य; शिल्पगत विशेषताएँ; भाषिक वैशिष्ट्य; नेपाल संदर्भ; सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ; आंचलिकता; मानवीय संवेदना; यथार्थपरक अभिव्यक्ति; हिंदी गद्य साहित्य।

"वह जैसा सोचते थे, वैसा बोलते थे और जैसा बोलते थे, वैसा लिखते थे और फिर उसको पढ़ो तो लगता था रेणु बोल रहे हैं।"[1]

रेणु के बारे में लिखी रघुवीर सहाय की इस राय से शायद ही कोई असहमत होगा। सच ही तो है रेणु की मानवीय मूल्यों के प्रति संवेदनशीलता ने हिन्दी साहित्य जगत को एक नई दिशा दी। रेणु ने हिन्दी साहित्य में अपनी अलग पहचान पाई है तो उसे केवल आंचलिकता के आधार पर कहना उनकी 'पार्कर' कलम की अवहेलना करने जैसा होगा। उनकी कलम का जादू गद्य और पद्य दोनों रूप में साहित्य में विद्यमान है। उपन्यास, कहानियाँ, रिपोर्ताज, स्केच, संस्मरण, आत्म संस्मरण लेख, साहित्य की हर विधा को रेणु की कलम ने उत्कृष्ट ही बनाया। रेणु की साहित्यिक भूमि व्यापक है, इसलिए हम रेणु के रिपोर्ताज, जिनका नेपाल से सीधा हस्तक्षेप है, उनके शिल्प और भाषा पर चर्चा करेंगे ।

'रेणु रचनावली पुस्तक' के संपादक भरत यायावर, रेणु के कथा शिल्प के बारे में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए लिखतें हैं – "मैंने प्रारंभ में ही बताया था कि रेणु कम शब्दों में अपनी पूरी जीवन स्थिति, मनोस्थितिः, छटपटाहट, तनाव आदि किस कुशलता से रख देते हैं- यह उनके महान कथा-शिल्प होने का ही प्रमाण है।"[2].

रिपोर्ताज की पहली अनिवार्यता है की लेखक स्थितियों का वह चित्र प्रस्तुत करें जिससे उसका साक्षात परिचय हो। रेणु इसी अनिवार्यता का निर्वाह करते हुए नेपाल से अपने जुड़ाव को, वहाँ के संघर्षपूर्ण अस्तित्व की लड़ाई को, राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल के दौर को अपने रिपोर्ताज 'सरहद के उस पार' और 'नेपाली क्रांति कथा' में वर्णित करते हैं। वस्तुस्थिति का प्रत्यक्ष निरीक्षण और यथा तथ्य उसका विवरण इन दोनों रिपोर्ताज को सफल बनाता है। इस रिपोर्ताज में कहीं प्रकृति के माध्यम से तो कहीं परिस्थिति के परस्पर संघात से उभरते चित्रों में नेपाल का सामाजिक इतिहास और मानवीय मूल्य जीवन्त हो उठता है।

रिपोर्ताज विधा के अनुरूप इनमें कोई कथा नहीं है, बल्कि तदयुगीन नेपाल के यथार्थ से साक्षात्कार है, वहाँ की घटनाएं और परिवेश है। घटनायों के जीवंत स्रोतों से पूर्ण रूप से जुड़े रहने के कारण शिल्प में गुणवत्ता और यथार्थपरकता के दर्शन होते हैं। इसका उदाहरण 'सरहद के उस पार' रिपोर्ताज़ में रेणु, नेपाल के मिल मज़दूरों की स्थिति का वर्णन करते हुए वहाँ

* **गुवाहाटी, असम।**

जल्द होने वाली क्रांति के बारे में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए लिखते हैं - "हाँ, मेरे उपरोक्त कथन के पीछे नेपाल की परिस्थितियों का गहरा अध्ययन छिपा हुआ है। मुझे नेपाल के जंगलों में ही राजनीति और साहित्य की शिक्षा मिली है। नेपाल की एक काठ की कोठरी में ही मैंने समाजवाद की प्रारम्भिक पुस्तकों से लेकर, महान ग्रंथ 'केपिटल' तक को पढ़कर, समझने की धृष्टता की है।"[3]

रेणु के इलाके का सीमावर्ती क्षेत्र नेपाल का विराटनगर शहर है, यहाँ उनके जीवन का एक लंबा समय बीता है। वहाँ के परिवेश के साथ रेणु का एक गहरा रागात्मक सम्बन्ध है। रेणु के रिपोर्ताज उसी नेपाल के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करते हैं और वे लिखते हैं – "मैं सोशलिस्ट हूँ और विराटनगर में मजदूर यूनियन कायम करने आया हूँ।"[4]

निरंकुश राणा शाही का विरोध, विराटनगर के मिल मजदूरों और उनकी जिजीविषा का प्रश्न ही रेणु के रिपोर्ताज 'सरहद के पार' का वर्ण्य विषय है। जिसके केन्द्र में मिल मजदूरों के संत्रास और पीड़ा का चित्रण है और वहीँ चारों तरफ गिद्ध दृष्टि लिए राणा शाही तथा उनके संरक्षण में फलते पूंजीपतियों के स्वार्थ की अभिव्यक्ति।

नेपाल से जुड़े दोनो रिपोर्ताज का कथात्मक पक्ष आरंभ से ही पाठकों को इतना प्रभावित करता है कि पाठक संपूर्ण एकाग्रता के साथ कभी नेपाल के राजपथ पर बिखरी धूल में तो कभी रात के सन्नाटे में घनी तराई के बीहड़ों में विचरण करने लगते हैं। घटना के इतिहास के साथ उससे सम्बन्धित व्यक्तियों,दृश्यों, शक्तियों का भी जीवंत-चित्रण रेणु के रिपोर्ताज में देखने को मिलता है। रिपोर्ताज के सम्पूर्ण दृश्य रेणु के सूक्ष्म दृष्टि को प्रमाणित करते हैं।

क. वर्णनात्मक शैली

रेणु का वर्णन कौशल यथार्थ को प्रतिबिंबित करता है। वर्णनात्मक शैली द्वारा सिलसिलेवार ढंग से घटनाओं का वर्णन पाठकों में उत्सुकता और कौतुकता बनाए रखने में सफल रहा। दोनो रिपोर्ताज का वर्णन कौशल विशिष्ट है। जो नेपाल के मिल मजदूर और नेपाल की जन क्रांति का सजीव चित्रण करता है। जैसे 'नेपाली क्रांति कथा' में बुलडोजर का वर्णन प्रत्यक्ष चित्रण उपस्थित कर देता है -

1. "लोहे का विशाल - कच्छप सचल हुआ। यंत्रदानव धरती को कपांता हुआ आगे बढ़ा। इसके पीछे मार्च करती-कवर फायरिंग देती हुई– मुक्तिसेना।"[5] वहीं 'सरहद के उस पार' में पूंजीपतियों का वर्णन, उनकी राणा वर्ग के साथ मिली-भगत की पोल खोलता है. रेणु ने पूंजीपतियों का क्रूर चित्र प्रस्तुत किया है.
2. "यह उन्हीं सांपो की (चमडियां, सिंहानिया, लायलकायों) बांबियां हैं, जिसमें वे आराम से लेटे-लेटे नेपाल सरकार द्वारा 'दूध-लावा' पीकर, जहरीले साँपो की आबादी बढ़ा रहे हैं।"[6]

ख. आतंरिक एकालाप

रिपोर्ताज के कुछ कथनो में रेणु आतंरिक एकालाप करते हुए अपने भीतर चल रहे उधेड़बुन को भी दर्शाते हैं। जैसे, 'नेपाली क्रांति कथा' का ये दृश्य जहाँ रेणु स्वंय से वार्तालाप करते हैं-

1. "किन्तु मैं नहीं जाऊँगा: मैं बी.पी को डिप्टी-प्राइममिनिस्टर के रूप में-सो भी, मोहन शमशेर के प्रधानमंत्रित्व में- नहीं देखना चाहता।"[7]
2. "आज विराटनगर छोड़ने से पहले सांदाजु के नाम एक पत्र लिखकर जाना चाहता हूँ-सांदाजु! आपसे अनुमति मिले बिना वापस जा रहा हूँ। क्षमा करेंगे।"[8]

ग. सूक्ष्म मनोविज्ञान

दोनों रिपोर्ताज का सीधा संबंध नेपाल के संघर्षरत जन-जीवन के परिवेश ग्रहण से है। नेपाली क्रांति कथा' में रेणु ने तदयुगीन परिस्थितियों को परत दर परत उधेड़ कर हमारे समक्ष प्रस्तुत किया। जैसे रिपोर्ताज का ये कथन "शंख ध्वनि हुई, दीपों की माला जगमगाई। भाई-टीका देते समय स्नेहमयी बहनों ने अपने अपने भाइयों की आंखों में न जाने कैसी चिनगारी देखी कि उनके मुँह से आशीर्वाद के ये दो शब्द स्वयं ही निकल पड़े 'जय नेपाल'।"[9] यहाँ रेणु ने 'जय नेपाल' लिख सूक्ष्म मनोविज्ञान को तो उजागर किया ही है, साथ ही उन्होंने सामान्य जन-जीवन कि बोलती बतियाती भाषा का प्रयोग करते हुए अर्थ को सार्थकता प्रदान की है।

घ. सामूहिक संवादात्मक शैली

रेणु के रिपोर्ताज़ में सामूहिक संवादात्मक शैली की बहुलता है। 'नेपाली क्रांति कथा' में अस्त्रागार पर गोर्रिले जब बुलेट का ढ़ेर देखकर किलक उठते हैं, तब रेणु ने पात्रों का नाम लिए बगैर ही संपूर्ण संवादों को प्रस्तुत किया है-

"टूट नहीं सकती तिजोरी?"
"जोरों की आवाज़ होगी।"
"गिरफ्तार संतरियों पैर नज़र रखो।"
"मालखाना का माल सँभालो।"[10]

इसके अलावा प्रथम गोर्रिला युद्ध में रिट्रीट के बाद का ये संवाद - "एक साहित्यिक और रसिक मुक्ति-सैनिक इस असह्य चुप्पी को तोड़ता है- आज एक कहावत का जन्म हुआ है: जो जीते वो गोलंदाज,जो हारे सो पटाखेबाज़!"

बात वाजिब जगह पर जाकर लगी। जले पर जान-बुझकर नमक छिड़कना इसी को कहते हैं -जनाब! अपनी शायरी रखिये अभी!

"मैं शायरी करता हूँ? मैं पूछता हूँ, भागने का हुक्म क्यों दिया गया?"

"भागने का हुक्म? कैसा जंगली है? रिट्रीट को भागना बोलता भागना बोलता है?अपने बहादुर साथियों को पटाखेबाज़ कहता है?"

"रिट्रीट ही सही। किसने हुक्म दिया पैर पीछे हटाने का?"

"क्यों? मैंने।"[11]

इस कथोपकथन की विशेषता है की इसमें तात्कालिक विभिन्न प्रतिक्रियों को संवादात्मक शैली द्वारा दर्शाया गया है।

ड. कल्पना विधान

रेणु ने अपने विचारों, दर्शन और चिंताओं को पाठक के सामने रख उनकी सोच पर सब छोड़ दिया। वर्तमान को देखते हुए रेणु कभी अतीत के पन्नों को उलटते हैं तो कभी भविष्य में यथासंभव झांकने का प्रयास करते हैं। 'सरहद के उस पार' में व्यक्त उनका ये भाव इसका सशक्त उदाहरण है- "उफ! बहुत जल्द ही इन पूंजीपतियों के घर में नेपाल राज्य बंधक पड़ जायेगा। बस, आप निराश हो गए? मैं कहता हूं, सुनिए- बहुत शीघ्र ही यहाँ जबरदस्त क्रांति होगी और सफल क्रांति होगी।"[12] रेणु जनता के बीच पनप रहे गुस्से को महसुस कर रहे थे. इसीलिए वे आने वाले समय की कल्पना कर लेते हैं.

रेणु का कल्पना विधान नेपाल के उन कटुतम यथार्थ को अभिव्यक्ति देने के लिए सादृश्य उपस्थित करता है, जो पाठकों को तदयुगीन घटनाओं से तो अवगत कराता ही है साथ ही साथ रेणु के चिंतन - मनन को ज्यों का त्यों हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। उनके रिपोर्ताज के कथ्य बहुमुखी है।

फिर चाहे वह 'सरहद के उस पार' के बहादुर गोरखा का चित्रण हो या 'नेपाल की क्रांति' की दिव्या कोइराला और स्वर्गीय कृष्ण प्रसाद कोइराला के मध्य संवाद का चित्रण। यहाँ पात्रों की मनोस्तिथि के विवरण ने जीवंत अभिव्यंजना प्रदान तो की ही, साथ ही स्वर्गीय कृष्ण प्रसाद कोइराला के तथ्य कथन ने कलात्मकता और साहित्यिकता का पुट भी दिखाई दिया है।

रेणु कई जगह चेतना प्रवाहवादी भी हो जाते हैं। इसका सशक्त उदाहरण जब विक्रम शमशेर को आत्मबोध होता है और वो कहता है – "बी.पी.आप सचमुच नेपाल की जनता के नेता ....."[13]

च. सजीवता और रोमांचकता

नेपाल से संबंधित इन रिपोर्ताज़ में रेणु द्वारा वर्णित दृश्य सहज ही चलचित्र के रील की भाँति पाठकों के आगे घूमते प्रतीत होते हैं। जिनको पढ़ते समय पाठक- दर्शक और श्रोता बन जाते हैं। विराटनगर के मिल मजदूरों की दयनीय दुर्दशा, राणा शाही की निर्ममता, विभिन्न संगठनों के बीच का मन मुटाव, पात्रों की मानसिक उथल-पुथल, हाव-भाव पाठकों के सामने घूमते रहते हैं। जिससे घटनाओं के क्रम में सजीवता, रोमांचकता और विश्वसनीयता दिखाई देती है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण

'नेपाली क्रांति कथा' के इस दृश्य से समझा जा सकता है- "उधर क़िले का लौह कपाट खुला -सशब्द। फिर बी.पी मुक्तिवाहिनी के दोनों अधिनायकों और सशक्त जवानो के साथ ट्रैंच से बाहर निकलकर आगे बढ़े।"[14]

छ. अधूरे-टूटे संवाद

रेणु ने इन रिपोर्ताज़ मे कई जगहों पर घटनाक्रम के बीच जो पात्र खड़े किये हैं उनकी वेदना की अभिव्यक्ति छोटे-छोटे वाक्यों और अधूरे टूटे संवादों में भी अपनी सार्थकता दर्शाते हैं, जिसके कुछ उदाहरण है -

1. "वे इस समय कहाँ हैं, कैसे हैं, किस अवस्था में हैं - हैं भी या नहीं -हम नहीं कह सकते ....."[15]
2. "नहीं तो औरतों को ही 'धुन' दिया जायेगा, अर्थात कैद किया जायेगा .....सबकुछ किया जायेगा" [16]
3. "इसे कोई जानवर ठूंठ न कर दे....."[17]

ये अधूरे संवाद रचना को अधिक प्रामाणिक बनाने मे सहायक सिद्ध हुए। दरअसल यह पंक्तियों के बीच का अंतराल या उसे छोड़ दिया जाना, छिपी हुई अनुगुंजे हैं। जहाँ रेणु पाठकों को भी सोचने के लिए विवश करते हैं। जिनमें आगत संकट का भाव छिपा हुआ है।

ज. चित्रात्मक शैली

चित्रात्मक शैली का प्रयोग रेणु की खास विशेषता रही है। अपनी रचनाओं में रेणु आवाज़ों को शब्दबद्ध करते हैं। नेपाली क्रांति के समय ब्रेनगन की आवाज़ -ट-ट -ट -ट, गोलियों की आवाज़ - ट्रटठाँय-ठाँय-ठाँय....धायँ - धायँ -धायँ, टैंकस्टार्ट की आवाज़ - भटटट -ट ट -भट -भट, गिरती हुई दिवार की आवाज़-धड़धड़धड़ाम, गोलियों और संगीनों की मार - टठाँय-खच्च -खच्च इसका अच्छा उदाहरण हैं। इन आवाज़ों को पढ़ो तो लगता है संपूर्ण दृश्य आंखों के समक्ष मूर्त /सजीव हो उठा है।

झ. डायरी-शैली

'नेपाली क्रांति कथा'में रेणु डायरी-शैली पद्धति के माध्यम से घटनाक्रम को फिर से अद्यतन में लाते हैं। जिसके बारे में वे लिखते हैं- "पिछले तीस वर्षों से नेपाल की राजनीति में सैकड़ों तीखे मोड़ आये हैं और पिछले बीस वर्षों से हर-ऐसे मोड़ पर,पी.आर.ओ अपनी पुरानी डायरी के कई पृष्ठों को खोलकर फिर से पढ़ लिया करता है और हाशिये पर कुछ लिख दिया करता है :

"17 फरवरी, शनिवार,1951-हो गया समझौता ....."[18]

"21 फरवरी, बुधवार....."[19]

4.2 भाषा वैशिष्ट्य

रेणु के रिपोर्ताज़ में भाषा वैशिष्ट्य की बात करें तो यह विविधता से भरी हुई है। जिसमे मैथिली, हिंदी, नेपाली, बंगला और अंग्रेजी भाषा का प्रवाह घटनाओं के साथ बदलता है। यही कारण है की डॉ.लोठार लुत्से से रेणु की भाषा को "पंचमले खिचड़ी"[20] की संज्ञा दी। रेणु की भाषा हाशिये के समाज को केंद्रित करती है। इसी कारणवश वह बोलती बतियाती भाषा का प्रयोग मुख्यतः करते हैं।चूँकि उनके दोनों रिपोर्ताज़ नेपाल से सम्बंधित हैं, तो इनमे स्थानीय गीतों का प्रयोग किया गया है। जैसे सरहद के उस पार के ये गीत –

1. "धन धन अंग्रेजी सरकार
   आकाश मा जहाज उड़ाए को,
   पानी मा जहाज चलाये को....."[21]
2. "खुकुरी भिडेर कांछा, जानु पर्छा
   जर्मन को धावे मा"[22]

'नेपाली क्रांति कथा' के स्थानीय गीत

1. "नेपाली.... ने -पा -ली.....आगि बढ़दा बढ़दे जाऊ
   1. क्रांति झंडा ले-क्रांति झंडा ले, -ने -पा -ली

नेपा.....ली.....ई !!"[23]

2. "साथी अब कती टाढ़ा जाने"[24]

इन स्थानीय गीतों के अतिरिक्त रेणु ने नेपाली रोज़मर्रा की स्थानीय शब्दावली का भी प्रचुर मात्रा मे प्रयोग किया है। जैसे - सुखाल,सांदाजु,खुकुरी,बोलाहे,घाइते,टलकिञ्चा,हुज़ुरबाजे,कुरा,रगत,भान्साघर,चलदेछा,करायेरा, दाजु, ढोका, घोर फाइटिंग चलदै छ आदि।

'नेपाली क्रांति कथा' में मैथिली और अंगिका भाषा का प्रयोग किया गया है। जैसे, शिवगंज जब रिवॉल्वर तानते हुए रेणु और निर्झर को धमकाता है, तब निर्झर रेणु के पास सटकर धीमे से रेणु को अंगिका भाषा में समझाता है- "हे रे भैया! एकर मुख पर जवाब मत देवै -खिसियेलो छौ ....."[25]

मैथिली भाषा का उपयोग छोटकू बाबाजी के कथन मे सुनाई देता है। जब वे मुक्ति सेनानियों को चाय देता है और अधिक चीनी की माँग पर उसपर गुस्से से एक जवान चाय का मग उड़ेल देता है। इसी कहानी को बाबाजी, मातृकाप्रसाद कोइराला को सुनाते समय अपनी भाषा का प्रयोग करते हुए कहते हैं: "अरौ बाबा! आजि हमर बूझूँ जे प्राण बची गेल। एहन सुतारि कै चाहक गम हमरा पर फेंकलक ...."[26]

मातृकाप्रसाद भी अपने प्रिय छोटकू बाबाजी के साथ मैथिली में ही प्रश्न करते हैं- "सुतारि कै की फेंकलक?"[27]

इस रिपोर्ताज़ रेणु द्वारा अंगिका और मैथिली भाषा का प्रयोग क्रांति के बोझिल वातावरण को कुछ सामान्य बनाने के लिए किया गया है।

"थाम बेन ना मोशाय, बलून ना आपनार मां के गिए की बोले दीबो?"[28] में बांग्ला जैसी रचनात्मक भाषा का प्रयोग किया गया है। जिसके मूल में भाव और गतिशील चित्र अंकित हुए है।

रेणु ने अंग्रेजी भाषा का प्रयोग गहीन विचारों को व्यक्त करने का माध्यम बनाया है। जैसे-हाथ की हथकड़ी दिखला कर हँसते हुए कृष्णप्रसाद कोइराला का रेणु को कहा गया ये वाक्य : "हाउ डू यू लाइक इट?" [29] और मेजर जनरल द्वारा रेणु की टॉमीगन भेंट करते समय कहा ये कथन –"बट डोंट फॉरगेट योर पैन ...."[30]

रेणु ने कहीं कहीं उपमाओं का प्रयोग कर परिस्थिति को साकार करने की चेष्टा की है, जिसमें वे पूर्णतया सफल भी रहे। जैसे –

1. "हड्डी पिसनेवाली वाली मिल ही खोलने की आज्ञा दी जाय,पूंजीपतियों के गठबन्धन ने कोढ़ में खाज का काम किया है।"[31]
2. "सर्चलाइट की रोशनी, काली नागिन की लपलपाती हुई जीभ की तरह, रह रह कर अंधकार को चीरकर नाच जाती" [32]
3. "नक्षत्रखचित आकाश में खलबली मची हुई"[33]
4. "धरती पुलक पुलक उठती है।" [34]
5. "उन्नत सिर 'कोइराला निवास' मानो सबकुछ देख रहा है।"[35]

क. शब्दचरित्र-चित्र

नेपाली क्रांति कथा के अंतर्गत रेणु ने जनक्रांति का विषयगत वर्णन तो किया ही है, साथ ही क्रांति से जुड़े नेताओं,मुक्ति सैनिकों की व्यक्तिगत विषेशताओं को भी उकेरा है। गिरिजा,देशबन्धु, बलबहादुर, कुलदीप झा, नरबहादुर, तारापद बाबू, दिव्या कोइराला, बी.पी.कोइराला जैसे गंभीर चरित्र-चित्र हैं, तो फेकंन चौधरी और निर्झर जैसे पात्रों के व्यंग्यों ने क्रांति के उदासीन, विषादपूर्ण, और संजीदा माहौल को कुछ देर के लिए सामान्य कर दिया।

रेणु, गुरूजी फेंकन चौधरी का व्यंग्य चित्र प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं– "टुकड़ी के संचालक भोला चटर्जी ने आपत्ति की 'सफ़ेद गाँधी टोपी ?घने अंधकार में भी गोली ठीक आपके सिर में लगेगी। किन्तु गुरूजी मैथिली भाषा में ही कहा- जब गोलिये खाये लेल जायत छी त फेर माथ मे लगैक चाहे पैर मे एक्के बात....."[36]

नेपाली कांग्रेस के नेता बी.पी. कोइराला के दो भिन्न रूपों को दिखाते हुए रेणु लिखते हैं -

"वे 'दोस्त' और 'दुश्मन' को गंध से परख लेते हैं। इसलिए मनमोहन का बाहर रहना उचित नही..... संदाजु (छोटे भाई) ने जिस गंभीरता से यह वक्तव्य दिया और उनकी यह मुद्रा मैं कभी भी नहीं भूलूंगा।"[37]

उपरोक्त पंक्तियों मे जहाँ बी.पी. कोइराला का गंभीर और प्रभावशाली चित्रण हुआ है। वहीं दूसरी ओर संवेदनशील और भावुक पक्ष को भी उजागर करते हुए लिखा है – "बी.पी.स्वयं एक रोते हुए बालक को गोद लेकर चुप कराने लगे तब उत्तर विक्रम की पथराई हुई सी आँखों में पानी छलछला आया और उसने प्रलाप शुरू किया-'आप देवता है,मनुष्य नहीं।"[38]

ख. लयात्मक भाषा

रेणु ने 'नेपाली क्रांति कथा' में कई जगह लयात्मक भाषा का प्रयोग कर आशावादी विचारों को उकेरा है। सबका मनोबल बढ़ाते मातृकाप्रसाद कोइराला का स्वरचित यह गीत-

1. "साथी अब कती टाढा जाने ....."[39] (साथी अब और कितना दूर जाना है?)

इसके अतिरिक्त रेणु ने हिंदी के भक्त कवि तुलसीदास के रामचरितमानस कि कुछ पंक्तियों का भी यथा संभव स्थान पर प्रयोग किया है -

2. "अब जनि दोष देहु मोहि लोगू ....."[40]

3."मिले न कबहुँ सुभट रण गाढ़े"[41]

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं की रेणु ने शब्दों का चयन करने में साहित्य की पुरानी पाटी से निकलकर आम जन भाषा का प्रयोग किया है। स्थूल वर्णन के स्थान पर चेतना प्रवाह है, जिससे उसके अर्थ गंभीर और पूर्ण उत्कर्ष हो जाते हैं। रिपोर्ताज़ के वाक्य गठन, जीवंत अनुभव के कथ्य का प्रस्तुतीकरण करते हैं। रेणु ने विविध भाषाओं के प्रयोग से सूक्ष्म संवेदनाओं को उकेरा है। उनकी भाषा उनकी प्रौढ़ लेखनी का सशक्त रूप है। जहाँ एक ओर छोटे अधूरे संवाद मनोःस्थिति को दर्शाते हैं तो दूसरी ओर विवरणात्मक संवाद परिवेश का सजीव वर्णन करते हैं। रेणु का अनुभव, अनुभूति और भावनाओं की अभिव्यक्ति उनके साहित्य जगत को चरमोत्कर्ष तक पहुंचाते हैं।

संदर्भ :

1. फणीश्वर नाथ, रेणु. (2015). ऋणजल-धनजल: (प्रस्तावना). नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 11.
2. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-5. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 11.
3. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 30.
4. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 28.
5. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 242.
6. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 29.
7. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 249.
8. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 250.
9. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 191.
10. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 192.
11. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 195.
12. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 30.

13. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 244.
14. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 235.
15. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 223.
16. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 196.
17. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 250.
18. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 248.
19. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 249.
20. यायावर, भरत (संपादक). (2015). रेणु से भेंट. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृ. 74.
21. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 31.
22. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 31.
23. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 237.
24. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 237.
25. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 248.
26. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 64.
27. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 64.
28. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 250.
29. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 208.
30. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 230.
31. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 30.
32. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 194.
33. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 192.
34. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 191.
35. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 193.
36. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 193.
37. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 227.
38. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 244.
39. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 68.
40. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 82.
41. यायावर, भरत (संपादक). (2021). रेणु रचनावली: भाग-4. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 82.

Received: 14.01.2026 | Accepted: 22.01.2026 | Published: 30.01.2026

Existential Thoughts in the Bhagavad Gita and the Bible: A Comparative Study

DR. Rajeev Ranjan Tigga*

rajmusicranjan22@gmail.com

Abstract

This paper offers a comparative analysis of the existential ideas in the Bhagavad Gita and the Bible, in light of the modern existentialist philosophers Søren Kierkegaard, Jean-Paul Sartre, Albert Camus, and Martin Heidegger. Both Scriptures The Bible and the Geeta go into great detail about existentialist philosophy, which addresses the human concerns of anxiety, freedom, pain, responsibility, and death. The essay will examine existential dread in the context of Job's suffering, the words of Ecclesiastes in the Bible, and Arjuna's moral quandary in the Bhagavad Gita. It will also explore the parallel ideas of Sartre's radical freedom and Krishna's message of responsible action, as well as the similarities between Camus's idea of absurdity and the laments in the Bible. However, whereas modern existentialism tends to focus on the autonomy of man in an uncertain world, the Bhagavad Gita resolves the existential crisis through self-realization and detachment, and the Bible proposes faith and divine grace as the answer to the existential crisis.

The paper concludes that existential ideas are not only to be found in modern philosophy but also have deep roots in religious traditions, where the existential crisis is used as a tool for spiritual transformation.

Keywords:

Existentialism, Freedom, Choice, Death, Anxiety, Philosophy, Human

Introduction

Existentialism studies how people from different backgrounds experience their existence through fundamental life concepts which include their ability to choose freely and their emotional distress and their physical suffering and their power to make decisions and their quest to discover life meaning. Modern thinkers like Søren Kierkegaard, Jean-Paul Sartre, Albert Camus, and Martin Heidegger discuss these concepts through their philosophical work. The ancient religious texts explore the same themes by using spiritual and moral language. The Bhagavad Gita shows how Arjuna faces his biggest moral decision on the battlefield at the same time he experiences doubt and

* **Astt. Professor English, Govt. Sant Rameshwar Gahira Guru Ji College Bagicha,**

Dist. Jashpur, Chhattisgarh

struggles between his need to do what is right and his desire for personal gratification which is described in Bhagavad Gita 1.29. The Bible shows how people experience life in two ways through Job's battles and Ecclesiastes' view on the shortness of life (Bible, Job 3.11; Eccles. 1.2). The Bhagavad Gita helps people resolve their internal battles through its teachings about self-awareness and detachment from worldly things (Bhagavad Gita 2.47) while the Bible provides people peace through their faith in God and their obedience to His will (Bible, Rom. 1.17). This research investigates these commonalities which demonstrate that all people regardless of their cultural background and historical period experience existence-based thoughts but need spiritual methods to overcome their human anxieties and search for meaning.

Objectives of the Study

The main aim of this research is to look into existential meaning and find the thoughts of human freedom and responsibility in these two scriptures the Bhagavat Gita and the Bible. It also discovers the struggle of worrier Arjuna in Bhagwat Gita, the suffering of Job in the Bible and the Book of Ecclesiastes which defines the existential anxiety. This paper also studies how these two scriptures confront the thoughts of freedom, responsibility, and making moral choices. Additionally, the paper compares the existential worldview in these scriptures with famous modern philosophers like Jean-Paul Sartre, Soren Kierkegaard, Albert Camus, and Martin Heidegger. Finally, this paper investigates existential thinking in the Bible and the Bhagavad Gita by comparing them philosophically. The purpose of this research is to highlight similarities and distinctions in how these two texts tackle existential challenges. The aim of this paper is also to show that existential thoughts have a strong foundation in religious traditions, rather than being exclusive to 20th-century philosophy.

Review of Literature

Thus, existentialism denotes to a philosophical movement, which originated in the 19th and 20th centuries. The ultimate proponent of existential thought is the Søren Kierkegaard as he put an emphasis on personal belief, anxiety and an individual truth in existence. In “The Concept of Anxiety”, he demonstrates how freedom influences our psychological and spiritual state. Another philosophical representative of existentialism is Jean-Paul Sartre who, in “Existentialism is a Humanism” statement that humans are “condemned to be free” thus individuals bear total responsibility of themselves and the way they define themselves. In his essay entitled “The Myth of Sisyphus,” Albert Camus suggests that life is absurd, and even though there seem to no indication of any greater purpose in the universe, we continue to look for meaning in our lives. Lastly, Martin Heidegger, in his well-known book “Being and Time”, describes the notion of “being-toward-death” meaning that our knowledge of our mortality creates a greater opportunity for truthfulness in our lives.

Although these existential philosophers lived in the modern times, those looking into various world religions and philosophies have found similar existential concepts in the ancient literatures. Bhagavad Gita is one text which contains an existential paradigm and it is mainly concerned with how to make moral choices, the path one should follow in life and the nature of self.

Hypothesis of the Study

The main hypothesis of this paper is that existential philosophy is not fully a modern Western philosophical progress but is extremely rooted in ancient religious books. It is hypothesized that: The Bhagavad Gita and the Bible both deal with the essential existential concerns such as freedom, responsibility, choice, anxiety, suffering, and death. Moral crisis of Arjuna and Job's suffering signify universal expressions of existential anguish comparable to modern existential philosophy.

Fundamentally existentialism is presented as uncertain of absurd by the modern philosophers like Sartre and Camus whereas the Bhagavad Gita and the Bible deliver spiritual frameworks— faith and self-realization respectively—that resolve existential tension. Thus, religious existentialism presents a more transcendental and theistic answer to human crisis than secular existentialism.

Existential Anxiety and Crisis

The core of Existential anxiety is human awareness of freedom, responsibility, and mortality, which is different from ordinary fear because it stems from existence itself. Someone suffers from an existential crisis when he or she confronts these realities and question the meaning and purpose of life. According to Søren Kierkegaard it is the "dizziness of freedom", emerging when one realizes the weight of choice (Kierkegaard 61). In his work the Concept of Anxiety Kierkegaard explains that when a person comes to know that he is free to choose he then also realize he is responsible for his choice. Martin Heidegger links it to "being-toward-death," confronting mortality to live authentically (Heidegger 279). He connects it with authenticity where a person is free to live authentic and unauthentic life. And this leads to his theory of faith. Where as Jean-Paul Sartre highlights anxiety as a result of being "condemned to be free," responsible for shaping one's existence (Sartre 29). He further says that human are thrown to be free and that is why they are responsible for their actions. Existential philosopher Albert Camus explains the existential crisis as confronting the absurd, the tension between human desire for meaning and a meaningless universe (Camus 3). The world is absurd and thus there is no meaning in life. Existential anxiety In essence, is the inner tension caused by freedom and mortality, and crisis arises when one must direct this tension to find meaning.

Before the battle of Kurukshetra In the Bhagavad Gita, Arjuna faces deep moral anguish: "My limbs fail and my mouth is parched" (Bhagavad Gita 1.29). arjuna is very conscious about his action and the result of his action. He saw his kinsmen before him and he had to fight against them. His anguish reflects existential anxiety rooted in fear of responsibility and death. Krishna counsels him:"The wise grieve neither for the living nor for the dead" (Bhagavad Gita 2.11). seeing the pathetic condition of Arjuna Krishna resolves anxiety through realization of the eternal self: "The soul is never born, nor does it die" (Bhagavad Gita 2.20). lord Krishna brings him out from the Delema. In the same way the Bible presents existential suffering in the Book of Job: "Why did I not perish at birth?" (Bible, Job 3.11). the character Job is in despair because he has lost everything, he had his family, his wealth and he is now in very bad condition. He then is looking for death to come. This situation of Job is similar to the thought of existential Philosopher Camus where he claims that "the only serious philosophical problem is suicide" (Camus 3). Again in the book of Ecclesiastes the existential thought of pessimism is reflected: "Vanity of vanities, all is vanity" (Bible, Eccles. 1.2).

Freedom and Responsibility

Freedom of responsibility is the principal thought of existentialism.it refers to the human capability to make choices, while responsibility is the compulsion to accept the costs of those choices. Existentialists believe that nobody can escape—humans cannot avoid choosing—and this will bring profound responsibility for one's actions and the meaning of one's life. Jean-Paul Sartre: Humans are "condemned to be free" and fully responsible for defining themselves through choices (Sartre 29). The basic idea of Sartre is that the human beings are thrown into this world because there is no god and thus everyone is responsible for his action. Søren Kierkegaard remark: True freedom involves choosing authentically, often requiring a leap of faith, and accepting responsibility for moral and spiritual decisions (Kierkegaard 61). Kierkegaard id a Christian thinker he adds that freedom should be used authentically so that the result will be good. He speaks about faith and spiritual decision. And the view of Martin Heidegger is: Freedom is intertwined with authentic being-toward-death, where responsibility emerges from recognizing the finite nature of life (Heidegger 279). The conclusion is that existential thought connects freedom directly to responsibility: one cannot have choice without accountability. Thus, true freedom is always meaningful when it is followed by the responsibility. It demands moral awareness, self-reflection and acceptance of consequence.

Krishna teaches detached action: "You have a right to perform your duty, but not to the fruits thereof" (Bhagavad Gita 2.47).This emphasizes responsible action without attachment. Later, Krishna affirms freedom: "Deliberate on this fully, and then do as you wish" (Bhagavad Gita 18.63).Sartre similarly argues that humans are "condemned to be free" (Sartre 29).In Deuteronomy, the Bible presents moral choice:"I have set before you life and death… therefore choose life" (Bible, Deut. 30.19).In the Gospel of Luke, Jesus demonstrates surrender:"Not my will, but yours be done" (Bible, Luke 22.42).

Death and Meaning

In existential philosophy death plays a vital role to understand human existence. Death however reminds individual that he is a mortal being. If he is born, he has to die. Noe one in this world is immortal and thus nobody can escape this inevitable reality of death. This way it becomes necessary for one to live an authentic life. Meaning arises from how one faces freedom, mortality, and life's inherent uncertainties. This means the knowledge of perishable body will compel one to live an authentic life. Jean-Paul Sartre: Life has no inherent meaning; humans must create meaning through their actions, despite awareness of mortality (Sartre 29). Albert Camus: Confronting the absurdity of death and life's lack of ultimate meaning, humans must embrace life and create personal significance (Camus 3). All these existential thinkers explain only one thing that death is expressing life's limits. And one gets through conscious, responsible choices and authentic living. The Gita considers death as inevitable but the soul is mortal. thus, The Gita overcomes fear of death through immortality of the soul (Bhagavad Gita 2.20). Heidegger, however, argues that authenticity comes through confronting mortality (Heidegger 279). In the Gospel of John:"Whoever believes in me, though he dies, yet shall he live" (Bible, John 11.25). Jesus in the Bible explains about life and death that although the live is mortal but the one who keeps faith on him and lives according to his teachings will live even after his death. He further talks about the eternal life where everyone those

who have lived good life will enjoy with him in heaven. Thus, while existential philosophers often confront absurdity, both scriptures offer spiritual transcendence.

Conclusion

Although the Existential thought is considered as modern western philosophy of 20th century it has deep connection with ancient religious traditions. These two scriptures the Bhagavad Gita and the Bible relate the human concerns like anxiety, freedom, responsibility, suffering, death, and the search for meaning with free choice. During the battle of Kurushetra the Delema of Arjuna and Job's suffering gives the example of the universal nature of existential problems, showing that the challenges of this kind transcend culture, geography, and time.

The efforts have been made by the western philosophers like Jean-Paul Sartre, Albert Camus Søren Kierkegaard, , and Martin Heidegger offer a road map to understand existential anxiety, freedom, the creation of meaning, whereas the scriptures the Gita and the Bible give spiritual and ethical pathways to face these challenges. The Bhagavad Gita emphasizes self-realization, detached action, and alignment with dharma (Bhagavad Gita 2.47), while the Bible highlights faith, surrender, and divine guidance (Bible, Rom. 1.17).

This paper highlights that existential philosophy is not merely a teaching of ideology but it is a genuine effort to give a road map to live an authentic life. After the world war when the condition of the world was very pathetic every were there was death and chaos when the world had lost hope these writers through their thoughts taught the humanity what the meaning of being human is. They shared the feelings of new hope to this world. This research reveals that existential investigation is not merely a philosophical doctrine, but a universal human effort deeply rooted in religious and spiritual thought. By bringing together the insights of philosophy and scripture, one gains not only analytical understanding of existential crises but also practical and spiritual tools to confront life's uncertainties, embrace responsibility, and cultivate meaning. Finally, the discourse between holy texts and modern existentialism reveals that human beings, across cultures and eras, seek authentic existence, moral clarity, and a sense of purpose in a world marked by impermanence and choice.

Works Cited

Camus, Albert. The Myth of Sisyphus. Translated by Justin O'Brien, Vintage International, 1991.

Heidegger, Martin. Being and Time. Translated by John Macquarrie and Edward Robinson, Harper & Row, 1962.

Kierkegaard, Søren. The Concept of Anxiety. Translated by Reidar Thomte, Princeton UP, 1980.

Sartre, Jean-Paul. Existentialism Is a Humanism. Translated by Carol Macomber, Yale UP, 2007.

The Bhagavad Gita. Translated by Eknath Easwaran, Nilgiri Press, 2007.

The Holy Bible. New Revised Standard Version, Zondervan, 1989.

The Holy Bible. King James Version, Oxford UP, 1769.

Received: 14.01.2026 | Accepted: 22.01.2026 | Published: 30.01.2026

Understanding 'Media Ecologies' in Contemporary Times: A Comparative Analysis of *White Noise* and *Underworld* by Don DeLillo

DR. NIVEDITA BHARDWAJ*
niveditabhardwaj35@gmail.com

Abstract

The present study argues how Don DeLillo's White Noise (1985) and Underworld (1997) underscore a sustained meditation on the interrelation of waste, fear, and media in contemporary American culture. Drawing from the interdisciplinary field of waste studies, theorizing on the critical inputs of Rob Nixon and Jennifer Gabrys, the paper traces how waste is not discarded material in its entirety but is a cultural and epistemological process which happens to be shaped by the regimes of fear and media systems of the late twentieth century. DeLillo's White Noise investigates the immediate effect of waste and risk in a domestic setting whereas Underworld takes these concerns and juxtaposes them onto a national and historical scale. The toxic catastrophe of White Noise is a consequence of consumer culture; however, in Underworld, DeLillo discusses waste as an archive of Cold War memory and an outcome of media spectacle. A comparative study of the two novels delineates how media becomes a modus operandi for circulating fear, obscuring environmental accountability, and transforming waste into a defining condition of American subjectivity. Together, these three form a feedback loop that dictates the cultural consciousness.

Keywords: *Waste; Fear; Media; Spectacle; Don DeLillo*

Introduction

The contemporary American author Don DeLillo is a predominant figure in critiquing the late twentieth century American culture of consumerism and its suspended existence in a hyperreal setting. Through his oeuvre, the author interpellates the cultural consciousness of contemporary America, leading to a systematic analysis of its media, technological systems and the anxieties that are a result of this hyperreal existence. DeLillo has interrogated these public expressions of private moments vehemently across his writings, detailing how the publishing of such occasions in the media forums leads to an overwhelming sentiment. He furthers this argument by discussing how the media apprehends history by replaying the moment of terror and inadvertently circulates fear through images, excusing the immediate threat. In the select fiction, DeLillo crystallizes these concerns despite the two novels being published almost a decade apart. It is the author's way of informing the interconnectedness of the issues.

* **Assistant Professor, Dept. of English and Communication Studies**

Akal College of Arts and Sciences, Eternal University, Baru-Sahib, Himachal Pradesh, 173101

DeLillo's fiction has been critically analyzed from various postmodernist perspectives. Prominent critics like Thomas LeClair (1987), Mark Osteen (2000), Christian Moraru (2001), Leonard Wilcox (2002), Cornel Bonca (1996), James Berger (1999), Peter Boxall (2006), and Martin Paul Eve (2012) have discussed his fiction through the lenses of power structure that dismantle the predominant narratives established by an existence which is situated in media, myths and conspiracies, resulting in a modern day America whose landscape has transformed into a technoscape. This contemporary America has grown accustomed to the role that media plays because it is the subsequent saturation caused by excessive circulation of images that has desensitized the common man since the society has witnessed televised violence, universalized the American dream, and promoted the technoscape into a digitalized mediascape from which no truth escapes. 'Truth' is replaced with virtual dominance, and America engages with these subtle motifs as they are the structural forces that shape the collective American consciousness.

The existing criticism on the select fiction has investigated the ideas of 'media saturation' in Bloom (2004) and Osteen (2000), cultural fear in Scanlan (2001), technoscientific ambivalence in Mustazza and Day (1994), and ecological politics in Deitering (1996) and Buell (2001), but it becomes pertinent to understand the select fiction through the lens of waste studies since it provides the necessary framework for understanding how the American 'refuse' in contemporary times is not just garbage or by-product but symbolizes exclusion and invisibility alongside an avoidance that can be used to scrutinize the ever-evolving technical landscape which has reasonably converted into the American mediascape. DeLillo's select fiction thus displays the inherent power structures which are at play in these mediascapes but have their roots in the rise of power, media, risk and technology vested in the American conscience.

DeLillo's *White Noise* was published in the year 1985 and is a critical discussion on how the microcosmic experience of fear and waste in a suburban American neighbourhood is representative of the largely consumer-driven America that unleashes catastrophes that are primarily man-made. On the contrary, *Underworld*, published in the year 1997, offers the readers a macrohistorical look into the Cold War, nuclear technology and the anxiety which argues for the accumulation of cultural refuse. The select fiction thus foregrounds waste as 'material' that is 'informational' and 'historical', demarcating how it is a feature of contemporary and modern existence. The author discloses how waste is never discarded in America; it is repurposed through a constant circulation in media systems and is subsequently used to generate fear, furthering the structural view of how individuals and nations remember themselves.

The paper, through its comparative analysis, attempts to foreground how the three axes of waste, fear and media interplay with each other to articulate the cultural logics of that society which has reached the point of saturation of both the 'representation' as well as the 'refuse'. Drawing from the interdisciplinary field of waste studies that examines waste as socially meaningful, culturally produced and politically charged rather than 'inert' as argued by Nixon (2011) and Gabrys (2011), the paper argues that the select fiction fills the gap in understanding by demonstrating a direct relationship between media and fear, where both are a direct consequence of media culture. It also aims at identifying how the modern media of contemporary times acts as a conduit for the circulation of waste that stimulates the development of cultural anxiety. It furthers the discussion on how waste acts as the central organizing principle across both novels—not what the society

discards, but something that the society refuses to confront in a historical, environmental and ethical manner.

Review of Literature

Don DeLillo published *White Noise* in the year 1985. The novel is primarily seen as an epitome of postmodern literature and discusses an America which is seen through the eyes of Jack Gladney, who does not comprehend the evolving technological praxis. The protagonist is a professor of Hitler Studies and is certain that this same praxis will engulf the world in a catastrophe. The domestic setting of the novel showcases how 'anxiety' about death is not ambiguous in itself but is a consequence of existing in times where the contemporary American culture is rendered possible only due to excessive mechanization that can chance inevitably fail. *White Noise* critically engages criticism that upholds the argument about media saturation as argued by Mark Osteen in *American Magic and Dread: Don DeLillo's Dialogue with Culture*, who states that the novel is a narrative that "entangles everyday life in media imagery and soundscapes," in such a fashion that the characters are unable to remove themselves from the realities represented in media and the actual lived realities (45). The prominent critic Harold Bloom in his edited collection *Don DeLillo's White Noise* situates this novel within the larger canon of literature that represents American postmodernism. He develops the argument of how the media shapes the subjectivity and consciousness of its recipients and acts as the force that displaces the transcendent meaning (78).

On the contrary, in *Underworld*, published in the year 1997, DeLillo uses the historical archives to create a complex plot that raises a lot of arguments. The novel examines America through the eyes of Nick Shay, who is a waste management executive and interprets America through the lens of a rising technological-economic complex alongside the arrival of the Cold War, nuclear power and the 'waste disposal systems'. There are numerous subplots and subsidiary stories in the novel that supplant the argument of how the media transcends all boundaries and is as omnipotent as the god that Americans believe in. Critics like Thomas LeClair and Lawrence Buell read this novel as a display of cultural history that has incorporated events shown in media into the fabric of national memory. LeClair in *In the Loop: Don DeLillo and the Systems Novel* argues that the systems-novel approach treats media, especially in the case of a televised spectacle, since it is then seen as part of the connective tissue that binds the disparate characters and eras (12). Buell, on the other hand, extends this argument by examining the novel through an ecological lens, furthering the discussion by stating that media representations of the nuclear and the domestic reinforce the cultural denial of environmental degradation (35).

Therefore, the earlier critical readings of both novels express how the texts foreground the informational overload within the larger structures of power grids across America. *White Noise* expresses the fear that is less articulated and more televised, whereas *Underworld* argues for a historical spectacle that is inseparable from its visual representation. Pertinent DeLillo critics like John N. Duvall (2002) and Leonard Mustazza and Frank Day (1994) emphasize how *Underworld* as a novel expresses a mediated memory of the Cold War.

'Fear' is hence seen as a crucial point of debate and criticism in both novels. In her influential and seminal text *Plotting Terror: Novelists and Terrorists in Contemporary Fiction* (2001), Margaret Scanlan discusses how DeLillo's fiction has highlighted the failure of language in

the face of media-driven fear. She states that *White Noise* discusses an 'ambivalent fear' which is a direct consequence of the technoscientific risk narratives, all of which have been amplified by the media (24). The risk in the novel, therefore, is not localized but generalized because the characters begin to fear everything from the 'Airborne Toxic Event' (ATE) to the idea of death itself. The supermarket in this novel becomes the epitome of the most critically cited spaces because it acts as a site of not mere consumption but as a point of junction in the circuit between the trifecta of waste, media and fear. The protagonist, Jack Gladney, is at ease amidst the 'bright packaging' and the orderly aisles (*White Noise* 36). This reassurance, however, exemplifies a paradoxical approach where 'waste' is hidden in packaging that represents freshness and conceals the disavowal despite the abundance.

Using the lens of waste studies, it can be conceded that the supermarket becomes the site where temporal deferment of waste occurs. The packaging, preservatives and an abundance of consumables typify a system of postponing eventual decay despite guaranteeing it simultaneously. Gabrys's argument of waste as a set of ongoing material relations rather than a fixed endpoint can be utilized to understand how supermarkets create an illusion of endless renewal while generating a massive quantity of refuse in the form of plastic, expired goods and chemical residues (18).

The use of media further creates saturation in this space. It is representative of the Baudrillardian idea of simulation through a constant dispersal of announcements via loudspeakers, brand logos and advertisements. All these transform the simple supermarket into what Osteen describes as a "controlled semiotic environment" where meaning is only produced through conscious repetition (44). Fear, therefore, is constantly simulated, and the supermarket becomes a preventive measure against the anxiety of death by substituting consumption for existential reckoning.

Peter Knight extends this criticism to encompass DeLillo's *Underworld* to underline the nuclear imagery as a way to sustain cultural trauma through repeated media replay. Knight's argument theorizes how fear is often institutionalized through cultural imaginaries because the nuclear threat becomes the key principle of organizing history and everyday consciousness (133). In the novel, the landfill becomes the central argument of the refuse economy of America. Nick Shay, a waste management executive, is placed at the centre of this argument. According to Jennifer Gabrys, the landfill is considered the 'material archive' that stores the remnants of consumption, ideology and history (18). DeLillo's novel thus becomes a testimonial of how garbage can be translated into a historical account since "every object was once touched by human hands" (*Underworld* 287). The contemporary status of refuse in America, thus, can be read as a challenge to any dominant narrative that states that waste is anonymous or inert.

Cynthia Deitering, a critic in the tradition of ecological literary studies, reads the postnatural settings in DeLillo's fiction as an indictment of American capitalism. She argues that such environments exemplify the environmental unconscious of Cold War prosperity that readers are compelled to confront (199). She furthers the argument by stating the role of media and how it renders waste as obsolete and invisible, reframing it as a logistical issue rather than an ethical one.

The paper builds on these forms of criticism and considers the environmental and waste-oriented critical lenses to dissect the meaning in DeLillo's writings. Rob Nixon's conceptual theory

of slow violence is applied to the discussions on toxicity and the rise and permanence of nuclear power, and Jennifer Gabrys' work on waste as a process offers the theoretical tool to analyze the select fiction by DeLillo.

Theoretical Framework

Waste studies is a discipline that is an outcome of the intersection of anthropology, environmental humanities, and media studies. In Rob Nixon's seminal text *Slow Violence and the Environmentalism of the Poor*, published in the year 2011, the author delineates that environmental degradation is an invisible and cumulative form of violence that often affects marginalized communities more than the rest (3). The critical assessments of Jennifer Gabrys emphasize how waste is a process rather than a byproduct, often created by systems that render certain materials and bodies expendable. Susan Strasser, on the other hand, offers a critical social perspective on the biography of garbage, arguing that the material refuse of any society reveals its underlying values and structures of power (5).

DeLillo's fiction has been studied from other postmodern perspectives, but is not yet sufficiently scrutinized through the lens of waste studies. Cynthia Deitering, in her analysis of the postnatural novel, notes that the settings in fiction of the 1980s are centred around supermarkets, highways and landfills which together form a composite ecology of abandonment (196), whereas Lawrence Buell analyses *Underworld* as a repository of the outcomes of late capitalism's refusal of ecological accountability (237). A comprehensive study that bridges these concerns across both select novels by DeLillo is what the present paper addresses.

Gabrys, in her analysis, states that 'refuse' is not merely material but is a socially produced category that can be used to understand the systems of valuation, exclusion and power (7). She concludes that refuse does not simply appear but is designated, managed and circulated through the careful use of economic, political and media systems. Waste studies thus sees garbage as the signification of boundaries established by society, where it carefully chooses what to see and what to ignore. The social, political and technological intersections determine the value of anything. It is the same system that discards whatever is not needed. Hence, waste does not become an end to a process, but becomes an ongoing condition.

In Nixon's critique, environmental harm is unfolded gradually and invisibly; therefore, it becomes difficult to portray the same in the dominant media systems because narratives are often controlled by the privilege of spectacle and immediacy. DeLillo, in the select fiction, writes about toxic clouds, nuclear residues and landfills, which aptly represent the tensions between the slow degradation of the environment and the representation of spectacle in media. The conceptual underpinnings of media theory further complicate this scenario where Ulrich Beck discusses the idea of a risk society where media does not only report danger but constructs the risk consciousness actively (23). Thus, it becomes evident that fear is an ambient entity that is circulated independently of direct experience. In the selected fiction, it can thus be postulated that the media acts as both the mechanism through which responsibility is displaced and the modus operandi through which fear is distributed, as 'waste' is rendered both visible and abstract simultaneously. It can thus be used to criticize the contemporary culture where the management of 'excess', be it material, information or fear, is a central tenet.

In *White Noise* the setting reveals the ecology of consumption and discard because DeLillo writes about the everydayness of life where accumulation and disposal are important aspects of city-life. According to Osteen, the setting of the supermarket functions as an example of a controlled semiotic environment that signifies the consumer culture. It acts as the site where products, images and bodies are circulated without any concern for permanence (50), which proves the Baudrillardian idea of being suspended in a state of simulation with constant exchange of signs and consumption of the same. The incident where toxic chemicals are released is subsumed by the media system because the characters are exposed to coverage loops of images of hazmat suits, warnings and public speculation that further cement the creation of a 'media event'. This is the point in the novel where media is seen as a powerful machinery that refracts the fear of death, contamination and uncertainty by dominating the characters' experience of the event instead of understanding the event itself.

This recycling of images by the media is therefore not merely a moment of crisis but is in itself a media-inflected moment in which all boundaries of representation and experience are collapsed. DeLillo discusses the idea of death by situating it in both bodily mortality and the cultural erasure of individual identity in his novel. Media amplifies this fear of death through an endless circulation of images of risk, health scares and safety products. The characters thus turn to drugs, lists and consumer rituals in an attempt to manage anxiety that is 'produced' rather than alleviated by media. On the contrary, DeLillo's *Underworld* argues for how the landfill from which the dumped baseball is retrieved at the end of the novel acts as a site of not just physical waste but also as an archive of cultural memory and national history. The novel frames this mass of waste as available to excavate culturally through refuse. DeLillo's landfill, hence, is a repository of discarded dreams and lost narratives. The author also renders the images of nuclear tests, fallouts, and political tensions visible to demonstrate how media preserves, refracts and mythologizes 'fear', thus ensuring that cultural waste continues to resurface. This sustains the argument about how, in the collective consciousness of the society, fear has been made permanent (Knight 136), and the media enforces the persistent replay of these images to create a cultural obsession with threat, unlike the fear that is circulated in *White Noise*.

The media also portrays itself as a powerful force through which the characters reflect upon the deep entanglements with images and their individual identity, because old broadcasts, news footage, and forgotten recordings come together to shape the personal identity of characters like Nick Shay in *Underworld*. Media and subsequent media artefacts, therefore, act as a conduit of memory that carries the traces of fear, waste and cultural anxiety. DeLillo, in his fiction, thus intersects personal narratives with broader systems, suggesting how these artefacts like photographs, broadcasts, and recordings themselves mediate identity and store it like waste that can be subjected to retrieval and is also open to reinterpretation.

Comparative Analysis

Reading the selected fiction together articulates how DeLillo has critiqued late modernity. It is evident in both novels that waste is inseparable from media systems and fear production. The scales may differ: *White Noise* foregrounds immediacy and anxiety in a domestic setting, whereas *Underworld* emphasizes duration, accumulation and historical residue. However, both texts exemplify how the media is utilized to transform waste into spectacle and fear is turned into a mode

of governance, thus justifying how waste is not permanently removed but only deferred, displaced and aestheticized. DeLillo's writings hence force the readers to confront this production of waste and its implications.

DeLillo shows how waste is not merely physical but is an outcome or a cultural symptom of late capitalist production. In *White Noise*, waste is seen as quotidian; it is in the supermarket, Airborne Toxic Event debris, and even in the consumer packaging, thus showing how waste is domestic and immediate. *Underworld*, on the contrary, constructs waste as historical, systemic and national, as represented in the scrap, landfills and in obsolete broadcast footage. This difference in scale of representation underscores a shift in the scope of how waste moves from everyday life to a national archive, where it becomes a repository of cultural memory and acts as a site of structural amnesia. Yet in both novels, the media mediates the appearance of waste, its circulation and how it affects the combined consciousness of the society.

Fear, as investigated in both novels, is seen through the lens of the media. The media system defines the boundaries of fear in the selected fiction. In *White Noise*, fear moulds into risk narratives, as witnessed in the coverage of the Airborne Toxic Event, because this coverage furthers the construction of anxiety around all uncertainties that are replayed via broadcasts repeatedly. In *Underworld*, the same fear is crystallized around nuclear images that have been circulated so much that they have become a part of cultural memory through constant recycling and repurposing. DeLillo thus uses 'fear' not as purely material but rather as a form of representation which has been looped in through the continuous use of signs that return the viewer to the media systems that exercise control over the spectacle and its meaning.

DeLillo explores the power of media and its functions in contemporary times and equates it to waste because it is used to produce by-products like noise, repetition, discarded narratives and forgotten backstories, which are symbolic of a cultural life of their own. Television, the news, archive footage and an unending stream of repeated images function both as propagators of fear and also mask the material realities of waste and contamination. It is supported by the arguments raised by Jennifer Gabrys, who concurs that waste is a process through which meaning is both thrown and retrieved, and this process is amplified by media by transforming images into something ultimately disposable (7).

Conclusion

DeLillo's selected fiction presents an interlinked yet powerful vision of America and its cultural prowess that is presently defined by the presence of waste, fear and media. Using the lens of waste studies, these themes reveal the presence of cultural refuse and the underlying structures that help in their production, as well as the anxiety that Americans harbour in contemporary times. DeLillo uses waste as a cultural mechanism to expose how media systems, technologies of fear, and consumer production shape the collective identity and memory. It also becomes pertinent to discuss how the integration of waste studies clarifies how refuse and risk are never external to media but are inherent, coproduced and circulated through images, broadcasts and cultural narratives that define how the world is understood.

Works Cited

Beck, Ulrich. *Risk Society: Towards a New Modernity.* Translated by Mark Ritter, Sage Publications, 1992.

Bloom, Harold, editor. *Don DeLillo's White Noise.* Chelsea House, 2004.

Bonca, Cornel. "Don DeLillo's White Noise: The Natural Language of the Species." *College Literature,* vol. 23, no. 2, 1996, pp. 25–44.

Boxall, Peter. *Don DeLillo: The Possibility of Fiction.* Routledge, 2006.

Buell, Lawrence. *Writing for an Endangered World: Literature, Culture, and Environment in the U.S. and Beyond.* Harvard UP, 2001.

DeLillo, Don. *Underworld.* Scribner, 1997.

DeLillo, Don. *White Noise.* Viking Press, 1985.

Deitering, Cynthia. "The Postnatural Novel: Toxic Consciousness in Fiction of the 1980s." *The Ecocriticism Reader: Landmarks in Literary Ecology,* edited by Cheryll Glotfelty and Harold Fromm, U of Georgia P, 1996, pp. 196–203.

Duvall, John N. *Don DeLillo's Underworld: A Reader's Guide.* Continuum, 2002.

Gabrys, Jennifer. *Digital Rubbish: A Natural History of Electronics.* U of Michigan P, 2011.

Kellner, Douglas. *Media Culture: Cultural Studies, Identity, and Politics Between the Modern and the Postmodern.* Routledge, 1995.

Knight, Peter. *Conspiracy Culture: From Kennedy to The X Files.* Routledge, 2000.

LeClair, Tom. *In the Loop: Don DeLillo and the Systems Novel.* U of Illinois P, 1987.

Moraru, Christian. *Rewriting: Postmodern Narrative and Cultural Critique in the Age of Cloning.* SUNY P, 2001.

Mustazza, Leonard, and Frank Day, editors. *The Critical Response to Don DeLillo.* Greenwood Press, 1994.

Nixon, Rob. *Slow Violence and the Environmentalism of the Poor.* Harvard UP, 2011.

Osteen, Mark. *American Magic and Dread: Don DeLillo's Dialogue with Culture.* U of Pennsylvania P, 2000.

Scanlan, Margaret. *Plotting Terror: Novelists and Terrorists in Contemporary Fiction.* U of Virginia P, 2001.

Strasser, Susan. *Waste and Want: A Social History of Trash.* Metropolitan Books, 1999.

Thompson, Michael. *Rubbish Theory: The Creation and Destruction of Value.* Oxford UP, 1979.

Received: 15.01.2026 | Accepted: 22.01.2026 | Published: 30.01.2026

Themes and discourse in Modern Arabic literature and Hindi literature: A Comparative sketch

Santosh Kumar*

sktasu1234@gmailcom

Abstract:

This study compares modern Arabic and Hindi literatures. Both began in the 19th century because of colonialism, print culture, and nationalist movements. They moved away from old classical styles to realistic stories, new prose, and strong social criticism. Writers used literature to build identity, fight colonial rule, and revive culture. The Modern Arabic literature grew from the Nahda (Arab Renaissance). It deals with nationalism, exile, tensions between secular and Islamic ideas, and mixing Western influences. Modern Hindi literature started to grow under British rule. Reformers like Bharatendu Harishchandra led the way. It focuses on caste oppression, gender inequality, rural poverty, and the pain of Partition. Though different—Arabic often looks at pan-Arab exile and religious debates, while Hindi stresses internal social problems and reform—both use mixed modern forms to critique postcolonial life and seek renewal. In the end, both literatures act as powerful tools for resistance, self-empowerment, and hope during global and local crises.

Keywords:

modern Arabic literature, modern Hindi literature, nationalism, colonialism, postcolonial identity

Modern Arabic and Hindi literature both show big changes in how people express culture. These changes came from colonialism, the rise of printing, and nationalist movements. Writers used stories, poems, and plays to criticise society and build national identity. Modern Arabic literature started in the mid-1800s. It links to the Nahda (Arab Renaissance). This grew out of Ottoman reforms, Napoleon's 1798 campaign to Egypt, and Muhammad Ali's reforms. Several writers, such as Tahtavi, went to Western countries and adopted Western styles, including novels and drama. Later, they introduced these to Arabic literature. They also used journalism and translations. They moved from fancy classical styles to real-life stories and national pride. They highlighted the Western influence, identity, and social problems. Presses in Cairo and Beirut helped create public discussions. M. M. Badawi says: "The Nahda represented a cultural revival where literature evolved from traditional forms to engage with modernity, incorporating European influences while revitalising Arabic heritage.[1]" The "modern" part comes from breaking old ways: more secular ideas, fighting imperialism, and connecting globally. For example, Jurji Zaydan's historical novels blended fact and fiction to foster national awareness. Modern Hindi literature began around 1800.

* ***PhD Candidate, CAAS/SLL&CS, JNU- New Delhi***

British rule, Fort William College's work on language, and missionary printing pushed it forward. They separated Khari Boli prose from Urdu. It left behind old styles—like epic poems in Adikal, devotional works in Bhaktikal, and refined court poetry in Ritikal. Now prose focuses on social issues and patriotism. Colonial projects led to translations and new works. Reformers like Bharatendu Harishchandra used them for cultural revival. His play Andher Nagari (1881) mocked colonial rule. It helped push "High Hindi" with more Sanskrit words. Ramchandra Shukla wrote: "Modern Hindi literature emerged as a response to colonial linguistic policies, creating a standardised prose for national awakening."[2] The "modern" label here comes from the spread of print-making ideas. It helped talk about caste, education, and freedom.

Both literatures follow similar but different paths over time. In Arabic Literature, it goes back to old poetry from *Jahiliyyah* (6th-7th centuries), to praise poems under the *Umayyads*, and to Persian/Greek ideas in *Abbasid times*. After Mongol attacks and Ottoman rule, styles split by region. But the 19th century brought major modern changes through Egyptian reforms and the spread of printing. Shawqi Dayf explains: "The transition to modern Arabic literature involved rejecting classical constraints for social realism, as seen in early occasional poems that critiqued power."[3] Hindi begins with vernacular poems in *Adikal* (10th-14th centuries), *Bhaktikal* devotional poetry (such as Kabir's couplets), and *Ritikal* court styles. From 1800, prose took over due to British efforts and Bharatendu's era. It pushed *Swadeshi* (self-reliance) ideas. Sujata S. Mody says: "Hindi's modern phase unified diverse dialects against colonial dominance, paralleling global nationalist literatures."[4] Both hit key points in the 19th century with print and nationalism. Arabic's Nahda is like Hindi's revival. They used writing to fight the empire and build identity. Modernity here means mixing old and new to handle a crisis. Arabic modernity emerged from the decline of the empire and European pressure. It mixed Islamic roots with Western realism to criticise old ways. Taha Hussein's Al-Ayyam (1929) questions traditional learning. J. Brugman notes: "Modern Arabic writers navigated cultural hybridity, using narrative to explore alienation amid Westernisation."[5] The Quran shaped prose, but modernity made it fit today's world. Hindi modernity fought to keep the local language alive. Premchand's *Godan* (1936) shows rural poverty and caste issues. Ramchandra Shukla says: "The Bharatendu period marked Hindi's shift to reformist prose, blending bhakti roots with social commentary."[6] Both show "ideological modernity." They respond to global changes. Literature becomes a tool for nation-building. It keeps old treasures while creating new postcolonial voices. Scholars see these links. Ahmed Idrissi Alami says: "Comparative studies reveal how both literatures employed themes of resistance to assert cultural sovereignty."[7] Journals look at anti-colonial ideas in both. Differences exist, too.

Arabic deals more with religion vs. secular ideas. Hindi focuses on caste. But print changes sped things up in both—Arabic presses in Cairo match Hindi translations from Serampore. In the end, modernity means a living tradition that responds to outside forces. Both modern Hindi and Arabic literatures grew from 19th-century colonial meetings, national awakenings, and mixed forms. They turned writing into tools for resistance and self-teaching. They use realism, new experiments, and social critique to address big questions such as existence, identity, and power. Arabic literature focuses on nationalism, cultural identity, resistance to colonialism, and the tension between old traditions and new ways. This stems from the Nahda and later events, such as wars and rule by strong leaders. Nationalism is reflected in ideas of Arab unity and love for the homeland

(watan). Exile, especially for Palestinians, and resisting the empire fill many stories. Themes of belonging grow from romantic nationalism to sadness after 1967.Identity issues come from secular vs. Islamist fights, feeling alone, and mixing with the West. Modernist poets like Badr Shakir al-Sayyab used Christian myths and Western tales to connect East and West after WWII. One source notes that this blending fights ideas of cultural weakness.[8] Feminism grows in newer works. It challenges male power and looks at women's freedom under political pressure. Existential ideas appear after defeats. They rethink commitment (iltizām) and secular nationalism since the 1990s. Recent works blend realism, prose poetry, and magic to deliver hidden critiques.[9] Novels like Naguib Mahfouz's Cairo Trilogy look at social change, class, and personal freedom. Poetry often covers love (once 70% of it), politics, and real life. Hindi literature matches with nationalism, social reform, caste issues, gender inequality, and city life. It moves from Bharatendu's patriotic energy to post-freedom experiments. Early works push swadeshi, independence, and cultural revival against British rule. Premchand's stories critique poverty and unfairness.Newer poetry shows Marxist ideas for action against oppression. Left poets address peace and inequality.[10] Feminism questions male control, body rights, and links to caste/class/religion. It shows women's fight and self.[11] Themes now include city loneliness, mental health, moving for work, environment, and tech. Namvar Singh traces shifts from romantic Chhayavad to experiments in Nai Kavita.[12] Shukla stresses reform in prose on caste and old beliefs. New works explore mixed identities and Partition trauma. Both use writing for social-political critique: Arabic with religion-secular fights and postcolonial questions; Hindi with caste-gender links and socialist ideas. Love themes modernise—Arabic adds politics to romance; Hindi mixes devotion with real feelings. Nationalism builds identity in crisis. Arabic stresses wide exile and religious mixes. Hindi highlights internal unfairness and local strength. Print and global ideas boost these shared talks. Literature mirrors group struggles and hopes for better days. Both share nationalism and anti-colonial resistance. Writing asserts cultural power and attacks the empire.In Arabic, nationalism is expressed through pan-Arab unity, homeland imagery, and opposition to the West. It moves from Nahda to sadness after the 1948 Nakba. Writers like Mahmoud Darwish and Tayeb Salih show identity through exile. Homeland feels broken but strong. One source calls exile a way to question belonging.[13] Hindi shows it in swadeshi, anti-British feelings, and revival. Bharatendu's works and Premchand critique exploitation. Post-Partition stories handle trauma and split identities—like Arabic exile. Both use real styles and symbols to rally against unfairness. Nationalism unites while mixing old ways with new forms. Identity crises and cultural mixes appear under Western pressure. Arabic writers handle secular-Islamist pulls, loneliness, and East-West fights. They use Western symbols for protest.[14] Hindi writers faced caste, class, and gender in colonial times. They blend devotion with socialist critiques of inner unfairness. Feminism in both fights patriarchy—Arabic in political chaos; Hindi with caste links. City life and moving bring loneliness. Postcolonial ideas show a rethink of modernity and a critique of it. They mix outside influences instead of rejecting them.[15] Differences: Arabic centres on religion-secular debates, wide exile (like Palestinian), and diaspora. It looks at strong rule, defeats (post-1967), and deep commitment. Exile stands for big breaks. Hindi stresses inner issues—caste, rural unfairness, regional selves—from local structures made worse by the colony. Arabic often gives rise to broad or pan-Arab views. Hindi looks inward at the pain of partition and internal inequality. Arabic modernism employs deep or symbolic protest (such as Christ as a fighter). Hindi moves from real social stories to experiments on daily fights. These come from the Ottoman-to-West shift in Arabic

vs. Hindi's direct British rule and language fixing. Overall, both show a postcolonial spirit: writing as resistance and a fresh start. Arabic focuses on the wide and the deep; Hindi on the social and the local. They turn colonial meetings into power claims. They keep memory while trying new forms. Modern Arabic and Hindi literatures mix their histories, themes, and comparisons. They show lasting value through key writers and poets. Both began in colonial modern times and in national energy. They stay strong in the face of critique, and they find strength and hope in today's challenges. Arabic literature's strength lies in its deep engagement with exile, identity, and political duty. It grows from Nahda to thoughts on failed secular rule and ongoing displacement. Writers turn pain into big symbols of fight. Mahmoud Darwish, Palestine's poet, says exile is more than a geographical concept: "Exile is more than a geographical concept. You can be an exile in your homeland, in your own house, in a room." It shows belonging in broken times. He adds hope: "Without hope, we are lost." Naguib Mahfouz sees literature as a mirror of life's opposites: "Life is all... but one fleeting glance." It stresses the importance of a short but meaningful life in a changing society. Taha Hussein critiques old education. Adonis explores mixes of cultures. New writing rethinks commitment from old ruins—with doubt and new ways—while keeping hope.[16] These voices keep Arabic alive in pan-Arab and diaspora fights. They hold memory and fit the global world. Hindi literature leaves a mark of social change, human realness, and inward nationalism. It handles caste, gender, rural unfairness, and postcolonial self through clear prose and changing poetry. Premchand says literature must help the weak: "There's no greater school that teaches life experience than its own challenges." His Godan calls for change. Harivansh Rai Bachchan inspires keep-going: "Those who keep trying never fail." It fits the new poetry's focus on personal strength. Nirala and Mahadevi Verma add women's power against old rules. Shukla shows Hindi's growth through reform prose and devotion-based critiques.[17] New views see Hindi as a mirror of India's inner unfairness and hopes for progress. It mixes socialist ideas with new forms for awareness.

In the end, both share postcolonial fight and renewal: Arabic through wide exile and deep questions; Hindi through local justice and language revival. They meet in using mixed forms to challenge control while keeping their old roots. They differ in reach—Arabic's global deep focus vs. Hindi's social inward look. They last as forces for hope and action. Darwish grows hope "like prisoners, and the jobless do." It aligns with Premchand's call to confront difficulties. Studies show both remake modernity as an ongoing mix, not a break. They teach cultural strength and human respect for tomorrow.

Reference:

[1] Badawi, M. M., editor. Modern Arabic Literature. Cambridge UP, 1992, pp. 1-35.

[2] Shukla, Ramchandra. *Hindi Sahitya ka Itihas.* Lok Bharati Prakashan, 2000, pp. 345-367

[3] Dayf, Shawqi. Tarikh al-Adab al-Arabi: Al-'Asr al-Hadith. Dar al-Ma'arif, 1995, pp.46-58

[4] Mody, Sujata S. The Making of Modern Hindi: Literary Authority in Colonial North India. Oxford UP, 2018, pp. 1-50. DOI: 10.1093/oso/9780199489091.001.0001.

[5] Brugman, J. An Introduction to the History of Modern Arabic Literature in Egypt. Brill, 1984, pp. 33-40

[6] Shukla, Ramchandra. *Hindi Sahitya ka Itihas.* Lok Bharati Prakashan, 2000, pp. 389-412.

[7] Alami, Ahmed Idrissi. "Nation and Identity in Modern Arabic Literature in Egypt." A Companion to African Literatures, edited by Olakunle George, Wiley-Blackwell, 2021, pp. 123-145. DOI: 10.1002/9781119058199.ch8.

[8] Gouhar, S. M. "Modernist Arabic Literature and the Clash of Civilisations." Rupkatha Journal, 2010, www.rupkatha.com/0109modernistarabicliterature.pdf.

[9] Halabi, Zeina G. "The Contemporary in Arabic Literature." World Humanities Report, 2023, worldhumanitiesreport.org/wp-content/uploads/2023/05/WHR-AR_4.TranslatingTraveling_Halabi.pdf.

[10] Strelkova, G. V. "Socially-engaged narrative in contemporary Hindi poetry." RUDN Journal of Literary Criticism, 2023, journals.rudn.ru/literary-criticism/article/view/35464/en_US.

[11] Kostova, E. "Feminist Discourse in Indian Literature: A Sociocultural Perspective." Humanities Research Journal, 2025, www.humanitiesresearchjournal.com/uploads/archives/20250613153817_1.pdf.

[12] Singh, Namvar. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां. Lokbharti Prakashan, 2018, prayog.pustak.org/index.php/books/bookdetails/2392.

[13] Representations and Visions of Homeland in Modern Arabic Literature." Academia.edu, 2016, www.academia.edu/27954331/REPRESENTATIONS_AND_VISIONS_OF_HOMELAND_IN_MODERN_ARABIC_LITERATURE.

[14] Gouhar, S. M. "Modernist Arabic Literature and the Clash of Civilizations Discourse." Rupkatha Journal on Interdisciplinary Studies in Humanities, vol. 2, no. 3, 2010, pp. 1-12, www.rupkatha.com/0109modernistarabicliterature.pdf.

[15] Hassan, Wail S. "Postcolonial Theory and Modern Arabic Literature: Horizons of Application." Comparative Literature Studies, vol. 39, no. 1, 2002, pp. 45-67, DOI: 10.1353/cls.2002.0009 (JSTOR stable/4183446).

[16] Halabi, Zeina G. "The Contemporary in Arabic Literature." World Humanities Report, 2023, worldhumanitiesreport.org/wp-content/uploads/2023/05/WHR-AR_4.TranslatingTraveling_Halabi.pdf.

[17] Shukla, Ramchandra. Hindi Sahitya ka Itihas. Lok Bharati Prakashan, 2000, pp. 389-412.

Received: 15.01.2026 | Accepted: 22.01.2026 | Published: 30.01.2026

श्री अरविन्द का शैक्षिक दर्शन

डॉ. रवेन्द्र राजपूत*
ravendrarajput@hotmail.com

शोध सारांश

श्री अरविन्द घोष का जन्म कलकत्ता के घोष परिवार में 15 अगस्त 1872 में हुआ था। पिता श्री डॉ. कृष्णा धनघोप एवं माता स्वर्णलता देवी थीं। लारेट कान्वेट दार्जिलिंग में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद 1879 में आप इग्लैण्ड गये तथा 1885 में सेन्ट पाल स्कूल में प्रवेश लिया तथा उच्च शिक्षा प्राप्त करके भारत वापस आ गये। बड़ौदा राज्य में लगान वन्दोवस्त, स्टाम्प एवं रेवेन्यु आदि विभागों में कार्य किया तथा बडौदा राज्य में महाविद्यालय के व्याख्याता के रूप में नियुक्त किये गये। 1901 में आपका विवाह मृणलिन के साथ हुआ 1918 में मृणालिनी परमपद को प्राप्त हो गयीं। आपने राजनीतियों 1905 से 1910 तक सक्रिय कार्य किया इसी बीच आपको 1 वर्ष जेल भी जाना पड़ा। आप 1910 में पाण्डुचेरी में साधना में लीन हो गये और परम शक्ति की प्राप्ति हुई। अन्तिम समय इसी आश्रम में व्यतीत करते हुए 2 दिसम्बर 1950 को इह लीला समाप्त कर परमधाम को चले गये। श्री अरविन्द ने अपने प्रायः आध्यात्मिक विकास का क्रम शिक्षा दर्शन पर आधारित किया है। वे कहते हैं- "सच्ची एवं वास्तविक शिक्षा केवल वही है जो मानव की अन्तर्निहित समस्त शक्तियों को इस प्रकार विकसित करती है कि वह उनसे पूर्ण रूप से लाभान्वित होता है।"

बीज शब्द-

प्रारम्भिक, बदोबस्त, व्याख्याता, नियुक्त, साधना, परम शक्ति, परमधाम, आध्यात्मिक, अन्तर्निहित, लाभान्वित, वास्तविक।

पं. श्रीदत्त त्रिपाठी के शब्दों में - "श्री अरविन्द घोष भारतीयता से ओतप्रोत भारतीय परिप्रेक्ष्य में शिक्षा के पुजारी हैं। आपका विचार है कि हमारी शिक्षा भारतीय आत्मा, आवश्यकता, प्रकृति, संस्कार, संस्कृति, सभ्यता के अनुसार हो।" रोम्या रोलां कहती हैं - "देखो यह अरविन्द घोष आते हैं, उसमें एशिया की प्रतिभा और योरोप की प्रतिभा का वह पूर्वतम सानंजस्य आज प्राप्त हुआ है जिसकी दीर्घकाल से प्रतीक्षा हो रही थी।"

डॉ. श्री वर्मा ने कहा है - "अरविन्द घोष का जीवन के प्रति अत्यन्त व्यापक और विशाल दृष्टिकोण तथा। उनकी विचारधारा प्रान्त, देश की सीमा तक ही अवरूद्ध नहीं थी अपितु उसके विस्तृत क्षेत्र के अन्तर्गत विश्व के समस्त मानव समाहित थे। समस्त बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था लन्दन एवं कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों में समाप्त की तथा ग्रीक, लैटिन, फ्रेंच, जर्मन एवं इतालियन आदि भाषाओं पर पूर्ण आधिपत्य के साथ-साथ इन भाषाओं के महान लेखकों एवं कवियों की मौलिक रचनाओं के अध्ययन के बावजूद वे प्राचीन भारतीय संस्कृति के महान पोषक थे।" भारत के आधुनिक सन्तों में श्री अरविन्द घोष का स्थान बहुत ऊँचा हैं।

जीवन दर्शन:- श्री अरविन्द का दर्शन ज्ञेयवादी है। आपके जीवन का दर्शन पूर्ण एवं अखण्ड चेतना की प्राप्ति है। वे विकास में विश्वास रखते हैं। उन्होंने चेतना के विकास को दो भागों में विभाजित किया है-

1. प्रथम वर्ग - पदार्थ, प्राणमन, बुद्धि ये एक दूसरे से संयुक्त है एक अनुवर्ति स्तर अपने पूर्ववर्त्ती अनुस्तर से संयुक्त है।

* **एसोसिऐट प्रोफेसर, शिक्षक-शिक्षा विभाग, श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़**

2. निर्णय वर्ग- उच्च स्तरीय चेतका पूर्ववर्ती एवं अनुवर्ती स्तरों को अपने अनुसार प्रभाव में लाती है।

श्री अरविन्द विकास की इस अवस्था के सम्बन्ध में कहते है कि चेतना की एक विशिष्ट अवस्था आती है जिसे अति मानसिक स्तर माना जाता है। विकास के इस क्रम में उनकी यह अवधारणा है कि प्रकृति ने जीव-जन्तु, मानव को उत्पन्न किया। इसी प्रकृति विकास क्रम में ऐसा समय आयेगा जबकि मानव अतिमानव का पद पा सकेगा अति मानसिक स्तर में अज्ञान नष्ट हो जाता है केवल ज्ञान एवं प्रकाश ही मात्र शेष होता है। ये पुनर्जन्म में विश्वास करते है और उसे आध्यात्मिक विकास आवश्यक साधन मानते हैं।

शिक्षा दर्शनः-

श्री अरविन्द ने अपने प्रायः आध्यात्मिक विकास का क्रम शिक्षा दर्शन पर आधारित किया है। वे कहते हैं- "सच्ची एवं वास्तविक शिक्षा केवल वही है जो मानव की अन्तर्निहित समस्त शक्तियों को इस प्रकार विकसित करती है कि वह उनसे पूर्ण रूप से लाभान्वित होता है।"

अरविन्द ने शिक्षा के प्रभाव अंग के रूप में अन्तःकरण के मन को स्वीकार किया है। उन्होंने अन्तःकरण के 4 स्तर बताये हैं- चित्त, मानस, बुद्धि, एवं ज्ञान। इनका क्रमिक विकास होता है, इसीलिए शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए जो कि मानसिक शक्तियों को विकसित कर सके। वास्तविक शिक्षा वही है शिक्षा को जो मानव का क्रमिक एवं पूर्ण विकास कर सके। श्री अरविन्द ने सभी प्रकार की प्रेरणादायक शिक्षा को- अपने शिक्षा के क्षेत्र में स्वीकार किया है। इन्होंने ज्ञान, विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, काव्य, कविता, साहित्य, वास्तुकला, स्थापत्य कला, मूर्तिकला, इत्यादि को स्थान दिया है। इस प्रकार श्री अरविन्द का परम उद्देश्य अखिल विश्व एवं मानव समाज का सर्वतोन्मुखी विकास था और उन्होंने आध्यात्मिक आधार शिला पर समस्त राष्ट्रों की स्थापना की कल्पना की।

शिक्षा के आधार भूत सिद्धान्त या आवश्यक तत्वः-

1. शिक्षा बाल केन्द्रित होनी चाहिए।
2. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा उचित होगा।
3. शिक्षा का लक्ष्य बालक का शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक, सामाजिक, संवेगात्मक एवं आध्यात्मिक ज्ञान होना चाहिए, ताकि बालक विकास करके मानवीय गुणों को विकसित कर सके।
4. शिक्षा व्यवस्था ऐसी हो जो बालकों की मनोवृत्तियों का अध्ययन कर परिस्थिति के अनुसार मनोवैज्ञानिक रूप से शिक्षण की व्यवस्था कर सके।
5. शिक्षा में ब्रह्मचर्य को विशेष महत्व दिया जाय।
6. शिक्षा के विषय रूचिपूर्ण एवं आवश्यकतानुरूप होने चाहिए।
7. शिक्षा में धर्म की व्यवस्था होनी चाहिए क्योंकि धर्म के कारण समाज में सन्तुलन बना रहता है।
8. शिक्षा एक मित्र तथा मार्ग दर्शक के रूप में छात्र का सहयोग दे।
9. शिक्षा के माध्यम से नैतिक गुणों को विकसित किया जाना चाहिए।
10. शिक्षा के माध्यम से बालक को इस प्रकार तैयार करें वह अपने में सन्निहित प्रसुप्त शक्तियों भावनाओं का समुचित उपयोग करके व पूर्ण लाभ प्राप्त कर सके।
11. शिक्षा को चेतना को विकसित कर संस्कारित एवं रूपान्तरित करना चाहिए क्योंकि चेतना की परमसत्ता एवं सृष्टि का आधार भूत सत्य है।

शिक्षा का अर्थः- श्री अरविन्द का शिक्षा के सम्बन्ध में विचार सभी विचारों से नवीन है। उनके अनुसार- "सूचनाओं का संग्रह मात्र शिक्षा नहीं है, सूचनाएं ज्ञान की जीव मात्र नहीं हो सकती हैं। वे अधिक से अधिक सामग्री हो सकती है जिनके द्वारा जानने वाला अपने ज्ञान की वृद्धि कर सकता है। अथवा वे वह बिन्दु है जहाँ से ज्ञान को प्रारम्भ किया जाए या नई खोजो को निकालना शुरू किया जाए, वह शिक्षा जो स्वयं को ज्ञान देने तक सीमित रखती है शिक्षा नहीं है।"

श्री अरविन्द की शिक्षा के व्यापक एवं विस्तृत स्वरूप को स्वीकार करते हैं जैसे- "शिक्षा मानव के मस्तिष्क एवं आत्मा की शक्तियों का निर्माण करती है। यह ज्ञान चरित्र एवं संस्कृति का उत्कर्ष करती है।"

शिक्षा के उद्देश्य -

1. छात्र को पूर्ण स्वस्थ रखना, उसकी शारीरिक शुद्धता रखना एवं उसके शरीर को पूर्ण रूप से विकसित करना।
2. बालक की मानसिक शक्ति का विकास करना।
3. बालक का आन्तरिक विकास करना।
4. बालक की शक्तियों को क्रियात्मक रूप देना।
5. छात्रों को मन, चित्त, स्नायु को शुद्ध रखने की कला या ज्ञान देना।
6. छात्रों की निर्णायक बुद्धि को शुरू कर उसका विकास करना।
7. बालकों के स्वभाव, आदत, भावना, विचार, प्रक्रिया को शुद्ध करना।
8. छात्रों को व्यावहारिक एवं नैतिक शिक्षा देकर उसके मन को परिवर्तित करना।
9. छात्रों को प्रच्छन्न बुद्धि का विकास करना।
10. बालकों की वैयक्तिक बुद्धि का विकास करके उसको आध्यात्मिकता की ओर ले आना।
11. बालक को स्वतः तथा संकलन करके योग्य बनाना।
12. छात्र की न्याय, तर्क, प्रधान बुद्धि को विकसित करना।

पाठ्यक्रमः-

श्री अरविन्द मूलतः आध्यात्मिक, नैतिक, भौतिक एवं मानसिक विकास के पक्षपाती हैं इसी को आधार मानकर इन्होंने पाठ्यक्रम के स्तर को 3 भागों में रखा हैः-

1. प्राथमिकता शिक्षाः- मातृभाषा, अंग्रेजी, फ्रेंच, सामान्य ज्ञान, सामाजिक अध्ययन, गणित एवं चित्रकला।

2. माध्यमिक स्तरः- मातृभाषा, अंग्रेजी, फ्रेंच, सामान्य ज्ञान, सामाजिक अध्ययन, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, जीव विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान एवं चित्रकला।

3. विश्वविद्यालयी शिक्षाः- भारतीय पाश्चात्य दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, सभ्यता का इतिहास, अंग्रेजी साहित्य, गणित, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, विज्ञान का इतिहास, फ्रेंच साहित्य, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, जीवन का विज्ञान और विश्व एकीकरण।

शिक्षण विधिः-

श्री अरविन्द "क्रमिक शिक्षण विधि'' के पक्ष में है जिसमें ये शिक्षण सिद्धान्त होने चाहिए -

1. करके सीखना
2. बालक का सहयोग
3. बालक की स्वतन्त्रता
4. प्रेम व सहानुभूति का प्रदर्शन
5. बालक की रुचियों का अध्ययन
6. शिक्षा का माध्यम - मातृभाषा
7. बालक के निजी प्रयास न निजी अनुभव को प्रोत्साहन।
8. विषयों की प्रकृति के अनुसार बालक की शक्तियों का प्रयोग।

शिक्षक का स्थानः-

श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षा में अध्यापक को निर्देशक, पथ प्रदर्शक और सहायक के रूप में कार्य करना चाहिए। उनके अनुसार- "अध्यापक अनुदेशक या स्वामी नहीं है, वह सहायक और पथ प्रदर्शक है। उसका कार्य सुझाव देना है न कि ज्ञान को लादना। वह वास्तव में छात्र के मस्तिष्क को प्रशिक्षित नहीं करता है। वह छात्र को केवल यह बताता है कि वह अपने ज्ञान के साधनों को किस प्रकार समृद्ध बनाए। वह छात्र को सीखने को प्रक्रिया में सहायता और प्रेरणा देता है। वह छात्र को

ज्ञान नहीं देता है। वह उसे यह बताता है कि वह अपने आप किस प्रकार ज्ञान प्राप्त करे। वह बालक के अन्तर निहित ज्ञान को बाहर नहीं निकालता है। वह उसे केवल वह बताता है कि ज्ञान कहाँ है और उसको बाहर लाने के लिए किस प्रकार अभ्यस्त किया जा सकता है।"

बालक का स्थान -

श्री अरविन्द ने बालक को शिक्षा में प्रमुख स्थान दिया है। उनके अनुसार बालक का विकास उसकी प्रकृति, अभिरुचि, स्वभाव तथा धर्म के अनुकूल ही किया जाना चाहिए क्योंकि बालक के अन्दर व्यक्तिगत क्षमताएँ और विलक्षणताएँ होती हैं उसके इन्हीं गुणों व आदर्शों का उन्नतोन्नत विकास करना चाहिए।

शिक्षा दर्शन का मूल्यांकन -

श्री अरविन्द ने अपने शिक्षा दर्शन में मानव की आध्यात्मिक उन्नति पर बहुत अधिक बल दिया है। क्योंकि उनके विचार में आज के भौतिकवादी युग में इस उन्नति की अत्यधिक आवश्यकता है। आज के मानव का दृष्टिकोण पूर्ण रूप से भौतिकवादी है, उसका ध्यान सदैव अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने में लगा रहता है। फलतः वह अपने मन की शान्ति और अपने अन्तर के वास्तविक आनन्द को खो चुका है। आज जो शिक्षा प्रणाली हमारे देश में प्रचलित है वह व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति की ओर लेशमात्र ध्यान न देकर उसके भौतिकवादी दृष्टिकोण को प्रोत्साहन दे रही हैं। परिणामतः व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास रूक गया है और उसके अन्तर की दिव्य ज्योति बुझ गई है।

प्रचलित शिक्षा के इन दोषों को देखकर श्री अरविन्द का हृदय क्षोभ से भर गया। उनके क्रान्तिकारी मस्तिष्क में इस शिक्षा के विरूद्ध प्रतिकिया हुई। फलतः इन्होंने नये सिद्धान्तों पर आधारित शिक्षा का एक नया रूप देशवासियों के सामने प्रस्तुत किया। उन्होंने बताया कि विदेशी शिक्षा पद्धति का अनुकरण करना भारतीय संस्कृति और परम्परा के लिए हितकर नहीं है। उन्होंने कहा कि केवल वही शिक्षा को प्राप्त करके भारतवासियों का कल्याण हो सकता है, जो भारत की आत्मा और इसकी वर्तमान तथा भावी आवश्यकता पूर्ति में सहायक हो।

अन्त में हम कंगाली चरणपति के शब्दों में कह सकते हैं- "श्री अरविन्द का शिक्षा दर्शन मूलतः आध्यात्मिक योग दर्शन पर आधारित है। श्री अरविन्द ने अपनी दिव्य दृष्टि की शक्ति के मानव जीवन के जिन गम्भीर तत्वों का उद्घाटन किया है वे ही उनके शिक्षा दर्शन की आधार शिला है। इससे हमें समग्र मानव जीवन के सर्वांगीण रूप का आभास मिल जाता है। श्री अरविन्द ने जीवन और संसार के किसी पहलू को त्यागा नहीं है।"

संदर्भ -

1. लाल, रमन बिहारी. (2005). *शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त*. आगरा : अटल प्रकाशन.
2. सक्सेना, आर. एन. स्वरूप. (1995). *शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त* (दूसरा संस्करण). आगरा : विनोद पुस्तक मंडल.
3. त्यागी, जी. एस. डी. (2008). *शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार*. मेरठ : विनीत प्रकाशन.
4. त्यागी, जी. एस. डी. (2012). *शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय आधार*. मेरठ : विनीत प्रकाशन.
5. टंडन, उमा, एवं गुप्ता, अरूणा. (2010). *उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक*. जयपुर : शेखर प्रकाशन.
6. पचौरी, आशुतोष. (2007). *शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त*. दिल्ली : वसुन्धरा प्रकाशन.

Received: 15.01.2026 | Accepted: 22.01.2026 | Published: 30.01.2026

Institutional Limits of District E-Governance: Evidence from Bhojpur

Rocky Singh[*] **rs53291@gmail.com**

Dr. Amir Mahmood[†] **amir.pubad@gmail.com**

Abstract

Digital governance has become a central feature of administrative reform in India, particularly under the Digital India framework and state-level service digitization initiatives. Policy discourse frequently presents digitalization as a mechanism for enhancing efficiency, transparency, and citizen-centric delivery. Yet district-level implementation reveals a more layered reality. This article examines the institutional conditions shaping e-governance in Bhojpur district, Bihar. Drawing on institutional theory, Digital Era Governance, and insights from preliminary field observations, the study conceptualizes digital reform as structurally embedded rather than technologically autonomous. While online service platforms have improved procedural visibility and expanded formal access, their impact remains mediated by bureaucratic continuity, infrastructural variability, and intermediary dependence. The Bhojpur case illustrates a hybrid configuration in which digital systems coexist with established administrative hierarchies. By foregrounding institutional mediation, the paper contributes to district-level governance scholarship and calls for reform strategies that prioritize institutional consolidation alongside technological deployment.

Introduction

Over the past two decades, digital systems have progressively reshaped the architecture of public administration. Online portals, biometric identification systems, electronic record platforms, and integrated service dashboards are now embedded within everyday governance practice. In India, the National e-Governance Plan and the Digital India programme have positioned technology as a central instrument of administrative modernization (United Nations, 2022; World Bank, 2016). Digitization is frequently framed as a vehicle for administrative efficiency, procedural transparency, and improved citizen orientation.

However, the assumption that technological deployment automatically produces institutional transformation remains contested. Administrative structures are historically layered and rule-bound, and they rarely dissolve with the introduction of digital interfaces. Rather, technologies become

[*] **Research Scholar, Department of Public Administration**
Veer Kunwar Singh University, Ara, Bihar

[†] **Supervisor & Assistant Professor, Department of Public Administration**
Veer Kunwar Singh University, Ara, Bihar

embedded within existing institutional arrangements (Fountain, 2001). Institutional change, as North (1990) argues, tends to be gradual and path-dependent. Taken together, these perspectives caution against equating technological expansion with institutional transformation.

India's digital governance expansion has been widely documented in policy and academic discourse. Studies on the National e-Governance Plan and Digital India have highlighted improvements in service reach and administrative digitization across states (Heeks, 2006; Bhatnagar, 2014). At the same time, research on state-level implementation reveals significant variation in capacity, infrastructure, and user adoption across districts (Kumar & Best, 2006). These findings underscore the importance of examining digital reform below the state level, where institutional constraints are most visible.

Much of the literature evaluates digital governance at national or state levels, often emphasizing macro indicators such as portal integration and transaction volumes (Bannister & Connolly, 2014; United Nations, 2022). Yet governance outcomes are ultimately shaped at the district level, where infrastructure reliability, bureaucratic coordination, and citizen capability intersect.

Bhojpur district in Bihar provides a relevant setting for examining these dynamics. The district reflects a semi-rural administrative context characterized by expanding digital access alongside infrastructural unevenness. Platforms under the Right to Public Services framework and related digital initiatives have altered citizen–state interaction. However, these mechanisms coexist with established administrative hierarchies and variable connectivity conditions.

This article argues that district-level e-governance should be understood as institutionally mediated reform. Digital platforms modify service interfaces, but their effectiveness depends on institutional alignment, infrastructural stability, and patterns of mediated access. Instead of positioning Bhojpur within a binary of success or failure, the study conceptualizes it as an instance of hybrid transformation — where digitalization advances procedural standardization while remaining embedded within structural constraints.

Theoretical Positioning

Digital reform cannot be adequately understood through a purely technological lens. Public administration scholarship has consistently emphasized that institutional structures mediate reform outcomes. Bureaucratic organizations are governed by rules, hierarchies, and embedded routines that shape how innovations are absorbed. When digital systems are introduced, they enter an existing institutional environment rather than a neutral space.

Digital Era Governance (DEG) provides one important framework for understanding this transition. Dunleavy et al. (2006) argue that contemporary reforms are characterized by reintegration, needs-based holism, and digitalization of service delivery. In principle, integrated digital platforms can reduce fragmentation and improve citizen orientation. However, reintegration requires administrative coordination and infrastructural stability. Where institutional capacity varies across departments or territorial units, digital reform may replicate existing fragmentation in electronic form.

Institutional theory further complicates deterministic interpretations of reform. Organizations often adopt new systems in response to modernization pressures or benchmarking expectations, yet

operational practices may remain shaped by legacy routines (North, 1990). Technology can alter procedural interfaces, but deeper authority structures tend to persist. This interaction produces layered institutional change rather than abrupt transformation.

Street-level bureaucracy theory offers additional insight. Lipsky (1980) demonstrated that frontline actors exercise discretion in implementing public policy. In digital governance environments, discretion does not disappear; instead, it shifts location. Where citizens rely on intermediaries to access online platforms, facilitation actors become part of the governance chain. This mediated access reshapes the relationship between citizen and state without eliminating institutional influence.

The literature therefore suggests that digital governance outcomes depend not merely on platform design but on institutional absorption capacity. Infrastructure reliability, administrative training, coordination mechanisms, and socio-economic conditions influence how digital systems function in practice. Evaluating district-level reform requires attention to these structural dimensions.

Guided by this perspective, the present study conceptualizes digital governance in Bhojpur as institutionally embedded reform. The analysis proceeds from the premise that technological deployment interacts with, rather than overrides, established administrative arrangements.

Beyond Technological Determinism: Public Value and Governance Capacity

While Digital Era Governance emphasizes reintegration and citizen-centric delivery (Dunleavy et al., 2006), subsequent scholarship has cautioned against equating digital expansion with public value creation. Bannister and Connolly (2014) argue that technological reform must be evaluated through normative public values such as accountability, transparency, and equity rather than efficiency alone. Digital systems may enhance procedural speed, yet their contribution to public trust depends on institutional responsiveness.

This distinction is particularly relevant in semi-rural administrative contexts. Public value is not generated merely by portal availability but by credible enforcement of timelines, effective grievance redress, and equitable access across socio-economic groups. Where infrastructural or institutional capacity is uneven, digital reform may inadvertently reproduce inequality despite expanding formal access.

Moreover, comparative public management literature suggests that reform trajectories are influenced by administrative culture and organizational coherence (Pollitt & Bouckaert, 2017). Even well-designed technological systems encounter implementation variation at subnational levels. This reinforces the need to situate district-level digital governance within broader institutional capacity debates rather than evaluating it solely as technological modernization.

Taken together, these perspectives expand the analytical lens beyond platform functionality toward governance capacity and public value generation.

District Context: Bhojpur in Administrative Perspective

Bhojpur district, located in the state of Bihar, represents a semi-rural administrative environment characterized by mixed agrarian and urban economic activity. While digital infrastructure has expanded in recent years, disparities remain between block headquarters and peripheral panchayats. Literacy levels, smartphone penetration, and connectivity reliability vary across demographic segments, shaping patterns of digital engagement.

The district administration operates within the broader institutional framework of Bihar's Right to Public Services Act, which mandates time-bound delivery of selected public services. Digital platforms have been introduced to facilitate certificate issuance, land-related documentation, and welfare-related processes. However, coordination across departments and infrastructural stabilization continue to influence operational consistency.

Understanding Bhojpur's digital governance landscape therefore requires attention to both policy design and district-level administrative realities. The district context provides the structural backdrop against which institutional mediation unfolds.

Bihar has historically faced challenges related to administrative capacity and infrastructural unevenness compared to more industrialized Indian states. Digital governance expansion in such contexts provides a critical test case for reform sustainability. Bhojpur, while not an outlier district, reflects common structural conditions found across semi-rural regions in northern India. Examining digital governance here therefore offers analytically relevant insight into how reform unfolds in capacity-constrained environments rather than high-resource settings.

Methodology

This study adopts a qualitative case study approach to examine how institutional conditions shape the functioning of digital governance at the district level. Bhojpur district in Bihar was selected as a representative semi-rural administrative unit implementing state and national e-governance initiatives, particularly under the Right to Public Services framework and related digital service platforms.

The research draws upon multiple sources. First, policy documents and administrative guidelines were reviewed to understand the formal design of digital service delivery mechanisms. Second, publicly available district-level information was examined to map service processes and institutional arrangements. Third, preliminary field observations were conducted during the research period to gain contextual insight into patterns of platform usage, intermediary reliance, and infrastructural constraints. These observations involved structured interactions with service users and facilitation centres, enabling a grounded understanding of operational realities without generating statistically generalized claims.

Preliminary field observations were conducted over a three-month period during the research phase. These observations included structured interactions with service users, visits to facilitation centres, and process-tracing of application workflows within the district administrative framework. Notes were systematically recorded to identify recurring institutional patterns rather than individual-level perceptions. The study does not claim statistical generalization; instead, it derives analytical insights from institutional process mapping.

The study aims for analytical insight rather than statistical generalization. Instead of measuring adoption rates or performance indicators, The analysis therefore focuses on institutional dynamics that mediate reform outcomes. This approach allows examination of how digital systems are embedded within bureaucratic hierarchies, infrastructural conditions, and socio-economic environments at the district level.

By focusing on institutional mediation, the methodology prioritizes structural interpretation over technological evaluation in isolation.

Institutional Mediation and Hybrid Governance

Digital reform in Bhojpur has altered how citizens initiate contact with administrative systems. Online portals under the Right to Public Services framework allow applications for certificates, documentation, and other routine services to be submitted electronically. Status tracking mechanisms enhance procedural visibility, and standardized timelines create clearer expectations. Compared to earlier manual processes, these changes represent meaningful administrative adjustments.

Yet these adjustments do not signify structural displacement of bureaucratic hierarchy. Backend verification, document scrutiny, and approval chains continue to operate within established departmental frameworks. While documentation flows and access points have changed, underlying authority structures remain largely intact. In practice, the digital interface overlays rather than replaces institutional layering.

Preliminary field observations suggest differentiated user experiences across the district. In urban segments, digitally literate users are more likely to navigate platforms independently. In rural areas, however, reliance on Common Service Centres remains substantial. This dependence is not inherently negative; it facilitates inclusion where digital literacy is uneven. However, mediated access reintroduces intermediary presence into a system intended to minimize discretionary interaction.

The persistence of intermediaries reflects a structural feature of semi-rural digital governance. Rather than a direct citizen–state digital exchange, the process often unfolds through assisted facilitation. In this configuration, technology enhances formal accessibility while practical navigation remains socially mediated.

This form of hybridity differs from simple digital–bureaucratic coexistence. In Bhojpur, hybridity is structured by three interacting variables: infrastructural reliability, intermediary mediation, and uneven administrative absorption capacity. These elements combine to produce differentiated reform outcomes across territorial and socio-economic segments. Hybridity here is therefore dynamic and stratified rather than merely transitional.

Infrastructure further shapes reform outcomes. Internet connectivity and electricity reliability vary across blocks within the district. Where connectivity is stable, digital processes tend to function predictably. Where instability persists, procedural continuity is disrupted. Technology, therefore, operates within material constraints that influence user confidence and administrative responsiveness.

Together, these dynamics point toward a hybrid governance configuration. Digital systems have standardized certain procedural elements and improved transparency in routine services. At the same time, institutional continuity and infrastructural variability constrain the depth of transformation. The Bhojpur case demonstrates that digital governance in semi-rural contexts unfolds as incremental adaptation rather than wholesale institutional overhaul.

Discussion

The Bhojpur case resists both celebratory narratives and overly critical dismissals of digital reform. On one hand, online service platforms have enhanced procedural visibility and reduced uncertainty in routine administrative interactions. Citizens can submit applications electronically and monitor progress, reflecting elements of reintegration anticipated by Digital Era Governance (Dunleavy et al., 2006).

At the same time, the depth of transformation remains mediated by institutional context. Digitalization has not displaced hierarchical authority structures; instead, it has been incorporated into them. This interaction aligns with Fountain's (2001) argument that information technologies are enacted through institutional arrangements rather than operating independently of them. Backend verification and departmental approval routines continue to shape service outcomes, indicating continuity beneath interface-level change.

The district-level perspective further reveals uneven absorption capacity. Infrastructure reliability, administrative preparedness, and socio-economic capability vary across territorial units. Such variation supports institutional theory's emphasis on path dependency and structural conditioning (North, 1990). Digital reform, therefore, produces differentiated experiences even within the same administrative jurisdiction.

Intermediary reliance remains particularly significant. Assisted access through Common Service Centres illustrates how street-level implementation adapts within digital systems. Lipsky's (1980) insight that frontline actors shape policy outcomes remains relevant, even when interaction occurs through electronic platforms. Discretion is not eliminated; it is relocated and reconfigured.

Importantly, hybridity should not be interpreted as stagnation. Compared with earlier manual processes, digital platforms have introduced greater standardization and traceability. However, as Bannister and Connolly (2014) caution, technological transformation alone cannot guarantee public value unless supported by institutional alignment and accountability mechanisms.

The Bhojpur case therefore underscores a central insight: district-level digital governance is best understood as context-conditioned institutional adaptation rather than purely technological modernization.

Contribution to Scholarship

This study makes three contributions to the literature on digital governance. First, it shifts analytical focus from national or state-level indicators to the district as a meaningful unit of institutional analysis. Much of the existing scholarship evaluates platform integration and aggregate performance, whereas district-level dynamics reveal how infrastructural variation and administrative layering shape reform outcomes in practice.

Second, the article reframes hybridity not merely as coexistence between digital systems and bureaucracy, but as a structured interaction mediated by intermediaries, infrastructural reliability, and uneven absorption capacity. This conceptualization advances understanding of how semi-rural governance environments condition digital reform.

Third, by grounding analysis in a subnational Indian context, the study contributes to comparative digital governance research that often relies on metropolitan or cross-national data. The Bhojpur

case demonstrates that technological expansion alone cannot explain reform trajectories; institutional alignment remains decisive.

Policy Implications

The analysis suggests that strengthening district-level digital governance requires institutional consolidation alongside technological deployment. Reform strategies centered solely on platform expansion risk neglecting structural determinants of performance (Fountain, 2001).

First, administrative capacity-building should accompany digital implementation.
Training programmes for district and block-level officials can improve backend coordination and reduce procedural inconsistencies. Reintegration, as emphasized in Digital Era Governance literature (Dunleavy et al., 2006), depends on effective organizational alignment.

Second, infrastructural stabilization must be treated as foundational.
Connectivity reliability and electricity continuity are prerequisites for sustained digital performance. Without stable infrastructure, technological systems cannot deliver consistent public value (World Bank, 2016).

Third, intermediary governance requires clearer regulatory oversight.
Common Service Centres expand inclusion, yet transparency in service charges and grievance monitoring is essential to prevent informal discretion. Street-level implementation research suggests that accountability mechanisms are critical where frontline actors exercise influence (Lipsky, 1980).

Fourth, digital literacy initiatives should accompany service digitization.
Targeted training programmes can gradually reduce dependency on intermediaries and enhance autonomous access, strengthening long-term reform sustainability.

Finally, district-level monitoring frameworks should complement state dashboards.
Localized performance tracking can better capture infrastructural and socio-economic variation, aligning reform evaluation with institutional realities (Bannister & Connolly, 2014).

Collectively, these measures underscore the importance of structural reinforcement as the foundation of sustainable reform.

Limitations

This study is based on a single-district case analysis and preliminary institutional observations. While analytically informative, the findings are not statistically generalizable across all Indian districts. Variations in administrative culture, resource allocation, and political leadership may produce different reform trajectories elsewhere. Future research incorporating comparative district analysis and longitudinal tracking would strengthen broader inference.

Conclusion

Digital governance in Bhojpur illustrates the institutional character of administrative reform. Online platforms have expanded formal access to services and improved procedural visibility, particularly in routine certification and documentation processes. These changes reflect tangible progress when compared with earlier manual systems.

At the same time, the depth of transformation remains shaped by structural conditions. Bureaucratic hierarchies continue to frame backend processing, infrastructural variability affects service continuity, and intermediary dependence mediates citizen interaction with digital platforms. Reform therefore unfolds within layered institutional arrangements rather than through technological substitution.

The Bhojpur case suggests that district-level digital governance should be understood as hybrid transformation—incremental, mediated, and context-dependent. Evaluating reform solely through technological indicators risks overlooking the institutional environment within which digital systems operate.

By foregrounding institutional mediation, this study contributes to ongoing debates on subnational digital governance and emphasizes the necessity of aligning technological deployment with administrative capacity. In semi-rural contexts such as Bhojpur, reform unfolds incrementally within established institutional boundaries. Recognizing this layered transformation is essential for designing realistic and durable digital governance strategies.

References

Bannister, F., & Connolly, R. (2014). ICT, public values and transformative government: A framework and programme for research. *Government Information Quarterly, 31*(1), 119–128. https://doi.org/10.1016/j.giq.2013.06.002

Dunleavy, P., Margetts, H., Bastow, S., & Tinkler, J. (2006). New public management is dead—Long live digital-era governance. *Journal of Public Administration Research and Theory, 16*(3), 467–494. https://doi.org/10.1093/jopart/mui057

Fountain, J. E. (2001). *Building the virtual state: Information technology and institutional change*. Brookings Institution Press.

Lipsky, M. (1980). *Street-level bureaucracy: Dilemmas of the individual in public services*. Russell Sage Foundation.

North, D. C. (1990). *Institutions, institutional change and economic performance*. Cambridge University Press.

United Nations. (2022). *E-government survey 2022: The future of digital government*. United Nations Department of Economic and Social Affairs.

World Bank. (2016). *World development report 2016: Digital dividends*. World Bank.

Bhatnagar, S. (2014). *Public service delivery: Role of information and communication technology in improving governance and development impact*. Asian Development Bank.

Heeks, R. (2006). *Implementing and managing eGovernment: An international text*. Sage Publications.

Kumar, R., & Best, M. L. (2006). Impact and sustainability of e-government services in developing countries: Lessons learned from Tamil Nadu, India. *Information Society, 22*(1), 1–12. https://doi.org/10.1080/01972240500388149

Pollitt, C., & Bouckaert, G. (2017). *Public management reform: A comparative analysis* (4th ed.). Oxford University Press.

Received: 16.01.2026 | Accepted: 22.01.2026 | Published: 30.01.2026

उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों में शैक्षिक तनाव, मानसिक स्वास्थ्य एवं समायोजन का समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ. रूपेन्द्र मुनी अरोड़ा* **महेन्द्र कुमार यादव†**

rupendramuni@gmail.com **mahenderguru@gmail.com**

सारांश

वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में विद्यालयी विद्यार्थियों के समक्ष केवल पाठ्य-विषयों के अधिगम की चुनौती नहीं है, बल्कि उससे कहीं अधिक जटिल चुनौती यह है कि वे प्रतिस्पर्धात्मक शैक्षिक वातावरण, परीक्षा-उन्मुख व्यवस्था, पारिवारिक अपेक्षाओं, सामाजिक तुलना, कैरियर-अनिश्चितता और बदलती जीवन-शैली के बीच अपना मानसिक संतुलन कैसे बनाए रखें। उच्च माध्यमिक स्तर पर यह प्रश्न और अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि यही वह अवस्था है जहाँ विद्यार्थी विषय-विशेषीकरण के साथ-साथ भविष्य के शैक्षिक और व्यावसायिक मार्ग की दिशा में निर्णायक कदम उठाता है। कला, वाणिज्य तथा विज्ञान जैसे विविध अध्ययन क्षेत्रों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के अनुभव एकरूप नहीं होते। प्रत्येक संकाय की प्रकृति, विषयगत दबाव, सामाजिक धारणा, मूल्यांकन प्रणाली, कैरियर-उन्मुख अपेक्षाएँ तथा उपलब्धि-संरचनाएँ अलग-अलग प्रकार के मनोवैज्ञानिक प्रभाव उत्पन्न करती हैं। शैक्षिक तनाव विद्यार्थी के अध्ययन-संबंधी दबावों, परीक्षा-चिंताओं, समय-सीमा, प्रदर्शन-अपेक्षाओं और भविष्यगत आशंकाओं से संबंधित है। मानसिक स्वास्थ्य इस तनाव से निपटने की उसकी भावनात्मक, संज्ञानात्मक और व्यवहारिक क्षमता को दर्शाता है, जबकि समायोजन यह सूचित करता है कि विद्यार्थी अपने परिवार, विद्यालय, साथियों, शिक्षकों और व्यापक सामाजिक परिवेश के साथ किस प्रकार संतुलित संबंध स्थापित कर पाता है। शैक्षिक तनाव को केवल नकारात्मक घटना के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में समझा जाना चाहिए जिसका प्रभाव उसके स्तर, प्रकृति, सामाजिक समर्थन और विद्यार्थी की व्यक्तिगत सामर्थ्य पर निर्भर करता है। संतुलित मानसिक स्वास्थ्य और स्वस्थ समायोजन विद्यार्थियों को तनाव से रचनात्मक रूप में निपटने में सहायता देते हैं, जबकि प्रतिकूल परिस्थितियों में यही तनाव मानसिक स्वास्थ्य को कमजोर कर सकता है और समायोजन में बाधा उत्पन्न कर सकता है। अतः विद्यालयों में ऐसी समग्र व्यवस्था विकसित करने की आवश्यकता है जो शैक्षिक उपलब्धि के साथ-साथ विद्यार्थियों के भावनात्मक कल्याण, मानसिक स्वास्थ्य और सामाजिक-विद्यालयी समायोजन को भी समान महत्त्व दे।

मुख्य शब्द :

शैक्षिक तनाव, मानसिक स्वास्थ्य, समायोजन, उच्च माध्यमिक विद्यालय, कला, वाणिज्य, विज्ञान, किशोर विद्यार्थी।

प्रस्तावना

आधुनिक युग में शिक्षा समाज की सबसे प्रभावशाली संस्थाओं में से एक है। यह केवल ज्ञान और कौशल प्रदान करने का साधन नहीं, बल्कि व्यक्ति के व्यक्तित्व, दृष्टिकोण, मूल्यों, सामाजिक उत्तरदायित्व और जीवन-क्षमता के निर्माण की एक सतत प्रक्रिया है। विद्यालय इस प्रक्रिया का आधारभूत संस्थान है, जहाँ बालक या किशोर केवल पाठ्य-पुस्तकों से नहीं सीखता, बल्कि अनुशासन, सह-अस्तित्व, आत्म-नियमन, सहकार, प्रतिस्पर्धा, आत्म-अनुभूति और सामाजिक समायोजन जैसी अनेक

* **प्राचार्य, डॉ. रूपेन्द्र मुनी बी.एड. कॉलेज, मांउट आबू, सिरोही**

† **शोधार्थी, मोहन लाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपु**

जीवनोपयोगी क्षमताओं का विकास भी करता है। परंतु वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में जहाँ एक ओर अवसरों का विस्तार हुआ है, वहीं दूसरी ओर तनाव, दबाव और मनोवैज्ञानिक चुनौतियों का क्षेत्र भी व्यापक हुआ है।

विशेष रूप से उच्च माध्यमिक स्तर पर शिक्षा की प्रकृति अधिक विशेषज्ञतापूर्ण, लक्ष्य-केंद्रित और प्रतिस्पर्धी हो जाती है। विद्यार्थी अब केवल कक्षा उत्तीर्ण करने के लिए नहीं पढ़ता, बल्कि वह अपने भविष्य की दिशा : उच्च शिक्षा, रोजगार, व्यावसायिक पाठ्यक्रम, प्रतियोगी परीक्षाएँ और सामाजिक प्रतिष्ठा, को भी इसी स्तर पर आकार देता है। इसीलिए उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के जीवन में शैक्षिक तनाव की भूमिका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। यह तनाव कभी प्रेरक भी हो सकता है, यदि वह उपलब्धि के लिए स्वस्थ दबाव के रूप में कार्य करे, किंतु जब यह तनाव अत्यधिक, निरंतर या असंतुलित हो जाता है, तब यही मनोवैज्ञानिक असुविधा, चिंता, निराशा, व्यवहारिक कठिनाई, अध्ययन-अनिच्छा, संबंध-विघटन और मानसिक स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं का कारण बन सकता है।

किशोरावस्था स्वयं में संवेदनशील और संक्रमणशील अवस्था है। इस अवस्था में शारीरिक परिवर्तन, भावनात्मक उतार-चढ़ाव, आत्म-पहचान की खोज, मित्र-समूह का प्रभाव, परिवार के साथ भूमिकागत पुनर्संरचना और भविष्य की चिंता जैसी प्रक्रियाएँ सक्रिय रहती हैं। जब इस अवस्था में शैक्षिक प्रतिस्पर्धा और विषयगत दबाव जुड़ जाते हैं, तो तनाव और भी जटिल रूप धारण कर सकता है। इस कारण उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के संदर्भ में मानसिक स्वास्थ्य का प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है। मानसिक स्वास्थ्य को केवल रोग या विकार की अनुपस्थिति के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। यह व्यक्ति की भावनात्मक स्थिरता, आत्म-संतोष, तनाव-प्रबंधन क्षमता, सामाजिक संबंधों की गुणवत्ता, आत्म-नियंत्रण, आशावादिता और जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण का भी द्योतक है।

मानसिक स्वास्थ्य की स्थिति विद्यार्थियों के समायोजन से भी घनिष्ठ रूप से जुड़ी होती है। समायोजन का अर्थ है- व्यक्ति का अपने वातावरण, परिस्थितियों, अपेक्षाओं और संबंधों के साथ संतुलित सामंजस्य स्थापित करना। विद्यालयी जीवन में समायोजन कई स्तरों पर घटित होता हैः शैक्षिक समायोजन, सामाजिक समायोजन, भावनात्मक समायोजन, पारिवारिक समायोजन और आत्म-समायोजन। जो विद्यार्थी अपने अध्ययन, शिक्षकों, सहपाठियों, परिवार और स्वयं के साथ सामंजस्य स्थापित कर लेता है, वह सामान्यतः तनाव को बेहतर ढंग से नियंत्रित कर सकता है और मानसिक रूप से अधिक स्वस्थ रहता है। इसके विपरीत, असमायोजन की स्थिति तनाव को बढ़ा सकती है और मानसिक स्वास्थ्य को कमजोर कर सकती है।

इस संदर्भ में विविध अध्ययन क्षेत्रों कला, वाणिज्य और विज्ञान का प्रश्न भी अत्यंत प्रासंगिक है। सामान्यतः समाज में विज्ञान वर्ग को उच्च प्रतिस्पर्धा, कठोर अध्ययन-भार और प्रतिष्ठा से जोड़ा जाता है; वाणिज्य वर्ग को व्यावसायिक, आर्थिक और व्यावहारिक जीवन-तैयारी से; तथा कला वर्ग को मानविकी, सामाजिक चिंतन, रचनात्मकता और सामाजिक विज्ञानों से। किंतु इन सामाजिक धारणाओं के पीछे अनेक मनोवैज्ञानिक प्रभाव छिपे होते हैं। विज्ञान वर्ग के विद्यार्थी प्रायः उच्च उपलब्धि-दबाव, समय-प्रबंधन की कठिनाइयों और प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी के कारण तनाव अनुभव कर सकते हैं। वाणिज्य वर्ग के विद्यार्थियों को भविष्य की व्यावसायिक दिशा, लेखांकन या गणनात्मक दक्षताओं तथा व्यावहारिक सफलता के दबाव से जूझना पड़ सकता है। कला वर्ग के विद्यार्थियों को कभी-कभी विषय की सामाजिक स्वीकृति, आत्म-प्रतिष्ठा, कैरियर की अस्पष्टता और तुलना की संस्कृति से प्रभावित होना पड़ता है। इस प्रकार अध्ययन क्षेत्र केवल अकादमिक विकल्प नहीं, बल्कि मनो-सामाजिक अनुभवों की अलग-अलग संरचनाएँ भी निर्मित करते हैं।

यह शोध-पत्र इस धारणा पर आधारित है कि शैक्षिक तनाव, मानसिक स्वास्थ्य और समायोजन परस्पर पृथक नहीं, बल्कि एक-दूसरे से गहराई से जुड़े हुए आयाम हैं। यदि विद्यार्थी पर अत्यधिक शैक्षिक दबाव हो और उसके पास भावनात्मक समर्थन या समायोजन-कौशल पर्याप्त न हों, तो उसका मानसिक स्वास्थ्य प्रभावित हो सकता है। वहीं यदि उसका मानसिक स्वास्थ्य संतुलित हो, पारिवारिक एवं विद्यालयी सहयोग अच्छा हो, और सामाजिक समायोजन स्वस्थ हो, तो वही विद्यार्थी शैक्षिक तनाव को प्रेरक शक्ति में भी रूपांतरित कर सकता है।

शैक्षिक तनाव की अवधारणा और उसका विद्यालयी संदर्भ

शैक्षिक तनाव आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था का एक प्रमुख मनो-शैक्षिक आयाम बन चुका है। शिक्षा का उद्देश्य मूलतः बौद्धिक विकास, सामाजिक परिष्कार और जीवन की तैयारी माना गया है, परंतु जैसे-जैसे शिक्षा की संरचना प्रतिस्पर्धात्मक,

परीक्षा-केंद्रित और उपलब्धि-उन्मुख हुई है, वैसे-वैसे विद्यार्थियों के लिए शिक्षा का अनुभव अधिक दबावपूर्ण भी हुआ है। शैक्षिक तनाव उस मानसिक एवं भावनात्मक दबाव को कहा जा सकता है, जो विद्यार्थी अध्ययन, परीक्षा, गृहकार्य, समय-सीमा, परिणाम, अभिभावकीय अपेक्षाओं, शिक्षकीय दबाव, सहपाठी प्रतिस्पर्धा तथा भविष्य की अनिश्चितताओं के कारण अनुभव करता है।

तनाव की अवधारणा अपने आप में न तो पूर्णतः नकारात्मक है और न ही पूर्णतः सकारात्मक। मनोविज्ञान में तनाव को कभी-कभी ऐसी अवस्था के रूप में समझा जाता है जो व्यक्ति को चुनौती से निपटने के लिए सक्रिय करती है। हल्का या मध्यम तनाव कभी-कभी प्रेरक भी हो सकता है, क्योंकि वह व्यक्ति को अधिक संगठित, सतर्क और प्रयासशील बनाता है। किंतु जब तनाव की मात्रा व्यक्ति की अनुकूलन क्षमता से अधिक हो जाती है, तब वह हानिकारक रूप धारण कर लेता है। शैक्षिक संदर्भ में यही स्थिति तब उत्पन्न होती है जब विद्यार्थी को यह अनुभव होने लगे कि वह अपेक्षाओं को पूरा नहीं कर पाएगा, समय की कमी है, अध्ययन-भार असहनीय है, परिणाम उसके भविष्य को निर्णायक रूप से प्रभावित करेंगे, या उसका मूल्यांकन केवल अंक और रैंक से होगा।

विद्यालयी शिक्षा में शैक्षिक तनाव के अनेक स्रोत होते हैं। पहला स्रोत पाठ्यक्रम और अध्ययन-भार है। उच्च माध्यमिक स्तर पर विषय अपेक्षाकृत जटिल, विश्लेषणात्मक और अधिक समय-साध्य हो जाते हैं। विद्यार्थियों को न केवल कक्षा-अध्ययन करना होता है, बल्कि गृह-अध्ययन, नोट्स-तैयारी, परीक्षण, प्रायोगिक कार्य, परियोजनाएँ और पुनरावृत्ति भी करनी पड़ती है। दूसरा स्रोत परीक्षा-प्रणाली है। अंकों पर आधारित मूल्यांकन और बोर्ड परीक्षाओं की सामाजिक महत्ता विद्यार्थियों में परिणाम-संबंधी चिंता को बढ़ाती है। तीसरा स्रोत अभिभावकीय और सामाजिक अपेक्षाएँ हैं। परिवार, रिश्तेदार, पड़ोसी और समाज अक्सर विद्यार्थियों की उपलब्धियों की तुलना दूसरों से करते हैं, जिससे आत्म-मूल्यांकन बाहरी मानदंडों पर निर्भर होने लगता है। चौथा स्रोत कैरियर-अनिश्चितता है। उच्च माध्यमिक स्तर पर विद्यार्थी को यह महसूस होने लगता है कि उसका वर्तमान प्रदर्शन भविष्य की दिशा को प्रभावित करेगा। पाँचवाँ स्रोत सहपाठी तुलना और प्रतियोगिता है। सहपाठियों में श्रेष्ठता की होड़, कोचिंग संस्कृति, रैंकिंग, मेरिट और चयन की चर्चा तनाव को तीव्र बना सकती है।

उच्च माध्यमिक स्तर पर अध्ययन क्षेत्र भी तनाव की प्रकृति को बदल देता है। विज्ञान वर्ग के विद्यार्थियों पर प्रायः अधिक बौद्धिक घनत्व वाला पाठ्यक्रम, प्रयोगात्मक कार्य, गणितीय-वैज्ञानिक अवधारणाओं की कठिनाई तथा प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी का दबाव होता है। वाणिज्य वर्ग में अकाउंटेंसी, बिजनेस स्टडीज, अर्थशास्त्र और गणनात्मक सटीकता का दबाव विद्यार्थियों के अनुभव को प्रभावित करता है। कला वर्ग में यद्यपि सामाजिक रूप से अपेक्षाकृत कम प्रत्यक्ष उपलब्धि-दबाव माना जाता है, किंतु वहीं विषय की सामाजिक छवि, करियर संबंधी अस्पष्टता, आत्म-प्रतिष्ठा, तथा तुलना की संस्कृति तनाव का दूसरा रूप उत्पन्न कर सकती है। इस प्रकार शैक्षिक तनाव केवल अध्ययन-भार का प्रश्न नहीं, बल्कि सामाजिक अर्थों, पारिवारिक अपेक्षाओं और व्यक्तिगत आकांक्षाओं से निर्मित एक जटिल मनोवैज्ञानिक अनुभव है।

अतः शैक्षिक तनाव को समझने के लिए आवश्यक है कि उसे केवल परीक्षा-चिंता तक सीमित न माना जाए। यह एक व्यापक मनो-सामाजिक संरचना है, जिसमें अध्ययन क्षेत्र, विद्यालयी वातावरण, पारिवारिक संस्कृति, उपलब्ध संसाधन, आत्म-धारणा, भविष्य-दृष्टि और सामाजिक तुलना सभी सम्मिलित होते हैं। यदि विद्यालय इस तनाव को पहचान कर समय पर सहयोग, परामर्श, यथार्थवादी अपेक्षाएँ, सकारात्मक शिक्षण-पर्यावरण और सहायक संवाद उपलब्ध कराएँ, तो तनाव के दुष्प्रभावों को कम किया जा सकता है।

मानसिक स्वास्थ्य : किशोर विद्यार्थियों के जीवन में अर्थ, स्वरूप और महत्त्व

मानसिक स्वास्थ्य मानव जीवन का एक केंद्रीय आयाम है, किंतु विद्यालयी शिक्षा में लंबे समय तक इसका महत्त्व केवल अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार किया जाता रहा। पारंपरिक रूप से शिक्षा को ज्ञान, अनुशासन और उपलब्धि से जोड़ा गया, जबकि मानसिक स्वास्थ्य को स्वास्थ्य-विज्ञान या मनोचिकित्सा का विषय मान लिया गया। परंतु वर्तमान समय में यह स्पष्ट हो चुका है कि शिक्षा और मानसिक स्वास्थ्य एक-दूसरे से गहराई से जुड़े हुए हैं। जो विद्यार्थी मानसिक रूप से संतुलित, सुरक्षित, समर्थ और प्रेरित होता है, वह अधिगम की प्रक्रिया में अधिक सक्रिय, सृजनशील और सफल हो सकता है। इसके विपरीत, मानसिक असंतुलन, चिंता, निराशा, आत्म-संदेह या भावनात्मक विघटन अधिगम की गुणवत्ता और उपलब्धि दोनों को प्रभावित कर सकते हैं।

मानसिक स्वास्थ्य का अर्थ केवल मानसिक रोगों की अनुपस्थिति नहीं है। यह व्यक्ति की उस सकारात्मक स्थिति को इंगित करता है जिसमें वह स्वयं को समझता है, अपने भावों को संतुलित ढंग से अभिव्यक्त कर पाता है, तनाव का सामना करने में सक्षम होता है, दूसरों के साथ स्वस्थ संबंध बनाए रखता है, अपने दैनंदिन कार्यों को प्रभावी ढंग से संपन्न कर पाता है, और जीवन को अर्थपूर्ण तथा आशावादी दृष्टि से देखता है। विद्यालयी विद्यार्थियों के संदर्भ में मानसिक स्वास्थ्य में आत्मविश्वास, आत्म-सम्मान, भावनात्मक स्थिरता, सामाजिक सहभागिता, आशावादिता, धैर्य, समस्या-समाधान क्षमता, आत्म-नियमन और भविष्य के प्रति विश्वास जैसे आयाम शामिल किए जा सकते हैं।

विद्यालयी जीवन में मानसिक स्वास्थ्य अनेक कारकों से प्रभावित होता है। पहला कारक शैक्षिक दबाव है। यदि विद्यार्थी को लगातार यह अनुभव हो कि उसका मूल्य केवल अंकों और परिणामों से तय होगा, तो उसकी आत्म-धारणा अस्थिर हो सकती है। दूसरा कारक पारिवारिक वातावरण है। सहयोगी, समझदार और संवादशील परिवार विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य के लिए सुरक्षा-कवच का कार्य करते हैं, जबकि अत्यधिक नियंत्रण, तुलना, अवास्तविक अपेक्षाएँ या तनावपूर्ण घरेलू वातावरण नकारात्मक प्रभाव डाल सकते हैं। तीसरा कारक विद्यालयी संस्कृति है। ऐसे विद्यालय जहाँ शिक्षक संवेदनशील हों, संवाद खुला हो, सहपाठियों में सम्मानपूर्ण संबंध हों, तथा असफलता को सीखने की प्रक्रिया का हिस्सा माना जाए, वहाँ विद्यार्थियों का मानसिक स्वास्थ्य अपेक्षाकृत अच्छा रह सकता है। चौथा कारक सामाजिक तुलना और डिजिटल प्रभाव है। आज के विद्यार्थी केवल अपने विद्यालय तक सीमित नहीं हैं; वे सोशल मीडिया, ऑनलाइन प्रतिस्पर्धा, दूसरों की उपलब्धियों के प्रदर्शन और निरंतर तुलना की संस्कृति से भी प्रभावित होते हैं।

मानसिक स्वास्थ्य का शैक्षिक उपलब्धि से भी सीधा संबंध है। सकारात्मक मानसिक स्वास्थ्य वाले विद्यार्थी सामान्यतः अधिक एकाग्र, प्रेरित, सहयोगी और धैर्यवान होते हैं। वे चुनौतियों का सामना अपेक्षाकृत संतुलित रूप में करते हैं, असफलता से जल्दी उबरते हैं और अपने प्रयासों में निरंतरता बनाए रखते हैं। इसके विपरीत, कमजोर मानसिक स्वास्थ्य वाले विद्यार्थी छोटी कठिनाइयों से भी अत्यधिक प्रभावित हो सकते हैं, पढ़ाई से अरुचि विकसित कर सकते हैं, स्वयं को दूसरों से कमतर मान सकते हैं और अपने प्रदर्शन के प्रति भय या निराशा से भर सकते हैं।

मानसिक स्वास्थ्य के संकेतों को विद्यालयी जीवन में अक्सर गंभीरता से नहीं लिया जाता। चिड़चिड़ापन, एकांतप्रियता, अध्ययन में गिरावट, ध्यान की कमी, बार-बार अनुपस्थिति, भावनात्मक उदासी, अत्यधिक घबराहट या असामान्य मौन जैसे संकेत कई बार केवल अनुशासन या पढ़ाई की समस्या समझ लिए जाते हैं, जबकि वे गहरे मानसिक तनाव की अभिव्यक्ति भी हो सकते हैं। इसलिए शिक्षकों और अभिभावकों दोनों के लिए यह आवश्यक है कि वे विद्यार्थियों के व्यवहार में आए परिवर्तनों को केवल नैतिक या अनुशासनात्मक चश्मे से न देखें, बल्कि उन्हें भावनात्मक संदर्भ में भी समझने का प्रयास करें।

विविध अध्ययन क्षेत्रों के संदर्भ में मानसिक स्वास्थ्य का स्वरूप भी अलग हो सकता है। विज्ञान वर्ग में अत्यधिक प्रदर्शन-दबाव और समय-प्रबंधन का संकट चिंता और आत्म-संदेह को जन्म दे सकता है। वाणिज्य वर्ग में करियर-निर्णय और व्यावसायिक अपेक्षाएँ मानसिक दबाव का कारण बन सकती हैं। कला वर्ग में सामाजिक तुलना और विषय की प्रतिष्ठा से जुड़े अनुभव आत्मसम्मान और आत्म-प्रेरणा को प्रभावित कर सकते हैं। इन स्थितियों का मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव विद्यार्थियों की व्यक्तिगत पृष्ठभूमि, आत्म-धारणा, समर्थन-प्रणाली और समायोजन क्षमता के अनुसार बदलता रहता है।

इसलिए मानसिक स्वास्थ्य को विद्यालयी शिक्षा में केंद्रीय स्थान मिलना चाहिए। यह केवल चिकित्सकीय या संकट की स्थिति में हस्तक्षेप का विषय नहीं, बल्कि दैनिक शैक्षिक संस्कृति, शिक्षण विधियों, मूल्यांकन, शिक्षक-विद्यार्थी संबंधों, सहपाठी वातावरण और परिवार-विद्यालय संवाद का भी हिस्सा है। यदि विद्यालय मानसिक स्वास्थ्य को शिक्षा की गुणवत्ता से जोड़कर देखें, तो वे अधिक समावेशी, संवेदनशील और प्रभावी शैक्षिक परिवेश का निर्माण कर सकते हैं।

समायोजन की अवधारणा और विद्यार्थी जीवन में उसका महत्त्व

मानव जीवन निरंतर समायोजन की प्रक्रिया है। व्यक्ति जन्म से लेकर जीवन के प्रत्येक चरण में बदलती परिस्थितियों, अपेक्षाओं, संबंधों, भूमिकाओं और वातावरण के साथ स्वयं को ढालता है। यही प्रक्रिया समायोजन कहलाती है। मनोविज्ञान में समायोजन का तात्पर्य व्यक्ति और उसके वातावरण के बीच संतुलित संबंध स्थापित करने की उस क्षमता से है, जिसके माध्यम से वह अपनी आवश्यकताओं, अभिप्रेरणाओं, लक्ष्यों और बाहरी परिस्थितियों के बीच सामंजस्य स्थापित करता है।

विद्यार्थी जीवन में समायोजन की भूमिका विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि विद्यालय एक ऐसा सामाजिक और शैक्षिक स्थल है जहाँ व्यक्ति को अनेक प्रकार की अपेक्षाओं, नियमों, भूमिकाओं और संबंधों का एक साथ सामना करना पड़ता है।

समायोजन को केवल बाहरी नियमों के पालन तक सीमित नहीं माना जाना चाहिए। यह एक गहन मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति अपने अनुभवों की व्याख्या करता है, अपनी क्षमताओं और सीमाओं को पहचानता है, निराशा और असफलता से निपटता है, दूसरों के साथ संबंधों का निर्माण करता है और बदलती परिस्थितियों में कार्यशील संतुलन बनाए रखने का प्रयास करता है। उच्च माध्यमिक स्तर का विद्यार्थी इस दृष्टि से विशेष ध्यान का विषय है, क्योंकि वह न तो पूर्णतः बालक है और न पूर्णतः वयस्क; वह संक्रमणकाल से गुजर रहा होता है, जहाँ आत्म-पहचान, स्वायत्तता, उत्तरदायित्व और भविष्य-निर्धारण की प्रक्रियाएँ सक्रिय होती हैं।

विद्यालयी संदर्भ में समायोजन के कई आयाम होते हैं। पहला आयाम शैक्षिक समायोजन है, जिसका संबंध विद्यार्थी की पढ़ाई, विषयों, समय-प्रबंधन, गृहकार्य, परीक्षा, शिक्षकों की अपेक्षाओं और सीखने की प्रक्रियाओं से होता है। जो विद्यार्थी शैक्षिक समायोजन में सक्षम होते हैं, वे अध्ययन के प्रति अपेक्षाकृत स्थिर रुचि रखते हैं, अपनी कठिनाइयों का समाधान खोजते हैं और शैक्षिक चुनौतियों से घबराने के बजाय उन्हें संभालने की कोशिश करते हैं। दूसरा आयाम सामाजिक समायोजन है, जिसमें सहपाठियों, मित्रों, शिक्षकों और विद्यालय समुदाय के अन्य सदस्यों के साथ संबंधों की गुणवत्ता शामिल है। तीसरा आयाम भावनात्मक समायोजन है, जो विद्यार्थी की भावनाओं, निराशाओं, तनाव, क्रोध, भय और आकांक्षाओं को संतुलित ढंग से नियंत्रित करने की क्षमता से संबंधित है। चौथा आयाम पारिवारिक समायोजन है, जिसमें घर के वातावरण, माता-पिता की अपेक्षाओं, पारिवारिक संवाद और समर्थन प्रणाली की भूमिका आती है। पाँचवाँ आयाम व्यक्तिगत या आत्म-समायोजन है, जिसमें व्यक्ति स्वयं के प्रति दृष्टिकोण, आत्म-सम्मान, आत्म-स्वीकृति और आत्म-नियमन को शामिल किया जा सकता है।

विविध अध्ययन क्षेत्रों का प्रभाव समायोजन पर भी पड़ता है। विज्ञान वर्ग के विद्यार्थी अध्ययन-भार और प्रतिस्पर्धा के कारण समय और भावनात्मक ऊर्जा दोनों के दबाव में रह सकते हैं, जिससे सामाजिक समायोजन प्रभावित हो सकता है। वाणिज्य वर्ग के विद्यार्थी व्यावहारिक उपलब्धि और करियर-तैयारी के दबाव में अपनी शैक्षिक पहचान को लेकर संवेदनशील हो सकते हैं। कला वर्ग के विद्यार्थी यदि अपने विषय को सामाजिक रूप से कम मान्यता प्राप्त अनुभव करें, तो आत्म-समायोजन और सामाजिक समायोजन दोनों में चुनौतियाँ आ सकती हैं। यह भी संभव है कि कुछ विद्यार्थी अपने अध्ययन क्षेत्र के कारण बेहतर समायोजन करें, क्योंकि उन्हें विषय में रुचि हो और वे अध्ययन को अर्थपूर्ण अनुभव करें।

विद्यालयी शिक्षा के लिए इसका स्पष्ट अर्थ है कि समायोजन केवल विद्यार्थी की व्यक्तिगत जिम्मेदारी नहीं है। यह विद्यालयी संरचना, शिक्षण शैली, अनुशासन संस्कृति, सहपाठी संबंधों, परिवार के साथ संवाद, मूल्यांकन प्रणाली और सामाजिक समर्थन का संयुक्त परिणाम है। अतः यदि शिक्षा को वास्तव में समग्र विकास की प्रक्रिया माना जाए, तो समायोजन को भी शैक्षिक सफलता के एक मूलभूत संकेतक के रूप में स्वीकार करना होगा।

शैक्षिक तनाव, मानसिक स्वास्थ्य और समायोजन के पारस्परिक संबंध

विद्यालयी जीवन को समझने के लिए शैक्षिक तनाव, मानसिक स्वास्थ्य और समायोजन को अलग-अलग खंडों में विभाजित कर देखना पर्याप्त नहीं है। ये तीनों चर वस्तुतः परस्पर अंतर्निहित और अंतःक्रियात्मक हैं। एक में परिवर्तन दूसरे को प्रभावित करता है, और अनेक बार यह प्रभाव रैखिक न होकर चक्रीय और जटिल होता है। यही कारण है कि विद्यार्थियों के समग्र अनुभव को समझने के लिए इन तीनों के परस्पर संबंधों का विश्लेषण आवश्यक है।

सबसे पहले शैक्षिक तनाव और मानसिक स्वास्थ्य के संबंध को देखा जा सकता है। सामान्य रूप से यह माना जाता है कि अत्यधिक शैक्षिक तनाव मानसिक स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। जब विद्यार्थी निरंतर परीक्षा-दबाव, अध्ययन-भार, अपेक्षाओं, तुलना और भविष्य की चिंता में घिरा रहता है, तो उसकी भावनात्मक ऊर्जा क्षीण होने लगती है। यह स्थिति चिंता, चिड़चिड़ापन, थकान, उदासी, आत्म-संदेह और निराशा जैसे रूपों में व्यक्त हो सकती है। यदि विद्यार्थी को समय पर सहारा, संवाद और विश्राम न मिले, तो तनाव मानसिक स्वास्थ्य की नींव को कमजोर कर सकता है। हालाँकि यह संबंध सभी विद्यार्थियों में समान रूप से कार्य नहीं करता। कुछ विद्यार्थी तनाव को चुनौती के रूप में लेते हैं और मानसिक रूप से अधिक मजबूत बने रहते हैं, जबकि कुछ विद्यार्थी तुलनात्मक रूप से कम दबाव में भी अधिक प्रभावित हो सकते हैं। इसका अर्थ है कि

मानसिक स्वास्थ्य केवल तनाव की मात्रा से नहीं, बल्कि उससे निपटने की शैली, आत्म-विश्वास, सामाजिक समर्थन और समायोजन क्षमता से भी निर्धारित होता है।

यदि हम शैक्षिक तनाव और समायोजन के संबंध पर विचार करें तो पाते हैं कि जब विद्यार्थी विद्यालय, परिवार और स्वयं के साथ अच्छा समायोजन स्थापित कर लेता है, तो वह शैक्षिक तनाव को नियंत्रित करने में अधिक सक्षम होता है। उदाहरण के लिए, यदि उसका शिक्षकों से संवाद खुला है, सहपाठियों से सहयोगात्मक संबंध हैं, घर का वातावरण सहायक है और वह अपनी पढ़ाई को संगठित ढंग से करता है, तो तनाव के प्रभाव सीमित रह सकते हैं। इसके विपरीत, यदि विद्यार्थी विद्यालयी वातावरण में असुरक्षित महसूस करता है, साथियों से कटाव अनुभव करता है, परिवार से समझ की कमी हो, या उसे अपनी क्षमताओं पर विश्वास न हो, तो वही शैक्षिक दबाव अधिक तीव्र और विघटनकारी बन सकता है। इस प्रकार समायोजन तनाव के विरुद्ध एक सुरक्षात्मक कारक का काम कर सकता है। दूसरी ओर, अत्यधिक तनाव स्वयं समायोजन को भी कमजोर कर सकता है। तनावग्रस्त विद्यार्थी अधिक चिड़चिड़ा, अंतर्मुखी, अस्थिर या अनियंत्रित व्यवहार करने लग जाता है, जिससे उसके संबंधों में तनाव आ सकता है और समायोजन और भी कठिन हो सकता है।

मानसिक स्वास्थ्य और समायोजन का संबंध भी अत्यंत निकट है। अच्छा मानसिक स्वास्थ्य रखने वाला विद्यार्थी सामान्यतः बेहतर समायोजन करता है, क्योंकि उसमें भावनात्मक संतुलन, सामाजिक सहभागिता, आत्म-नियमन और समस्या-समाधान क्षमता अपेक्षाकृत अधिक होती है। वह असफलता को सह सकता है, संबंधों में लचीलापन दिखा सकता है और बदलती परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं को ढाल सकता है। दूसरी ओर, जो विद्यार्थी मानसिक रूप से अस्थिर या अत्यधिक चिंतित हो, उसमें समायोजन की कठिनाइयाँ बढ़ सकती हैं। वह दूसरों के व्यवहार को नकारात्मक रूप में ग्रहण कर सकता है, स्वयं को असुरक्षित अनुभव कर सकता है, आलोचना से टूट सकता है, या सामाजिक और शैक्षिक परिस्थितियों से बचने की प्रवृत्ति विकसित कर सकता है।

इन तीनों चरों के संबंध को एक चक्रीय प्रक्रिया के रूप में भी समझा जा सकता है। यदि विद्यार्थी पर शैक्षिक तनाव बढ़ता है, तो उसका मानसिक स्वास्थ्य कमजोर हो सकता है; यदि मानसिक स्वास्थ्य कमजोर होता है, तो समायोजन कठिन हो जाता है; यदि समायोजन कमजोर होता है, तो वही व्यक्ति शैक्षिक दबावों को और अधिक तीव्र रूप में अनुभव करने लगता है। इस प्रकार तनाव, मानसिक स्वास्थ्य और समायोजन एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए एक दुष्चक्र बना सकते हैं। दूसरी ओर, यदि मानसिक स्वास्थ्य अच्छा हो, समायोजन स्वस्थ हो और तनाव प्रबंधनीय स्तर पर हो, तो यह एक सकारात्मक चक्र भी बना सकता है-जहाँ विद्यार्थी चुनौतियों से सीखता है, संबंधों से शक्ति प्राप्त करता है और उपलब्धि की दिशा में संतुलित रूप से बढ़ता है।

विविध अध्ययन क्षेत्रों के संदर्भ में भी इन संबंधों की प्रकृति बदल सकती है। विज्ञान वर्ग में उच्च शैक्षिक तनाव के बावजूद यदि विद्यार्थी का समायोजन अच्छा है और उसे विद्यालय व परिवार का पर्याप्त समर्थन है, तो उसका मानसिक स्वास्थ्य संतुलित रह सकता है। वाणिज्य वर्ग में यदि व्यावसायिक लक्ष्य स्पष्ट हों, तो तनाव प्रेरक बन सकता है; लेकिन लक्ष्य-अस्पष्टता की स्थिति में यही तनाव मानसिक असुरक्षा में बदल सकता है। कला वर्ग में यदि विषय के प्रति सकारात्मक आत्म-धारणा और सामाजिक स्वीकृति मिले, तो समायोजन बेहतर हो सकता है; अन्यथा सामाजिक तुलना मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित कर सकती है।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शैक्षिक तनाव को पूर्णतः समाप्त करना न संभव है और न ही आवश्यक। शिक्षा में लक्ष्य, अनुशासन और प्रयास की माँग स्वाभाविक है। वास्तविक आवश्यकता यह है कि तनाव को किस प्रकार संतुलित, प्रबंधित और मानवीय बनाया जाए। इसके लिए मानसिक स्वास्थ्य और समायोजन को शिक्षा की परिधि से निकालकर उसके केंद्र में रखना होगा।

निष्कर्ष

शिक्षा केवल बौद्धिक उपलब्धि का क्षेत्र नहीं, बल्कि भावनात्मक अनुभव, सामाजिक संबंध, आत्म-निर्माण और भविष्य की आकांक्षाओं का भी क्षेत्र है। विविध अध्ययन क्षेत्रों के विद्यार्थियों के अनुभव अलग-अलग हो सकते हैं, किंतु एक बात समान है कि हर विद्यार्थी को ऐसे विद्यालयी वातावरण की आवश्यकता है जहाँ वह केवल "अंक प्राप्त करने वाली

इकाई" न होकर एक संवेदनशील, संघर्षशील और विकसित होती हुई मानवीय सत्ता के रूप में देखा जाए। उच्च माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत कला, वाणिज्य एवं विज्ञान वर्ग के विद्यार्थियों के जीवन को समझने के लिए शैक्षिक तनाव, मानसिक स्वास्थ्य और समायोजन तीनों को एक साथ देखना आवश्यक है। जब तक विद्यालयी शिक्षा इस मानवीय आयाम को केंद्र में नहीं लाती, तब तक शैक्षिक उपलब्धि का मॉडल अधूरा रहेगा। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते है कि उच्च माध्यमिक विद्यालयों में ऐसी शैक्षिक संस्कृति विकसित की जाए जो तनाव को समझे, मानसिक स्वास्थ्य का पोषण करें और समायोजन को प्रोत्साहित करें। यही शिक्षा को वास्तव में समावेशी, संवेदनशील और सार्थक बना सकेगा।

संदर्भ :

- अग्रवाल, जे. सी. (2009). शैक्षिक मनोविज्ञान. नई दिल्लीः विकास पब्लिशिंग हाउस.
- मंगल, एस. के. (2007). उन्नत शैक्षिक मनोविज्ञान. नई दिल्लीः पीएचआई लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड.
- बख्शी, ए., एवं कौर, के. (2010). किशोरों में भावनात्मक परिपक्वता, चिंता और समायोजन. जर्नल ऑफ द इंडियन एकेडमी ऑफ एप्लाइड साइकोलॉजी, 36(1), 73-80.
- बसु, एस. (2012). माध्यमिक विद्यालय के विद्यार्थियों का समायोजन लिंग एवं शैक्षिक उपलब्धि के संदर्भ में. इंडियन जर्नल ऑफ साइकोमेट्री एंड एजुकेशन, 43(2), 145-149.
- दत्ता, जे., एवं सेन, ए. (2018). किशोरों का मानसिक स्वास्थ्यः शैक्षिक तनाव और समायोजन के संदर्भ में. इंटरनेशनल जर्नल ऑफ रिसर्च इन सोशल साइंसेज, 8(3), 233-245.
- मोहंती, आई. (2017). उच्च माध्यमिक विद्यार्थियों में शैक्षिक तनाव और समायोजन. इंडियन जर्नल ऑफ एप्लाइड रिसर्च, 7(5), 250-252.
- रस्तोगी, एम., एवं सिंह, एस. (2015). किशोरों में शैक्षिक तनाव और मानसिक स्वास्थ्य. द इंटरनेशनल जर्नल ऑफ इंडियन साइकोलॉजी, 3(1), 123-129.
- रेड्डी, के. जे., मेनन, के. आर., एवं थाट्टिल, ए. (2018). विश्वविद्यालयी विद्यार्थियों में शैक्षिक तनाव और उसके स्रोत. बायोमेडिकल एंड फार्माकोलॉजी जर्नल, 11(1), 531-537.

Received: 16.01.2026 | Accepted: 22.01.2026 | Published: 30.01.2026

आजमगढ़ जनपद (उ.प्र.) में अनुसूचित जाति की साक्षरता एवं उसको प्रभावित करने वाले कारक

डॉ. जगदेव* **jagdevsaral@gmail.com**

पुष्कर† **kpushkar989@gmail.com**

सारांश -

साक्षरता का अर्थ है साक्षर होना। अलग-अलग देशों में साक्षरता के अलग-अलग मानक है। भारत में राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के अनुसार अगर कोई अपना नाम लिखने और पढ़ने की योग्यता हासिल कर लेता है। तो उसे साक्षर माना जाता है। भारत में सात साल या उससे अधिक उम्र का व्यक्ति जो किसी भी भाषा में पढ़ या लिख सकता है, उसे साक्षर माना जाता है। अध्ययन क्षेत्र में अनुसूचित जाति की साक्षरता को (जनगणना-2011) तीन श्रेणी क्रमशः उच्च, मध्यम व निम्न में विभाजित किया गया है। अनुसूचित जाति की जनसंख्या की सबसे अधिक साक्षरता क्रमशः ठेकमा, बिलरियागंज, लालगंज, मेंहनगर तथा अजमतगढ़ विकास खण्ड में है जबकि न्यूनतम साक्षरता क्रमशः पवई, अतरौलिया, मार्टिनगंज, महराजगंज व कोयलसा विकास खण्ड में है।

मुख्य शब्द -

साक्षरता, विकासखण्ड, अनुसूचित जाति, जनसंख्या, जनगणना, ग्रामीण व शहरी क्षेत्र।

प्रस्तावना -

जनपद आजमगढ़ मध्य गंगा मैदान में पूर्व उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत आता है। जिसका अक्षांशय विस्तार 250, 38’ से 260 27’ के मध्य और देशान्तरीय विस्तार 820 20’ से 83 13’ के मध्य स्थित है। अध्ययन क्षेत्र के पूर्व एवं उत्तर-पूर्व में मऊ, दक्षिण-पूर्व में गाजीपुर, दक्षिण-पश्चिम में जौनपुर, पश्चिम में सुल्तानपुर, उत्तर-पश्चिम में अम्बेडकर नगर तथा उत्तर में गोरखपुर जनपद स्थित है। अध्ययन क्षेत्र की उत्तरी-दक्षिणी दूरी 105 किमी. तथा पश्चिमी-पूर्वी दूरी 92 किमी. है। जनगणना 2011 के अनुसार अध्ययन क्षेत्र का कुल भौगोलिक क्षेत्रफल 4054 वर्ग किमी. है। अध्ययन क्षेत्र में अनुसूचित जाति की कुल जनसंख्या 1123453 है, जिसमें पुरुष 554540 व महिला जनसंख्या 568913 है। जनगणना 2011 में कुल साक्षरता 70.93 प्रतिशत है, जिसमें पुरुष साक्षरता 81.34 प्रतिशत तथा स्त्रियों की साक्षरता 60.91 प्रतिशत है।

अध्ययन विधि -

शोध प्रबन्ध में द्वितीयक आंकड़ों का प्रयोग किया गया है। आंकड़ों के एकत्रण के लिए सेन्सस हैण्डबुक, सांख्यिकीय पत्रिका, शोध पत्र भारत की जनगणना एवं अन्य पाठ्य पुस्तकों की सहायता ली गयी है। अनुसूचित जाति की साक्षरता, जनगणना 2011 के अनुसार प्राप्त आंकड़ों का विश्लेषण एवं सारणीयन किया गया है।

* **प्रोसफेर एवं विभागाध्यक्ष, राजकीय महाविद्यालय बरडीहाँ, रामकोला, कुशीनगर (उ. प्र.)**

† **शोध छात्र, संत गणिनाथ राजकीय, पी. जी. कालेज, मुहम्मदाबाद, गोहना, मऊ (उ. प्र.)**

अध्ययन का उद्देश्य -

1. अध्ययन क्षेत्र में स्थित अनुसूचित जाति जनसंख्या की साक्षरता का अध्ययन करना।

2. अनुसूचित जाति जनसंख्या की साक्षरता को प्रभावित करने वाले कारकों का अध्ययन करना।

जनसंख्या भूगोल में जनसंख्या की सामाजिक विशेषताओं का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। जनसंख्या की सामाजिक विशेषताओं के अन्तर्गत जनसंख्या के गुणों जैसे- साक्षरता, धार्मिक संरचना, भाषा, राष्ट्रियता, वैवाहिक स्वरूप, पारिवारिक संरचना एवं रोजगार की दशा आदि का अध्ययन किया जाता है। इसके अध्ययन से किसी भी क्षेत्र की जनसंख्या के सांस्कृतिक पक्ष की जानकारी होती है। ये सभी विशेषताएं प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से जनसंख्या की अन्य विशेषताओं (जनांकिकीय एवं आर्थिक) को प्रभावित करती है तथा इससे प्रभावित होती है।

अध्ययन क्षेत्र के अन्तर्गत 22 विकासखण्ड सम्मिलित है। जैसे- अहिरौला, अतरौलिया, अजमतगढ़, बिलरियागंज, हरैया, जहानागंज, कोयलसा, लालगंज, महराजगंज, मार्टिनगंज, मेंहनगर, मिर्जापुर, मुहम्मदपुर, पल्हना, पल्हनी, पवई, फूलपुर, रानी की साय, सठियांव, तहबरपुर, तरवां तथा ठेकमा विकासखण्ड आते हैं। अध्ययन क्षेत्र के अन्तर्गत 8 तहसीले जैसे- सदर, सगड़ी, लालगंज, फूलपुर, निजामाबाद, बुढनपुर, मार्टिनगंज, एवं मेंहनगर है। 278 न्याय पंचायत व 4101 गाँव अध्ययन क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। इसके अन्तर्गत 03 नगर पालिका, 10 नगर पंचायत, 2 लोकसभा की सीटे व 10 सीट विधान सभा के अन्तर्गत आते हैं।

साक्षरता का अर्थ केवल अक्षर ज्ञान (पढ़ने-लिखने) से नहीं, बल्कि सूचनाओं को समझने, व्याख्या करने और संवाद करने की क्षमता से है। यह एक सतत सीखने की प्रक्रिया है जो व्यक्तियों को सशक्त, आत्मनिर्भर और सामाजिक रूप से सक्रिय बनाती है, जिससे गरीबी कम होती है, बेहतर स्वास्थ्य निर्णय लिये जा सकते हैं और आर्थिक विकास को बढ़ावा मिलता है।

साक्षरता का वितरण (अनु0 जाति जनसंख्या, जनपद-आजमगढ़)

क्र0 सं0	विकास खण्ड	साक्षर जनसंख्या			साक्षरता दर		
		जनसंख्या	पुरूष	महिला	कुल साक्षरता	पुरूष साक्षरता	महिला साक्षरता
1.	अतरौलिया	17413	10060	7353	67.97	80.06	55.98
2.	कोयलसा	22440	13002	9438	65.37	78.29	53.26
3.	अहिरौला	25406	15188	10218	64.47	77.33	51.69
4.	महराजगंज	22086	12846	9240	60.43	71.66	49.62
5.	हरैया	25356	14647	10709	61.41	72.05	51.08
6.	बिलरियागंज	38968	23027	15959	64.55	76.31	52.81
7.	अजमतगढ़	30397	17567	12830	65.76	76.69	55.02
8.	पल्हनी	23763	14180	9583	66.30	77.54	54.58
9.	रानी की सराय	28467	16626	11841	65.11	77.02	53.50
10.	सठियांव	29639	17399	12240	62.73	72.13	52.93

11.	जहानागंज	28505	16797	11708	63.89	75.83	52.12
12.	तहबरपुर	23302	13536	9766	64.27	77.26	52.12
13.	मिर्जापुर	27951	16544	11357	64.15	76.22	52.48
14.	मुहम्मदपुर	28128	16157	11971	64.27	76.85	52.64
15.	पवई	28003	16287	11716	65.22	77.20	53.65
16.	फूलपुर	25961	15179	10782	64.14	77.25	51.76
17.	मार्टिनगंज	21647	12271	9376	62.48	75.00	51.28
18.	ठेकमा	42050	24272	17778	61.95	74.55	50.34
19.	लालगंज	53346	20206	15140	63.81	76.58	52.19
20.	तरवां	29788	17278	12510	63.77	76.26	52.00
21.	मेहनगर	32490	19129	13361	62.47	75.25	50.26
22.	पल्हना	17130	9804	7326	63.06	75.20	51.86
	सम्पूर्ण योग–	603554	351352	252202	63.87	75.92	52.30

जनगणना 2011 के अनुसार आजमगढ़ की कुल जनसंख्या- 4613913 जिसमें पुरुष 2285004 एवं स्त्रियां 2328909 है, जनघनत्व 1138 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी. है। लिंगानुपात 1019 व बालक लिंगानुपात 919 है। साक्षरता 70.93 प्रतिशत है। जिसमें पुरुष साक्षरता 81.34 प्रतिशत व महिला साक्षरता 60.91 प्रतिशत है। आजमगढ़ जनपद में 8.5 प्रतिशत जनसंख्या नगरीय क्षेत्रों व 91.5 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है। नगरीय क्षेत्रों की साक्षरता 77.3 प्रतिशत व ग्रामीण साक्षरता 70.3 प्रतिशत है। नगरीय क्षेत्रों में बालक लिंगानुपात 945 तथा ग्रामीण क्षेत्रों में, 1026 है।

अध्ययन क्षेत्र में अनुसूचित जाति जनसंख्या की सबसे अधिक साक्षरता (जनगणना 2011 के संलग्न सारणी से स्पष्ट) क्रमशः ठेकमा, बिलरियागंज, लालगंज, मेहनगर तथा अजमतगढ़ विकासखण्ड में प्रदर्शित हो रही है तथा न्यूनतम साक्षरता क्रमशः पवई, अतरौलिया, मार्टिनगंज, महराजगंज व कोयलसा विकासखण्ड में मिलती है। अध्ययन क्षेत्र में साक्षरता पिछड़ी दशा में है। यहाँ अनुसूचित जाति की कुल साक्षरता 63.87 प्रतिशत है जो बहुत ही दयनीय स्थिति में है। पुरूषों की साक्षरता 75.92 प्रतिशत व स्त्रियों की साक्षरता मात्र 52.3 प्रतिशत है जो अत्यन्त ही दयनीय स्थिति है। जिसका मतलब सिर्फ 52.3 प्रतिशत स्त्रियाँ शिक्षित व साक्षर है। पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की साक्षरता जागरूकता 23 प्रतिशत कम है।

अध्ययन क्षेत्र में पुरुष की सर्वाधिक साक्षरता का प्रतिशत क्रमशः अतरौलिया, कोयलसा, पल्हनी, अहिरौला तथा तहबरपुर विकासखण्ड में मिलता है व स्त्रियों की सर्वाधिक साक्षरता का प्रतिशत क्रमशः अतरौलिया, अजमतगढ़, पल्हनी, पवई व रानी की सराय खण्ड में मिलता है। पुरुष की न्यूनतम साक्षरता का प्रतिशत क्रमशः महराजगं, हरैया, सठियांव, ठेकमा व मार्टिनगंज विकास खण्ड में है तथा स्त्रियों की न्यूनतम साक्षरता का प्रतिशत क्रमशः महराजगंज, मेहनगर, ठेकमा, हरैया तथा मार्टिनगंज विकास खण्ड में है।

साक्षरता को प्रभावित करने वाले कारकः-

आजमगढ़ में साक्षरता का वितरण् प्रतिरुप निम्न कारकों द्वारा प्रभावित व नियन्त्रित होता है-

1. शिक्षण संस्थाओं का असमान वितरण:- शिक्षण संस्थाओं का असमान वितरण व सकेन्द्रण साक्षरता वितरण प्रतिरूप को निर्धारित करता है। ग्रामीण क्षेत्रों में आवागमन के साधनों का अभाव होने के कारण यहाँ शिक्षण संस्थाएं दूर-दूर जबकि नगरीय क्षेत्रों में पास होती है। नगरीय ग्रामीण क्षेत्रों की संस्थाओं में इनका अभाव होता है। यही कारण है कि शिक्षण सुविधाओं से युक्त क्षेत्रों में अधिक साक्षरता एवं अभावग्रस्त क्षेत्रों में न्यून साक्षरता पायी जाती है।

2. परिवहन तन्त्र का असमान वितरण:- परिवहन तंत्र किसी भी देश या क्षेत्र के विकास को प्रदर्शित करते हैं। नगरों का विकास, आर्थिक विकास एवं शिक्षण संस्थाओं का विकास को प्रदर्शित करते हैं। नगरों का विकास, आर्थिक विकास एवं शिक्षण संस्थाओं का विकास परिवहन के साधनों के सहारे ही होता है। परिवहन तन्त्र द्वारा क्षेत्रों का विकास निर्धारित होता है कि साथ ही शिक्षण संस्थानों तक बच्चों की पहुँच व साक्षरता को बढ़ावा देता है। ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में नगरों में परिवहन का विकास अधिक हुआ हे, जिससे नगरीय जनसंख्या में साक्षरता दर अधिक तथा ग्रामीण क्षेत्रों में कम पायी जाती है।

3. व्यावसायिक संरचना में अन्तर:- किसी भी क्षेत्र की व्यावसायिक संरचना साक्षरता के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान देती है। नगरीय क्षेत्रों में व्यावसायिक संरचना द्वितीयक एवं तृतीयक प्रधान होती है जिससे साक्षर व तकनीकी ज्ञान युक्त कुशल श्रमिकों की आवश्यकता को ध्यान में रखकर ग्रामीण क्षेत्रों की व्यावसायिक संरचना प्राथमिक की प्रधानता होती है जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में साक्षरता कम व नगरीय क्षेत्रों में साक्षरता अधिक पायी जाती है।

4. आर्थिक संरचना में अन्तर:- आर्थिक स्तर किसी भी क्षेत्र की साक्षरता को निर्धारित करता है। आर्थिक रुप से सम्पन्न लोग अपने बच्चों को अधिक स्कूल भेजते हैं जबकि आर्थिक रुप से कमजोर लोग अपने बच्चों को अपने साथ अपने कार्यों व कृषि के कार्यों में अधिक संलिप्त रखते हैं। यही कारण है कि आर्थिक रुप से सम्पन्न जातियों में साक्षरता अधिक व कम सम्पन्न जाति में साक्षरता का स्तर निम्न पाया जाता है। अतः आर्थिक स्तर साक्षरता को प्रमुख रुप से नियन्त्रित करता है।

5. रहन-सहन के स्तर में अन्तर:- रहन-सहन का स्तर एवं साक्षरता में धनात्मक सह-सम्बन्ध पाया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में रहन-सहन का स्तर निम्न होने के कारण साक्षरता दर कम तथा नगरीय क्षेत्रों में रहन-सहन का उच्च होने के कारण साक्षरता दर अधिक पायी जाती है। ग्रामीण क्षेत्रों में अनुसूचित जाति जनसंख्या का सकेन्द्रण अधिक पाया जाता है। आर्थिक विपन्नता एवं निर्धनता के कारण उनके रहन-सहन का स्तर निम्न है; जिससे उनमें साक्षरता दर कम पायी जाती है।

6. स्त्रियों के सामाजिक स्तर में अन्तर:- ग्रामीण एवं नगरीय समाजों में स्त्रियों का सामाजिक एवं आर्थिक स्तर भिन्न-भिन्न होता है। ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक स्तर निम्न होता है जिसके कारण बाल-विवाह, पर्दाप्रथा, बालिकाओं को घर के कार्य तक सीमित रखना तथा शिक्षण संस्थानों तक न पहुँच पाना आदि साक्षरता को प्रभावित करता है। जबकि नगरीय क्षेत्रों में सामाजिक स्तर अन्य होता है तथा सभी महिलाएं स्वावलम्बी होती है। ये सभी शिक्षण संस्थाओं में उच्च शिक्षा व तकनीकी शिक्षा तक प्राप्त करती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि स्त्रियों के सामाजिक स्तर में अन्तर के कारण साक्षरता में अन्तर देखने को मिलता है।

अध्ययन क्षेत्र में साक्षरता का स्तर निम्न है तथा क्षेत्र में अनुसूचित जाति जनसंख्या का स्तर और भी निम्न है तथा सभी लोग अपने आर्थिक स्थिति को सुधारने में लगे है जब कि इनके पास संसाधनों का अभाव भी है और रोज-मर्रा की जिन्दगी जीने को विवश है। इनके पास रहने-खाने, की समस्या, आर्थिक पिछड़ेपन का शिकार, भूमि की कमी, रोजगार की कमी होती है जिसके कारण ये लोग जीविकोपार्जन के लिए परिवार के समस्त सदस्यों का सहयोग लेते हैं, जिस कारण से शिक्षा से वंचित हो जाते हैं।

अध्ययन क्षेत्र में सबसे अधिक साक्षर जनसंख्या ठेकमा विकासखण्ड में तथा सबसे कम साक्षर जनसंख्या पल्हना विकासखण्ड में है। सबसे अधिक पुरुष साक्षर ठेकमा विकासखण्ड में तथा सबसे कम पुरुष साक्षर पल्हना विकासखण्ड में है। सबसे अधिक महिला साक्षर ठेकमा विकासखण्ड में व सबसे कम महिला साक्षर पल्हना विकासखण्ड में है। साक्षरता को प्रतिशत में देखा जाय तो सबसे अधिक साक्षरता अतरौलिया व सबसे कम साक्षरता महाराजगंज विकासखण्ड में प्रदर्शित हो

रही है। सबसे अधिक पुरुष व महिला साक्षरता अतरौलिया विकासखण्ड व न्यूनतम पुरुष व महिला साक्षरता महराजगंज विकास में है। अनुसूचित जाति की साक्षरता को प्रभावित करने वाले कारको जैसे-शिक्षण संस्थानों का असमान वितरण, परिवहन तन्त्र का असमान वितरण, व्यावसायिक संरचना में असमान वितरण, आर्थिक संरचना में अन्तर, रहन-सहन के स्तर में अन्तर तथा स्त्रियों के सामाजिक स्तर में स्तर आदि साक्षरता को प्रभावित करते हैं।

संदर्भ :-

1. Prasad, H. (1986). *Azamgarh District: A study in population geography* [Ph.D. thesis, Banaras Hindu University].
2. Singh, S. (1987). *Scheduled castes of India: Dimensions of social change*. Gyan Publishing House.
3. Ojha, R. (1983). *Janankiya bhoogol*. Pratibha Prakashan.
4. Mamoria, C. B. (1961). *Indian population problems*. Kitab Mahal Pvt. Ltd.
5. Chandan, R. C., & Sindhu, M. S. (1980). *Introduction to population geography*. Kalyani Publishers.
6. Census of India. (2011). *Census of India 2011*. Office of the Registrar General & Census Commissioner, India. https://censusindia.gov.in/2011census
7. District Statistical Office Azamgarh. (2024). *District statistics: Azamgarh*. Government of Uttar Pradesh.

Received: 17.01.2026 | Accepted: 22.01.2026 | Published: 30.01.2026

मरखाहवा कजरवा (2008): भोजपुरी धोबी लोकगीत का एक मानवशास्त्रीय एवं लोकसांस्कृतिक विश्लेषण

डॉ. शिव कुमार*
shiv.anthro@gamil.com

सारांश:

प्रस्तुत शोध लेख "मरखाहवा कजरवा (2008): भोजपुरी धोबी लोकगीत का एक मानवशास्त्रीय एवं लोकसांस्कृतिक विश्लेषण" *में भोजपुरी लोकगीतों के माध्यम से धोबी (राजक) समुदाय के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन का विस्तृत अध्ययन किया गया है। इस अध्ययन में लोकगीतों को केवल मनोरंजन का साधन न मानकर समाज की संरचना, सांस्कृतिक निरंतरता और सामुदायिक पहचान को समझने का महत्वपूर्ण स्रोत माना गया है। लेख में मरखाहवा कजरवा एल्बम के चार प्रमुख लोकगीतों का गुणात्मक (Qualitative) मानवशास्त्रीय विश्लेषण किया गया है। पहले लोकगीत में दहेज प्रथा, पुत्र प्राथमिकता और लिंग असमानता जैसी सामाजिक समस्याओं को दर्शाया गया है, जो ग्रामीण समाज की मानसिकता और आर्थिक दबाव को स्पष्ट करता है। दूसरे लोकगीत में धोबी समुदाय के श्रम जीवन, पति-पत्नी के सहयोग, श्रम विभाजन तथा पारिवारिक जिम्मेदारियों का यथार्थ चित्रण मिलता है। तीसरे लोकगीत में संयुक्त परिवार की समस्याओं, संपत्ति विवादों और नातेदारी संबंधों में आने वाले तनाव का वर्णन है, जो सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को दर्शाता है। चौथे लोकगीत में वैवाहिक प्रेम, स्त्री श्रृंगार, लोक सौंदर्यबोध और सांस्कृतिक प्रतीकों का विश्लेषण किया गया है। यह अध्ययन स्पष्ट करता है कि लोकगीत समाज के सामाजिक मूल्यों, आर्थिक संघर्षों, लैंगिक संबंधों तथा सांस्कृतिक परंपराओं का जीवंत दस्तावेज होते हैं। साथ ही यह भी दर्शाता है कि लोकगीत अमूर्त सांस्कृतिक विरासत (Intangible Cultural Heritage) के संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। लेखक ने निष्कर्षतः कहा है कि ऐसे लोकगीतों का संरक्षण और अकादमिक अध्ययन आवश्यक है ताकि लोकसंस्कृति की परंपरा आने वाली पीढ़ियों तक सुरक्षित रह सके।*

कुंजी शब्द *:*

मरखाहवा कजरवा, भोजपुरी धोबी लोकगीत, मानवशास्त्रीय एवं लोकसांस्कृतिक विश्लेषण

प्रस्तावना:

लोक गीत लोक साहित्य का प्रमुख अंग है। सामूहिक जीवन के अवचेतन मन की अभिव्यक्ति जिसके माध्यम से की जाती है उसे लोक गीत कहते हैं (त्रिपाठी, 2013)। जन सामान्य के हर्ष-विषाद, उमंग-उत्साह, हास-परिहास, आशा-निराशा, सपनों और आकांक्षाओं को लोक गीतों के माध्यम से सुना जा सकता है। सहानुभूति के स्तर पर इनका पूर्णरूपेण अनुभव किया जा सकता है। लोक गीतों का अस्तित्व तब तक जीवित रहेगा जब तक मानव का अस्तित्व विद्यमान है (परमार, 2003)। लोक गीत लोक के गीत हैं, जिन्हें कोई एक व्यक्ति नहीं बल्कि पूरा लोक समाज अपनाता है। सामान्यतः लोक में प्रचलित, लोक द्वारा रचित एवं लोक के लिए लिखे गए गीतों को लोक गीत कहा जा सकता है। लोक गीतों का रचनाकार अपने व्यक्तित्व को लोक समर्पित कर देता है। शास्त्रीय नियमों की विशेष परवाह न करके सामान्य लोकव्यवहार के उपयोग में लाने के लिए मानव अपने आनंद की तरंग में जो छन्दोबद्ध वाणी सहज उद्भूत करता है, वही लोकगीत है। इस प्रकार लोकगीत को शाब्दिक रूप में लोक के गीत, लोक-रचित गीत, लोक विषयक गीत इत्यादि अर्थों में समझा जा सकता है।

* **सहायक प्रोफेसर, मानव विज्ञान, मॉडल डिग्री कॉलेज नुआपाड़ा, ओड़ीशा**

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि लोकगीत का संबंध देशज संस्कृति के लोगों से होता है, जो समान्यतः गांवों एवं कस्बों में साधारण जीवन बिताते हैं। जीवन निर्वाह करते समय अपने सामान्य जीवन की आप-बीती, कठिनाइयों, विश्वासों, प्रथाओं, संस्कृति तथा क्रिया-कलापों को अपने मनोरंजन एवं अपनी पहचान के रूप में याद करते हैं। इन्हीं यादों को विभिन्न क्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में परंपरा के रूप में बताते तथा सीखते हैं। यह लोकगीत उस जन समुदाय के अभिज्ञान तथा सांस्कृतिक निरंतरता का माध्यम है।

वेरियर एल्विन (1946) ने लोक गीतों की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि इनका महत्व इसलिए नहीं है कि इनके संगीत, स्वरूप और विषय में जनता का वास्तविक जीवन प्रतिबिंबित होता है प्रत्युत इनमें मानवशास्त्र के अध्ययन की प्रामाणिक एवं ठोस सामग्री हमें उपलब्ध होती है। (उपाध्याय,2008) इसी क्रम में मध्य-प्रदेश की करमा जाति के एक गीत में यह उल्लेख है कि 'यदि तुम मेरे जीवन की सच्ची कहानी जानना चाहते हो तो मेरे गीतों को सुनो।'(Folk Song of Mechel Hills, Introduction,p.15) मानवशास्त्र एक ऐसा विषय है जिसमें मानव को इकाई माना जाता है और उसे केंद्र में रखकर संपूर्ण समाज एवं संस्कृति का विश्लेषण किया जाता है जो मानव की सांस्कृतिक पहचान को दर्शाती है। इस प्रकार समाज की संपूर्ण संस्थाएं, रीति-रिवाज, प्रथाएं, नियम-कानून एवं कलाएं मानव द्वारा ही निर्मित होती हैं। मानव जन-समूहों एंव स्थानीय पारिस्थितिकी के सहयोग से प्रसारित होती है। अतः किसी भी प्रकार की सांस्कृतिक विशेषता में मानव की अभिज्ञानता छिपी होती है। लोकगीतों में स्थानीयता का प्रतिनिधित्व देखने को मिलता है। लोकगीतों में संस्कृति के विभिन्न तत्वों का समावेश होता है, जिसमें स्थान, समय, भौगोलिक परिदृश्य, स्थानीय पेड़-पौधे, जीव-जन्तु, एवं अवसरों का उल्लेख मिलता है। (Notes and Queries on Anthropology, 1951)

स्थानीय लोकगीतों की श्रेणी में ही एक विशेष लोक परंपरा "भोजपुरी" विश्व प्रसिद्ध लोक गीत परंपरा है। भोजपुरी लोक परंपरा भारतीय लोकसंस्कृति का एक महत्वपूर्ण भाग है, जो मुख्य रूप से भोजपुर क्षेत्र (पूर्वी उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बिहार और झारखंड के कुछ भाग) में विकसित हुई है। भोजपुरी लोक परंपरा में लोकगीत, लोककथाएँ, रीति-रिवाज, त्यौहार, नृत्य, पारंपरिक ज्ञान और मौखिक परंपराएँ शामिल हैं, जो पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक रूप से हस्तांतरित होती रही हैं। भोजपुरी लोक परंपरा में लोकगीतों का विशेष महत्व है। ये गीत जीवन के विभिन्न अवसरों जैसे जन्म (सोहर), विवाह (बन्ना-बन्नी), कृषि कार्य, ऋतु परिवर्तन और पर्व-त्योहारों से जुड़े होते हैं। विद्वानों के अनुसार लोकगीत समाज की सामूहिक स्मृति का प्रतिनिधित्व करते हैं (Dorson, 1972)। भोजपुरी समाज में छठ पुजा जैसे पर्व लोक आस्था के प्रमुख उदाहरण हैं। यह पर्व सूर्य उपासना और प्रकृति पूजा की प्राचीन परंपरा को दर्शाता है (Vidyarathi, 1977)। लोकदेवताओं और ग्रामदेवियों की पूजा भी इस परंपरा का महत्वपूर्ण हिस्सा है। लोककथाएँ समाज के नैतिक मूल्यों, परंपरागत ज्ञान और ऐतिहासिक अनुभवों को संरक्षित करती हैं। ये कथाएँ समाजीकरण (socialization) की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं (Bascom, 1965)। भोजपुरी समाज में जन्म से मृत्यु तक विभिन्न संस्कारों का पालन किया जाता है, जो हिंदू सामाजिक व्यवस्था से प्रभावित हैं। विवाह संस्कार विशेष रूप से सामुदायिक भागीदारी और परंपरागत अनुष्ठानों का उदाहरण है (Karve, 1961)। मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण से भोजपुरी लोक परंपरा सांस्कृतिक निरंतरता, सांस्कृतिक परिवर्तन और पहचान के अध्ययन में महत्वपूर्ण है। यह परंपरा दर्शाती है कि किस प्रकार मौखिक संस्कृति सामाजिक संरचना को बनाए रखती है (Redfield, 1956)।

इस प्रकार वैश्विक स्तर पर भोजपुरी लोकपरंपराओं का प्रचालन देखने को मिल सकता है। भोजपुरी लोक परंपरा को साधारण जनसमुदायों तथा विश्व स्तर पर पहुंचाने में भोजपुरी सिनेमा, यूट्यूब चैनल एवं विभिन्न संचार के माध्यमों का विशेष स्थान होता है। उन्नीस के दशक में विभिन्न लोक कलाकारों ने अपने स्थानीय लोक विशेषताओं जैसे जातिगत गीत, विरह गीत, रुदन परंपरा, बिदेशीय, फसल गीत, संस्कार गीत एवं विवाह गीत इत्यादि को उस दौर के संचार माध्यमों जैसे टी-सिरीज़ कैसेट, बीसियार, वीविड एवं यूट्यूब के द्वारा जन समुदाय तक पहुंचाने का कार्य किया। उन्नीस के दशक में जो भी लोकगीत प्रसारित किया जा रहा था उसका माध्यम चलचित्र होता था, इसके साथ ही साथ इस बात का विशेष ध्यान देते थे कि वह लोक गीत जिस समाज, परिस्थिति, समय और समुदाय से संबधित था, उसे चलचित्र के माध्यम से प्रस्तुत करते थे। वर्तमान में संचार के माध्यमों में क्रांति आने से इसमें भी परिवर्तन देखने को मिलता है।

प्रस्तुत शोध पत्र में धोबी जाति की पारंपरिक लोक कला, जिसे धोबिया लोककला कहते हैं, को मरखाहवा कजरवा एल्बम के माध्यम से मानवशास्त्रीय विश्लेषण किया गया है। धोबी जाति की लोक कला एक प्रकार की विशेष कला व्यवहार है, जो कई पीढ़ियों से चली आ रही है। अतः कला के स्वरूप को जानना भी अत्यंत आवश्यक है। कला एक प्रकार की

संस्कृति का स्वरूप होता है, जो किसी व्यक्ति, जाति, जनजाति अथवा समाज का विशेष गुण होता है और वह गुण ही उसकी विशेष प्रकार का व्यवहार होता है, जिसमें वह व्यक्ति अथवा समाज निपुण होता है। धोबी जाति के परंपरागत लोककला को विभिन्न भोजपुरी लोकगायकों द्वारा विभिन्न परिदृश्य एवं सामाजिक मुद्दों पर गीत संरचना करतें हैं और चलचित्र के मध्यमा से प्रस्तुत भी करते हैं। इस तरह ही मरखाहवा कजरवा एल्बम भी धोबी समाज के विभिन्न परिदृश्यों एवं मुद्दों पर दर्शाया गया है। धोबिया लोक गीत एक ऐसी परंपरा है जिसमें एक व्यक्ति की अभिव्यक्ति से लेकर पूरे समाज की सार्वभौमिक संस्कृति को गीत के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है।

प्रस्तुत शोध लेख भोजपुरी लोक परंपरा कि एक बहुचर्चित एल्बम **"मरखाहवा कजरवा"** (2008) का मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण से संरचनात्मक एवं प्रकार्यात्मक विश्लेषण किया गया है। इस लेख पूर्णतः द्वितीय स्रोत पर आधारित है, जिसमें इंटरनेट के माध्यम से मरखाहवा कजरवा एल्बम में संकलित नौ लोकगीतों में से चार लोक गीतों का चयन किया गया है। इन्हीं चार लोक गीतों का मानवशास्त्रीय अध्ययन किया गया है। यह अध्ययन मुख्यतः गुणात्मक पद्धति पर आधारित है। "मरखहवा कजरवा" (2008) एक महत्वपूर्ण लोकगीत एल्बम है, जिसे प्रसिद्ध भोजपुरी गायक दिनेश लाल यादव (निरहुआ) और मीरा मूर्ति ने गाया है। यह एल्बम विशेष रूप से धोबी जाति के पारंपरिक गीतों की शैली से संबंधित माना जाता है। यह एल्बम लोकसंगीत के माध्यम से ग्रामीण समाज की भावनाओं, श्रम जीवन, पारिवारिक संबंधों तथा लोक सौंदर्यबोध को प्रस्तुत करता है।

इस शोध लेख का प्रमुख उद्देश्य मरखहवा कजरवा एल्बम के माध्यम से धोबी समाज के सांस्कृतिक तत्वों का विश्लेषण करना, धोबी लोकगीत की सामाजिक भूमिका को समझना, लोकगीतों में जातीय पहचान की अभिव्यक्ति का अध्ययन करना एवं लोकमानवशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर गीतों का विश्लेषण करनाहै। यह शोध लेख लोक परंपरा में छुपे संस्कृति के विभिन्न तत्वों को प्रकाशित करना है, जिससे उस समाज के स्माजिक-सांस्कृतिक, व्यावसायिक संघर्ष, जातीय अवहेलना, दुख-सुख, कुरुतियाँ इत्यादि को जनसमुदाय एवं वैश्विक स्तर पर पहुंचाया जा सके। इसके साथ ही साथ लेखक, गायक और कलाकारों के आंतरिक अभिज्ञान को समझना है।

एल्बम का सामान्य विवरण:

विवरण	जानकारी
एल्बम का नाम	मरखहवा कजरवा
गायक	दिनेश लाल यादव, मीरा मूर्ति
वर्ष	2008
संगीत लेबल	टी-सीरीज (Super Cassettes Industries Pvt. Ltd.)
शैली	भोजपुरी लोकगीत / धोबी गीत
कुल गीत	9
कुल अवधि	लगभग 59 मिनट

एल्बम के प्रमुख गीत:

इस एल्बम में शामिल प्रमुख गीत निम्नलिखित हैं:
बड़ा मजा देई हो, जान मारे तोहार कजरा, भौजी तोहार घाटे, कैसे कहीं ए राजा, बांके धोबिया, कैसन बा ससुर, झूलनी झमकउआ, एदा बार फिर होई, घर कैसे सुधरी

यह एल्बम विशेष रूप से धोबी समुदाय के पारंपरिक गीतों की शैली को दर्शाता है। इस अध्ययन में इस एल्बम का विश्लेषण लोकमानवशास्त्रीय दृष्टिकोण से किया गया है। अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि ये गीत न केवल मनोरंजन के साधन हैं बल्कि सामाजिक संरचना, श्रम संस्कृति, लिंग संबंधों तथा जातीय पहचान को भी प्रतिबिंबित करते हैं। यह शोध दर्शाता है कि ऐसे लोकगीत अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

मरखहवा कजरवा एल्बम के लोकगीतों का मानवशास्त्रीय विश्लेषण :

लोकगीत संख्या-1 : एदा बार फिर होई

भोजपुरी भाषा में	हिन्दी भाषा में
(पत्नी-पति से)	*(पत्नी पति से)*
एदा पारी होई फिर हमरो बिटियवा।।	*इस बार अगर फिर बेटी ही हुई,*
जियरा बहुत मोर डेराला ए सजनवा।।	*मेरा मन बहुत डर रहा है हे प्रिय।*
(पति-पत्नी से)	*(पति पत्नी से)*
बेटवा से ढेर निक होली हो बिटियवा।।	*बेटी बेटे से भी अच्छी होती है,*
जियरा तोहार का डेराला हो सजनिया।।	*तुम्हारा मन क्यों डर रहा है प्रिय?*
(पत्नी-पति से)	*(पत्नी पति से)*
कापेला हमरो करेजवा।।	*मेरा हृदय कांप रहा है,*
कहवां से आई दहेजवा।।	*दहेज कहाँ से आएगा?*
गोदिया में कुछहु जनमले से पहिले।	*जन्म से पहले ही*
डगडर से चेक करवा दा ए सजनवा।	*डॉक्टर से जांच करवा दीजिए हे प्रिय।*
(पति-पत्नी से)	*(पति पत्नी से)*
पेटवा में होई जब कुमरिया।।	*अगर पेट में बेटी हुई,*
कइसे करब हथियरिया।।	*तो हम उसकी रक्षा कैसे करेंगे?*
भाग से ही बेटा होला	*बेटा भी भाग्य से होता है,*
भाग से ही बिटियवा	*बेटी भी भाग्य से होती है,*
भगिया से सबही कमाला ए सजनिया।।	*सब कुछ भाग्य से ही मिलता है हे प्रिय।*
(पत्नी-पति से)	*(पत्नी पति से)*
जनमे न पाई जब कुमरिया।।	*अगर बेटी जन्म ही नहीं ले पाएगी,*
लागी नाही केहु के खबरिया।।	*तो किसी को पता भी नहीं चलेगा,*
कइसे बिटियवा के करबे बियहवा।।	*लेकिन अगर जन्म लेगी तो*
आवे वाला रोग जनी पाला ए सजनवा।	*उसकी शादी कैसे करोगे?*
(पति-पत्नी से)	*आने वाली समस्या को मत पालो हे प्रिय।*
केहुवे से नाही तू बतईबु।।	*(पति पत्नी से)*
कइसे भगवान से छिपईबु।।	*तुम किसी से मत कहना,*
कुछउ कहे से पहिले मोर धनिया।	*भगवान से कैसे छिपाओगी?*
मुंह में लगाई लेबू ताला ए सनजिया।।	*कुछ भी कहने से पहले मेरी प्रिय,*
(पत्नी-पति से)	*अपने मुंह पर ताला लगा लो (चुप रहो)।*
एदा पारी होई फिर हमरो बिटियवा।	*(पत्नी पति से)*
जियरा बहुत मोर डेराला ए सजनवा।	*अगर इस बार फिर बेटी हुई,*
(पति)	*मेरा मन बहुत डर रहा है हे प्रिय।*
जियरा तोहार का डेराला हो सजनिया।	*(पति)*
(पत्नी)	*तुम्हारा मन क्यों डर रहा है प्रिय?*
जियरा बहुत मोर डेराला ए सजनवा।	*(पत्नी)*
(पति)	*मेरा मन बहुत डर रहा है हे प्रिय।*
भगिया से सबही कमाला ए सजनिया।	*(पति)*
(पत्नी)	*सब कुछ भाग्य से ही मिलता है प्रिय।*
जियरा तोहार का डेराला हो सजनिया।।	*(पत्नी) फिर भी मेरा मन डर रहा है प्रिय।*

(स्रोत: मरखाहवा कजरवा एल्बम:2008)

मानवशास्त्रीय एवं लोकसांस्कृतिक विश्लेषण:

लोकगीत किसी भी समाज की सांस्कृतिक संरचना, सामाजिक मूल्यों और मानसिकता को समझने का महत्वपूर्ण स्रोत होते हैं। प्रस्तुत धोबिया लोकगीत में ग्रामीण भोजपुरी समाज की सामाजिक समस्याएँ जैसे **दहेज प्रथा, पुत्र प्राथमिकता, लिंग भेदभाव और आर्थिक दबाव** स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। मानवशास्त्रीय दृष्टि से यह गीत लोकजीवन की वास्तविकता का प्रतिबिंब है। इस गीत का मुख्य विषय बेटी के जन्म को लेकर परिवार की चिंता और समाज में व्याप्त दहेज प्रथा है। पत्नी की चिंता सामाजिक परंपराओं से जुड़ी है, जबकि पति भाग्य और धार्मिक विश्वास के आधार पर उसे समझाने का प्रयास करता है।

लैंगिक दृष्टिकोण:

गीत में महिलाओं की सामाजिक स्थिति का यथार्थ चित्रण मिलता है।

- बेटी को आर्थिक बोझ के रूप में देखने की मानसिकता
- विवाह और दहेज की चिंता
- समाज में पुरुष प्रधान सोच

यह स्थिति भारतीय ग्रामीण समाज की पारंपरिक पितृसत्तात्मक संरचना को दर्शाती है। इरावती कर्वे (1961) ने भारतीय परिवार व्यवस्था में पितृसत्ता के प्रभाव को विशेष रूप से रेखांकित किया है।

सामाजिक संरचना:

यह गीत दर्शाता है कि किस प्रकार जाति और पेशा (धोबी समुदाय) सामाजिक जीवन को प्रभावित करते हैं। आर्थिक रूप से कमजोर समुदायों में बेटी का विवाह एक बड़ी जिम्मेदारी माना जाता है। एम। एन। श्रीनिवास (1966) के अनुसार भारतीय समाज में सामाजिक संरचना और परंपराएँ व्यक्ति के निर्णयों को प्रभावित करती हैं।

प्रतीकात्मक दृष्टिकोण:

इस गीत में कुछ महत्वपूर्ण प्रतिकात्मक बिन्दु हैं:

- **दहेज** – आर्थिक दबाव का प्रतीक
- **बेटी** – सामाजिक जिम्मेदारी का प्रतीक
- **भाग्य (भगिया)** – धार्मिक विश्वास और नियतिवाद (Fatalism) का प्रतीक
- **डॉक्टर से जांच** – आधुनिकता और परंपरा के संघर्ष का प्रतीक

सांस्कृतिक परिवर्तन:

गीत में एक ओर पारंपरिक सोच दिखाई देती है, वहीं दूसरी ओर डॉक्टर से जांच कराने की बात आधुनिक चिकित्सा के प्रभाव को दर्शाती है। यह परंपरा और आधुनिकता के सह-अस्तित्व को दर्शाता है। Robert Redfield (1956) ने इसे "Great Tradition and Little Tradition" के संदर्भ में समझाया है, जहाँ लोक संस्कृति और आधुनिक प्रभाव साथ-साथ चलते हैं।

यह धोबिया लोकगीत केवल मनोरंजन का साधन नहीं बल्कि ग्रामीण समाज की सामाजिक वास्तविकताओं का जीवंत दस्तावेज है। इसमें सामाजिक संरचना, आर्थिक समस्याएँ, लैंगिक असमानता और सांस्कृतिक परिवर्तन के तत्व स्पष्ट दिखाई देते हैं।

लोकगीत संख्या-2 : बांके धोबिया

भोजपुरी भाषा में	हिन्दी भाषा में
धोबिन- सुरूज़ उगले देहींया पर से ॥ चल चदरा हटाव बाके धोबिया, बाके धोबिया ॥ धोबी घाटे चल कपड़ा सरियाव, बाके धोबिया ।॥ धोबी- चटनी पीस ले मोटकी दुई गो लिट्टीया लगाव बाके धोबिनी, बाके धोबिनी । चल कोरा में लईका तू उठाव, बाके धोबिनी ।॥ धोबिन- अरे सुतब अबेर ले जब करब तू खुटानी अरे मिली न दाना-पानी फूटी जा जवानी ॥ कि अरे दतुअन करले मुँहवा धोले ॥ अरे गदहा रे सजाव बाके धोबिया, बाके धोबिया ॥ धोबी घाटे चल कपड़ा सरियाव, बाके धोबिया ।॥ धोबी- दिन-भर धोबी घाट पर सुखाला मोर चाम हो । आउर टिकबू ना मार के तू करेलु आराम हो ॥ मोटका डंडा लेले हाका, अरे गदहा लेके आव बाके धोबिनी । चल कोरा में लईका तू उठाव, बाके धोबिनी ।॥ धोबिनी- अरे संहवे खटीला, तू तो घर आके लोटे ला ॥ अ खनवा बनाई ला तो रतिया के घोटेला ॥ सुते के बेरी कहेला जल्दी, अरे दीयवा रे बुताव बाके धोबिया । अखिया मार कहे ला पजरा आव बाके धोबिया, बाके धोबिया ।॥ धोबी- अरे देखिए भुलहिए जीन हुक्कवा-चीलमिया । अ एक बेर पीहि ला त बढ़ जाले दमिया ॥ हम फिची ला धोती ले जो अरे घामे तू फैलाव बाके धोबिनी, बाके धोबिनी चल कोरा में लईका तू उठाव, बाके धोबिनी ।	(धोबिन) सूरज शरीर पर चढ़ आया है, चलो चादर हटा दो हे धोबी। धोबी घाट चलो और कपड़े धोकर फैलाओ हे धोबी। (धोबी) पहले दो मोटी चटनियाँ पीस लो, लिट्टी बना लो हे धोबिन। और गोद में बच्चे को उठा लो हे धोबिन। (धोबिन) अगर तुम देर तक सोते रहोगे और काम नहीं करोगे, तो खाने को अन्न और पानी नहीं मिलेगा और जवानी बेकार चली जाएगी। जाकर दातून कर लो और मुंह धो लो, और गधे को तैयार करो हे धोबी। चलो धोबी घाट और कपड़े साफ करो। (धोबी) दिन भर धोबी घाट पर काम करते-करते मेरी चमड़ी सूख जाती है, और तुम मारकर भी आराम ही करती रहती हो। मोटा डंडा लेकर गधे को हाँको, और उसे लेकर आओ हे धोबिन। और बच्चे को गोद में उठा लो। (धोबिन) तुम दिन भर मेहनत करते हो लेकिन घर आकर लेट जाते हो, मैं खाना बनाती हूँ और रात को सब काम करती हूँ। सोने के समय जल्दी दीपक बुझाने को कहते हो, और आँख मारकर पास बुलाते हो हे धोबी। (धोबी) देखो, कभी-कभी हुक्का-चिलम पी लेने से ताकत बढ़ जाती है। मैं धोती निचोड़ देता हूँ, तुम उसे धूप में फैला दो हे धोबिन। और बच्चे को गोद में उठा लो।

(स्रोत: मरखाहवा कजरवा एल्बम:2008)

मानवशास्त्रीय एवं लोकसांस्कृतिक विश्लेषण:

प्रस्तुत धोबिया लोकगीत धोबी (राजक) समुदाय के दैनिक जीवन, श्रम व्यवस्था, पारिवारिक संबंध और आर्थिक संघर्ष का यथार्थ चित्रण करता है। यह गीत विशेष रूप से ग्रामीण श्रमिक वर्ग के जीवन की वास्तविकताओं को सामने लाता है।

इस गीत का मुख्य विषय **दैनिक श्रम जीवन, पति-पत्नी का संवाद**, और **आर्थिक जीवन** है। इसमें सुबह से लेकर दिनभर के काम और पारिवारिक जिम्मेदारियों का वर्णन मिलता है।

श्रम विभाजन:

गीत में पुरुष और महिला दोनों के कार्य स्पष्ट दिखाई देते हैं:

- **पुरुष (धोबी)** – कपड़े धोना, घाट पर काम करना
- **महिला (धोबिन)** – भोजन बनाना, बच्चे की देखभाल, कपड़े सुखाना

यह पारंपरिक श्रम विभाजन को दर्शाता है जिसे मानवशास्त्र में पारिवारिक आर्थिक इकाई कहा जाता है। जी.पी. मरडॉक (1949) के अनुसार परिवार केवल सामाजिक संस्था नहीं बल्कि आर्थिक सहयोग की इकाई भी है।

लैंगिक संबंध:

गीत में पति-पत्नी के बीच संवाद से पारिवारिक जीवन की वास्तविकता सामने आती है। इसमें हल्का हास्य, तकरार और सहयोग तीनों दिखाई देते हैं। यह दर्शाता है कि श्रमिक वर्ग में महिलाओं की भूमिका भी आर्थिक रूप से महत्वपूर्ण होती है।

आर्थिक जीवन :

गीत में यह स्पष्ट है कि धोबी समुदाय का जीवन श्रम पर आधारित है:

- दैनिक मजदूरी जैसा जीवन
- पारंपरिक पेशा
- सीमित संसाधन
- परिवार आधारित उत्पादन प्रणाली

यह जीविकोपार्जन के पारंपरिक साधनों को दर्शाता है।

सांस्कृतिक प्रतीक:

गीत में कुछ प्रतीकात्मक तत्व हैं:

- **धोबी घाट** – पारंपरिक पेशे का प्रतीक
- **गधा** – श्रम और जीविकोपार्जन का साधन
- **लिट्टी और चटनी** – स्थानीय खाद्य संस्कृति का प्रतीक
- **हुक्का** – ग्रामीण जीवन शैली का प्रतीक

यह धोबिया लोकगीत धोबी समुदाय के जीवन का एक जीवंत सामाजिक दस्तावेज है। इसमें श्रम संस्कृति, पारिवारिक सहयोग, आर्थिक संघर्ष और ग्रामीण जीवन की सादगी का यथार्थ चित्रण है।

लोकगीत संख्या-3 : घर कैसे सुधरी

भोजपुरी भाषा में	*हिन्दी भाषा में*
घर कैसे सुघरे हो घर कैसे बिगरे।	*घर कैसे अच्छा बनता है और घर कैसे बिगड़ता है?*
घर कैसे सुधरे हो घर कैसे बिगड़े।	*घर कैसे सुधरता है और घर कैसे बर्बाद होता है?*
घर कैसे बिगड़े हो घर कैसे उजड़े॥	*घर कैसे टूटता है और कैसे उजड़ जाता है?*
होला जब रूपिया चोरउवल॥	*जब पैसे की चोरी होने लगती है,*
तबेनु होला बख़रा बटउवल॥	*तभी घर में बंटवारा होने लगता है।*
तीन-तीन गो भाई के तीन अवरतिया॥	*तीन-तीन भाई हैं और तीनों की पत्नियाँ हैं,*

अपने मेहर के मीठ लगे बतिया ॥	*हर किसी को अपनी पत्नी की बातें ही मीठी लगती हैं।*
बड़की के एगो मझिलकी के दुगो ।	*बड़े भाई का एक बच्चा, मंझले का दो,*
एही में भई बा छोटकी को तीन गो ॥	*और छोटे के तीन बच्चे हैं।*
होला जब लईका गिनउवल ॥	*जब बच्चों की गिनती होने लगती है,*
तबेनु होला बख़रा बटउवल ॥	*तभी बंटवारे की बात शुरू हो जाती है।*
धंधा में होई जाला जब कूल्ही भाई ॥	*जब सभी भाई एक ही व्यवसाय में लगते हैं,*
के के बेसी माने बाप-माई ॥	*तो सवाल उठता है कि कौन माता-पिता को ज्यादा मानता है।*
खटी के भीतर हो खटी के बहरा ।	*कौन घर के अंदर सोएगा और कौन बाहर,*
के झारी अंगना हो के झारी दुअरा ॥	*कौन आंगन साफ करेगा और कौन दरवाजा।*
होला जब धंधा के तकउवल ॥	*जब काम का हिसाब होने लगता है,*
तबेनु होला बख़रा बटउवल ॥	*तभी बंटवारे की नौबत आती है।*
सासु पे बिसवास करी न पतोहिया ।	*बहू सास पर विश्वास नहीं करती,*
बेटी न बुझे पतोहिया के अइया ॥	*और बेटी बहू की पीड़ा नहीं समझती।*
घिउवा भी घर में अचरवों भी घर में ॥	*घर में घी भी है और अचार भी है,*
घरे में रज़ाई चदरवोंभी घर में ॥	*घर में रजाई और चादर भी है।*
होला जब ताला में मुनउवल ॥	*लेकिन जब सब चीजों में ताला लगने लगता है,*
तबेनु होला बख़रा बटउवल ॥	*तभी बंटवारा हो जाता है।*
धंधा के बेरी जब घेरले रईसिया ।	*जब व्यवसाय में धन आने लगता है,*
खईले कि ना खईले बाटे भइसिया ॥	*तो यह भी देखा जाता है कि किसने खाया और किसने नहीं।*
के पीयले दुधवा, के खईले बा दहिया ॥	*किसने दूध पिया और किसने दही खाया,*
लागेला मठा चोरवल पतोहिया ॥	*और बहू पर मट्ठा चोरी का आरोप लगने लगता है।*
होई खाए-पिए में चिन्हउवल ॥	*जब खाने-पीने तक का हिसाब होने लगे,*
तबेनु होला बख़रा बटउवल ॥	*तभी बंटवारा हो जाता है।*
होला जब रूपिया चोरउवल ॥	*जब पैसे की चोरी होने लगती है,*
तबेनु होला बख़रा बटउवल ॥	*तभी घर में बंटवारा हो जाता है।*

(स्रोत: मरखाहवा कजरवा एल्बम:2008)

मानवशास्त्रीय एवं लोकसांस्कृतिक विश्लेषण:

लोकगीत समाज की सामाजिक संरचना, पारिवारिक संबंधों और सांस्कृतिक मूल्यों का दर्पण होते हैं। प्रस्तुत भोजपुरी लोकगीत संयुक्त परिवार की आंतरिक समस्याओं, आर्थिक विवादों और पारिवारिक विघटन की प्रक्रिया को दर्शाता है। यह गीत ग्रामीण समाज में परिवार की बदलती संरचना और सामाजिक संबंधों में आ रहे परिवर्तन को स्पष्ट करता है।

संयुक्त परिवार व्यवस्था:

गीत में दिखाया गया है कि जब परिवार में आर्थिक संसाधनों का हिसाब होने लगता है तो पारिवारिक एकता कमजोर हो जाती है। इरावती कर्वे (1961) के अनुसार भारतीय संयुक्त परिवार सहयोग और साझा संसाधनों पर आधारित होता है, लेकिन आर्थिक तनाव इसके विघटन का प्रमुख कारण बन सकता है।

नातेदारी संबंध:

गीत में भाई-भाई के संबंध और सास-बहू के संबंधों का यथार्थ चित्रण मिलता है। यह दर्शाता है कि किस प्रकार नातेदारी (Kinship) संबंध आर्थिक हितों से प्रभावित होते हैं। लेविस-स्ट्रास (1969) के अनुसार नातेदारी प्रणाली सामाजिक संगठन का आधार होती है, लेकिन संसाधनों के वितरण से इसमें संघर्ष उत्पन्न हो सकता है।

आर्थिक जीवन:

गीत में यह स्पष्ट है कि आर्थिक असमानता और संसाधनों का नियंत्रण पारिवारिक तनाव का कारण बनता है। भोजन, धन और संपत्ति का हिसाब होना आर्थिक जीवन की जटिलताओं को दर्शाता है।

Karl Polanyi ने बताया कि पारंपरिक समाज में आर्थिक संबंध सामाजिक संबंधों से जुड़े होते हैं।

लैंगिक संबंध:

गीत में सास-बहू और पति-पत्नी संबंधों के माध्यम से महिलाओं की स्थिति का चित्रण मिलता है। इसमें घरेलू विवादों में महिलाओं की भूमिका और उन पर लगने वाले आरोपों का भी वर्णन है। एम. एन. श्रीनिवास (1966) के अनुसार भारतीय ग्रामीण परिवारों में महिलाओं की भूमिका महत्वपूर्ण होती है लेकिन निर्णय लेने की शक्ति अक्सर सीमित होती है।

सामाजिक परिवर्तन:

यह गीत यह भी दर्शाता है कि आधुनिकता और आर्थिक बदलावों के कारण संयुक्त परिवार धीरे-धीरे एकल परिवार में बदल रहे हैं। योगेंद्र सिंह (1973) ने भारतीय समाज में परंपरा और आधुनिकता के सह-अस्तित्व की चर्चा की है। यह भोजपुरी लोकगीत संयुक्त परिवार की सामाजिक वास्तविकताओं का एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है। इसमें आर्थिक संघर्ष, नातेदारी संबंध, पारिवारिक तनाव और सामाजिक परिवर्तन के तत्व स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। मानवशास्त्रीय अध्ययन में ऐसे लोकगीत समाज की संरचना और परिवर्तन को समझने के महत्वपूर्ण स्रोत हैं।

लोकगीत संख्या-4 : जान मारे तोहार कजरा

भोजपुरी भाषा में	हिन्दी भाषा में
धोबी-	*(धोबी)*
मारे हो जान मरकहवा कजरवा ॥	*तुम्हारा काजल (आँखों का श्रृंगार) मुझे घायल कर देता है,*
अरे ले ले ई परान मरकहवा कजरवा ॥	*यह मरकहवा काजल मेरी जान ले लेता है।*
मारे हो जान मरकहवा कजरवा ॥	*तुम्हारा काजल मुझे मार ही डालता है।*
धोबीन-	*(धोबिन)*
करे हो प्यार मरकहवा कजरवा ॥	*यह मरकहवा काजल ही तो तुमसे प्यार करवाता है,*
हमरो सिंगार मरकहवा कजरवा ॥	*यही तो मेरा श्रृंगार है,*
करे हो प्यार मरकहवा कजरवा ॥	*यही काजल तुमसे प्रेम करवाता है।*
धोबी-	*(धोबी)*
नीचली पलकिया के बरिया पर खिंच के ॥	*तुमने अपनी निचली पलकों के किनारे इसे खींचकर लगाया है,*

हिन्दी वाला सात हो बना देहलु घींच के ॥	*ऐसा लगता है जैसे एक सुंदर रेखा बना दी हो।*
अरे चुभे जैसे बान मरकहवा कजरवा ॥	*यह काजल तीर की तरह चुभता है,*
मारे हो जान मरकहवा कजरवा ॥	*तुम्हारा काजल मुझे घायल कर देता है।*
धोबीन-	*(धोबिन)*
कजरा न होला हो कबो मरकहवा ॥	*काजल कभी मारने वाला नहीं होता,*
मार खाले एसे हो मरलु तुरहवा ॥	*तुम ही इसकी मार से घायल हो गए हो।*
देखे जो निहार मरकहवा कजरवा ॥	*जो इसे देखता है वह बस देखता ही रह जाता है,*
करे हो प्यार मरकहवा कजरवा ॥	*यही काजल तुमसे प्यार करवाता है।*
धोबी-	*(धोबी)*
लईकन के कजरा नजर से बचावेला ॥	*बच्चों को काजल बुरी नजर से बचाने के लिए लगाया जाता है,*
गोरी तोहार कजरा नजरिया लडावेला ॥	*लेकिन तुम्हारा काजल तो नजरें मिलाने पर मजबूर कर देता है।*
अरे बिगारे ईमान मरकहवा कजरवा ॥	*यह काजल इंसान का ईमान भी डगमगा देता है,*
मारे हो जान मरकहवा कजरवा ॥	*तुम्हारा काजल मुझे घायल कर देता है।*
धोबीन-	*(धोबिन)*
आँखों में छुरी त ई धार हो कजरवा ॥	*यह काजल आँखों में तेज धार वाली छुरी जैसा है,*
तोहरे ला क़तल बिना सटला पजरवा ॥	*तुम्हें तो बिना छुए ही घायल कर देता है।*
मारे अइसन मार मरकहवा कजरवा ॥	*यह काजल ऐसी चोट करता है,*
करे हो प्यार मरकहवा कजरवा ॥	*जो प्यार पैदा कर देता है।*
धोबी-	*(धोबी)*
अरे ले ले ई परान मरकहवा कजरवा ॥	*तुम्हारा यह काजल मेरी जान ले लेता है।*
धोबीन-	*(धोबिन)*
करे हो प्यार मरकहवा कजरवा ॥	*यही काजल तुमसे प्यार करवाता है।*
धोबी-	*(धोबी)*
मारे हो जान मरकहवा कजरवा ॥	*तुम्हारा काजल मुझे घायल कर देता है।*

(स्रोत: मरखाहवा कजरवा एल्बम:2008)

मानवशास्त्रीय एवं लोकसांस्कृतिक विश्लेषण:

लोकगीत किसी भी समाज की भावनात्मक, सांस्कृतिक और सौंदर्य चेतना के महत्वपूर्ण स्रोत होते हैं। प्रस्तुत "मरकहवा कजरवा" धोबिया लोकगीत में पति-पत्नी के प्रेम संबंध, स्त्री श्रृंगार, और लोक सौंदर्यबोध का सुंदर चित्रण मिलता है। यह गीत दर्शाता है कि किस प्रकार साधारण श्रृंगार सामग्री (जैसे काजल) भी लोकसंस्कृति में गहरे प्रतीकात्मक अर्थ रखती है।

लोक सौंदर्यशास्त्र:

गीत में काजल को केवल सजावट नहीं बल्कि आकर्षण और भावनात्मक संबंध का माध्यम बताया गया है। भारतीय लोकसंस्कृति में स्त्रियों का श्रृंगार सामाजिक और सांस्कृतिक पहचान का भी हिस्सा होता है। निर्मल कुमार बॉस (1958) के अनुसार भारतीय संस्कृति में सौंदर्य और श्रृंगार सामाजिक जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं और यह सांस्कृतिक प्रतीकों के रूप में कार्य करते हैं।

प्रतीकात्मक अर्थ:

गीत में काजल कई प्रतीकात्मक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है:

प्रतीक	अर्थ
काजल	सौंदर्य और आकर्षण
तीर/छुरी	प्रेम की तीव्रता
नजर	सामाजिक संपर्क
श्रृंगार	वैवाहिक संबंध

लोकविश्वास में काजल का प्रयोग बुरी नजर से बचाने के लिए भी किया जाता है, जो लोकचिकित्सा और जादू-टोना संबंधी विश्वासों से जुड़ा है। मैलीनोवस्की (1948) ने बताया कि लोकविश्वास अनिश्चितता और भावनात्मक सुरक्षा से जुड़े होते हैं।

लैंगिक संबंध:

गीत में स्त्री और पुरुष के बीच प्रेमपूर्ण संवाद दिखाई देता है, जिसमें स्त्री अपने श्रृंगार के माध्यम से आकर्षण व्यक्त करती है और पुरुष उसकी प्रशंसा करता है। यह ग्रामीण समाज में वैवाहिक संबंधों की भावनात्मक अभिव्यक्ति को दर्शाता है। एम. एन. श्रीनिवास (1966) के अनुसार भारतीय ग्रामीण समाज में विवाह केवल सामाजिक संस्था नहीं बल्कि भावनात्मक संबंध भी है। गीत में यह भी दिखाई देता है कि किस प्रकार छोटे-छोटे सांस्कृतिक तत्व (जैसे काजल) भावनात्मक संबंधों को मजबूत करते हैं। यह लोक मनोविज्ञान का उदाहरण है जहाँ सौंदर्य प्रेम की अभिव्यक्ति का माध्यम बनता है।

सांस्कृतिक निरंतरता:

यह गीत दर्शाता है कि पारंपरिक श्रृंगार प्रथाएँ आज भी लोकजीवन में जीवित हैं और सांस्कृतिक निरंतरता को बनाए रखती हैं। रोबर्ट रेडफ़ील्ड (1959) के अनुसार लोक परंपराएँ सांस्कृतिक निरंतरता का महत्वपूर्ण माध्यम होती हैं। "मरकहवा कजरवा" लोकगीत धोबी समुदाय के सांस्कृतिक जीवन का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। इसमें प्रेम, सौंदर्य, प्रतीकात्मकता और सांस्कृतिक परंपराओं का सुंदर समन्वय दिखाई देता है। मानवशास्त्रीय दृष्टि से यह गीत लोक सौंदर्यशास्त्र और वैवाहिक संबंधों के अध्ययन का महत्वपूर्ण स्रोत है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत शोध में संकलित धोबिया लोकगीतों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि लोकगीत केवल मनोरंजन का साधन नहीं बल्कि समाज की सामाजिक संरचना, आर्थिक जीवन, पारिवारिक संबंधों, लैंगिक भूमिकाओं तथा सांस्कृतिक मूल्यों का जीवंत दस्तावेज होते हैं। इन गीतों में धोबी (राजक) समुदाय के दैनिक जीवन, श्रम संस्कृति, पारिवारिक दायित्व, प्रेम संबंध, सामाजिक समस्याएँ तथा बदलते सांस्कृतिक परिदृश्य का यथार्थ चित्रण मिलता है।

प्रथम लोकगीत में दहेज प्रथा और पुत्र-प्राथमिकता जैसी सामाजिक समस्याओं का चित्रण मिलता है, जो ग्रामीण समाज की आर्थिक और सांस्कृतिक मानसिकता को दर्शाता है। द्वितीय लोकगीत में श्रम विभाजन और पति-पत्नी के पारस्परिक सहयोग के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि परिवार एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करता है। तृतीय लोकगीत संयुक्त परिवार की आंतरिक जटिलताओं, संपत्ति विवादों और पारिवारिक विघटन की प्रक्रिया को उजागर करता है। वहीं चतुर्थ लोकगीत वैवाहिक प्रेम, लोक सौंदर्यशास्त्र और स्त्री श्रृंगार की सांस्कृतिक प्रतीकात्मकता को प्रदर्शित करता है।मानवशास्त्रीय

दृष्टि से ये लोकगीत यह दर्शाते हैं कि लोकसंस्कृति में जीवन के विविध आयाम—आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और भावनात्मक- एक दूसरे से गहराई से जुड़े होते हैं। इन गीतों के माध्यम से यह भी स्पष्ट होता है कि पारंपरिक समुदायों में सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम मौखिक परंपरा है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी सामाजिक ज्ञान और अनुभवों का हस्तांतरण करती है।

अतः यह कहा जा सकता है कि धोबिया लोकगीत धोबी समुदाय की सांस्कृतिक पहचान, सामाजिक यथार्थ और जीवन संघर्ष को समझने का एक महत्वपूर्ण स्रोत हैं। ये गीत न केवल सांस्कृतिक विरासत के संवाहक हैं बल्कि सामाजिक शिक्षा और सामुदायिक एकता के माध्यम भी हैं। इसलिए इन लोकगीतों का संरक्षण, प्रलेखन और अकादमिक अध्ययन अत्यंत आवश्यक है, ताकि लोकसंस्कृति की इस अमूल्य धरोहर को आने वाली पीढ़ियों तक सुरक्षित रखा जा सके।

संदर्भ :

1. Damant, G. H. (1872). *Bengali Folklore*. Indian Antiquary. (Vol.1).
2. Danda, A. K. (1996). *Tribal ethnography.* Indian Council of Social Science Research.
3. Das, K. B. (1953). *A study of Orissan folklore, santiniketan.* Visvabharati: Visva Bharati studies series. (no.16).
4. Deva, Indra. (1971). *Social Change in Asia and its impact on folk culture and folklore.* in Rajeshwar Prasad et. al, (eds.). Conspectus of Indian Society. Agra: Satish Book Enterprise.
5. Vidyarthi, L. P. & Choubey, G. (1971). *Bihar in Folklore Studies : AnAnthropology.* Calcutta: Indian Publication.
6. Dube, S. C. (1947). *Folk songs of Chhatisgarh.* Lucknow: Universal Publisher Ltd.
7. Elwin, V. (1944). *Folktales of Mahakosal.* Bombay: Oxford university press.
8. Elwin, V. (1947). *The Muria and their Ghotul.* Bombay: Oxford university press.
9. उपाध्याय, कृष्णदेव. (2009). *लोक संस्कृति की रूपरेखा*. इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन.
10. ओझा, सत्यदेव. (2006). *भोजपुरी कहावतें: एक सांस्कृतिक अध्ययन*. दिल्ली: वाणी प्रकाशन.
11. त्रिपाठी, वशिष्ठ. नारायण. (2011). *भारतीय लोकनाट्य*. दिल्ली: वाणी प्रकाशन.
12. त्रिपाठी, सूर्यकांत. (2013). *लोक का अवलोकन*. आर्य प्रकाशन: दिल्ली.
13. दइया, पीयूष. (2002). *लोक*. उदयपुर: भारतीय लोक कला मण्डल.
14. दास, भगवान., एवं सिंह, सतनाम. (2011). *धोबी समाज का संक्षिप्त इतिहास*. दिल्ली: सम्यक प्रकाशन.
15. दुबे, श्यामसुंदर. (2003). *लोक: परंपरा, पहचान एवं प्रवाह*. दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि.
16. दुबे, श्यामाचरण. (1993). *मानव और संस्कृति*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
17. नंबूदिरीपाद, ई. एस. एस. (2002). *कला साहित्य और संस्कृति*. दिल्ली: वाणी प्रकाशन.
18. परदेशी, अर्चना. (2011). *भारतीय संस्कृति एवं लोकगीत*. जयपुर: वाईटल प्रकाशन.
19. बद्रीनारायन. (1994). *लोक संस्कृति और इतिहास*. इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन.
20. बोआस, फ्रांज (1927). *प्रीमिटिव आर्ट्स*. आस्लों: एच.अस्चेल्हंगएंड कंपनी
21. श्रीवास्तव, शैलेंद्र. (2009). *भोजपुरी संस्कार गीत और प्रसार माध्यम*. इलाहाबाद: राजकमल प्रकाशन.
22. हाऊजर, अर्नाल्ड. (2008). *कला का इतिहास दर्शन*. दिल्ली: ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन.

Received: 17.01.2026 | Accepted: 22.01.2026 | Published: 30.01.2026

पञ्चक्लेशजनित व्याधियों का यम-नियम द्वारा प्रबन्धन: एक दार्शनिक विमर्श

हिमांशु†[1]
himanshujaiswal311@gmail.com

डॉ. सेतवान[2]
setwaandiwakar1991@gmail.com

सार

भारतीय संस्कृति के अंतर्गत योग एवं दर्शन में मानव के मन और व्यवहार को समझने हेतु गहनता से विचार विमर्श किया गया है। महर्षि पतंजलि के योग सूत्र में पञ्च क्लेशों का वर्णन है। ये पञ्च क्लेश वे मानसिक, सामाजिक और भावनात्मक व्याधियाँ हैं, जो ज्ञान और आंतरिक शांति के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करती हैं। महर्षि पतंजलि ने निम्न पाँच क्लेशों का उल्लेख किया है- अविद्या- अज्ञान, अस्मिता – अहंकार, राग – आसक्ति, द्वेष – घृणा, अभिनिवेश – मृत्यु का भय (या जीवन के प्रति अधिक लगाव)। यह क्लेश मनुष्य के भीतर उत्पन्न होने वाले अशांत विचारों और भावनाओं के मूल कारण है। पंच क्लेश व्यक्ति के जीवन में मानसिक, शारीरिक और सामाजिक स्तर पर विकृतियाँ उत्पन्न कर देते हैं। इनसे बचने के लिए योग एवं आत्म- जागरूकता का अभ्यास करना आवश्यक है। व्यक्ति इन क्लेशों को पहचानकर यम-नियम का पालन कर इनसे मुक्त हो सकता है, तभी वह एक संतुलित और सुखी जीवन जी सकता है। इनका व्यक्ति के मानसिक, शारीरिक, और सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। ये क्लेश न केवल व्यक्ति के मन को अशांत करते हैं, अपितु उसके व्यवहार और स्वास्थ्य पर भी नकारात्मक प्रभाव डालते हैं। इस लेख में हम इन पाँचों क्लेशों के अर्थ और इनसे उत्पन्न समस्याओं से किस प्रकार बचा जाए यह समझने का प्रयास करेंगे।

मुख्य शब्द

क्लेश, रोग, दुःख निवारण, यम-नियम, योग।

प्रस्तावना

1- अविद्या (अज्ञान)

अनित्य में नित्य का अनुभव होना इस स्थूल जगत में हम जो भी देख रहे हैं ये सब परिवर्तनशील हैं अर्थात् अनित्य हैं क्योंकि इसकी एक क्षण उत्पत्ति होती है तो दूसरे क्षण यह नष्ट होने वाला है, अर्थात् यहां पर सब नश्वर है इस नश्वर जगत को नित्य समझ लेना अविद्या हैं।[1] अपवित्र को पवित्र समझना, शरीर में हड्डी, रक्त, मांस, मल-मूत्र, कफ आदि के स्थान अपवित्र हैं। इसी तरह जिस चित्त में अधर्म, पाप, भ्रष्टाचार, राग व द्वेष आदि क्लिष्ट वृत्तियों के संस्कार संचित हों वह अन्तःकरण भी अपवित्र कहलाएगा। अपवित्र शरीर, तथा अपवित्र अन्तःकरण को पवित्र समझना अविद्या है।[2] दुःख को सुख समझना इस संसार में भोग के जितने भी विषय हैं वे सभी मनुष्य के दुःखों के कारण हैं, पर अज्ञानतावश मनुष्य उन सभी को अपने सुखों के साधन मानता है। इस जगत में भोग हेतु विषयों (साधनों) में सुख का अनुभव करना अविद्या है।

प्रभाव

1. सच्चाई को न समझ पाना और मिथ्या धारणाओं में जीना व्यक्ति को भ्रमित और अशांत करता है।

[1] **Corresponding Author & शोधार्थी, अनुप्रयुक्त दर्शनशास्त्र विभाग**
महात्मा ज्योतिबा फुले रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली

[2] **सहायक आचार्य (सं.). अनुप्रयुक्त दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मा ज्योतिबा फुले रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली**

2. मानसिक तनाव और अवसाद से शारीरिक समस्याएं, जैसे अनिद्रा, उच्च रक्तचाप आदि उत्पन्न हो सकते हैं।

3. गलत धारणाओं के कारण व्यक्ति अन्य लोगों के साथ असहज और आसामंजस्य पूर्ण संबंध बना सकता है।

2- अस्मिता (अहंकार)

अस्मिता मोह रूप है। शरीर का सूक्ष्म होना, हल्का होना, बड़ा होना, बिना रुकावट के इच्छा पूरी होना चित्त व चेतन को एक समझना (नष्ट होने वाले और सदैव रहने बाले व्यक्ति या पदार्थ को उल्टा समझना) आदि अस्मिता क्लेश है। दृक शक्ति अर्थात् द्रष्टा (जीव आत्मा) और दर्शन शक्ति अर्थात् दिखाने वाला बुद्धि रूप साधन है जो कि जड़ पदार्थ है। इन दोनों को एक समझ लेना अस्मिता क्लेश है।[3]

प्रभाव

1. मैं और मेरा की धारणा व्यक्ति को आत्म केंद्रित और संवेदनहीन बना सकती है।
2. अहंकार से उत्पन्न तनाव और प्रतिस्पर्धा का दबाव शरीर को थका सकता है।
3. अहंकार के कारण व्यक्ति दूसरों से दूरी बना लेता है और सामूहिकता खो देता है।

3. राग (आसक्ति)

किसी वस्तु को बार-बार पाने की इच्छा होना राग है। मोह का बढ़ा रूप राग है, सुख भोगने के पीछे जो चित्त में उसके भोग की इच्छा रहती है, इसलिए यह महा मोह कहलाता है। जबकि हम यह जानें कि जिन साधनों को मैं भोग रहा हूँ ये सब देर तक रहने वाले नहीं हैं, ये सब नश्वर हैं अर्थात् क्षणिक हैं तथा ये सब मुझे दीर्घकाल में दुःख देने वाले हैं। दूसरा उपाय है साधना के द्वारा ईश्वर में नित्य आनन्द को खोजना। जब हमें नित्य आनन्द की प्राप्ति होती है तो राग रूपी क्लेश स्वतः ही निवृत्त हो जाता है।[4]

प्रभाव

1. किसी वस्तु, व्यक्ति या अनुभव के प्रति अत्यधिक आसक्ति व्यक्ति को निर्भर बना देती है।
2. निराशा और असंतोष के कारण शरीर पर नकारात्मक प्रभाव जैसे थकावट या रोग।
3. अत्यधिक आसक्ति के कारण व्यक्ति सामाजिक जिम्मेदारियों को अनदेखा कर सकता है।

4- द्वेष (घृणा)

भोग विलास में विघ्न पड़ने से जो वृत्ति बनती है, वह द्वेष है। राग में अवरोध आने पर द्वेष उत्पन्न होता है। सामान्यतः जब किसी व्यक्ति को कोई सांसारिक सुख प्राप्त हो रहा था किसी कारण से उस सुख प्राप्ति में बाधा पड़ती है और जब ऐसा घटित होता है तो व्यक्ति को शरीर, मन व इन्द्रियों के स्तर पर दुःख होने लगता है, जिसके कारण वह उन साधनों से ही घृणा करने लगता है, जिसे द्वेष कहते हैं। द्वेष से दुःख, घृणा, क्रोध व हिंसा जैसे अवगुण व्यक्ति में आने लगते हैं। कई बार द्वेष के कारण व्यक्ति उन साधनों का अस्तित्व ही मिटा देना चाहता है। ऐसी स्थिति में उसके अन्दर क्रोध की भावना जाग्रत होती है और क्रोध में वह द्वेष के साधनों को खत्म करने के लिए हिंसा करता है।[5]

प्रभाव

1. द्वेष से क्रोध, चिंता और नकारात्मक विचार उत्पन्न होते हैं, जो मानसिक अशांति का कारण बनते हैं।
2. घृणा से जुड़े तनाव शरीर में हृदय रोग और उच्च रक्तचाप जैसी समस्याओं को बढ़ावा देते हैं।
3. द्वेष व्यक्ति को दूसरों के साथ झगड़े और विवाद में उलझा सकता है।

5. अभिनिवेश (मृत्यु का भय या जीवन के प्रति अत्यधिक लगाव)

अभिनिवेश का अर्थ है, जो हमारे पास है उसके छूट जाने का भय है सबके नष्ट होने का भय होना अभिनिवेश क्लेश कहलाता है। घृणा जो दुख के बाद आती है। यहां तक कि जो विद्वान स्वर और स्वाद को धारण करता है, वह भी

तल्लीनता की ओर अग्रसर होता है जो स्वभाव से सभी में एक जैसा है अर्थात् विद्वानों, मूर्खों व अन्य सभी में जो भाव स्वभाव से एक जैसा बह रहा है, उसे अभिनिवेश क्लेश कहते हैं जैसे कि मरने से सभी को भय लगता है। यह जानते हुए भी कि मरना सभी को है फिर भी चाहे कोई विद्वान है या मूर्ख है पर मरने से डर सभी को लगता है। यह भाव बार-बार सभी में हर समय स्वभाव से बना रहता है, जिसे अभिनिवेश क्लेश कहते हैं।[6]

प्रभाव

1. जीवन और मृत्यु का अत्यधिक भय व्यक्ति को चिंताग्रस्त और मानसिक रूप से अस्थिर कर सकता है।
2. इस भय के कारण प्रतिरक्षा तंत्र कमजोर हो सकता है और बीमारियाँ हो सकती हैं।
3. व्यक्ति समाज और अपने कर्तव्यों से दूर भागने लगता है।

ये व्यक्ति के कार्यों में अवरोधक हैं, इनके रहते हुए मनुष्य भ्रम व संशय की अवस्था में जीता है। इस अवस्था को विपर्य (उल्टा ज्ञान) की अवस्था भी कहते हैं।

यम-नियम एवं उनके प्रभाव-

यम नियम का अभ्यास सहानुभूति और दूसरों के साथ संबंधों को सुदृढ़ बनाता है। जब व्यक्ति दूसरों के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण रखता है, तो मस्तिष्क में ऑक्सीटोसिन नामक हार्मोन का स्राव होता है, जो हमें दूसरों के साथ जोड़ता है और आत्मिक संतोष का अनुभव कराता है। अहिंसा, सत्य, संतोष शरीर में तनाव हार्मोन (जैसे कोर्टिसोल) के स्तर को नियंत्रित करते हैं। जब व्यक्ति सच बोलने, दूसरों का सम्मान करने और संतोषी बने रहने का प्रयास करता है तब उसकी चिंता और तनाव में कमी होती है। जब तनाव घटता है, तो मस्तिष्क में सेरोटोनिन और डोपामिन जैसे हैप्पीहार्मोन का स्राव बढ़ता है, जिससे आत्मिक शांति और प्रसन्नता का अनुभव होता है।[7] महर्षि पतंजलि द्वारा रचित योग दर्शन में अष्टांग योग के अन्तर्गत प्रथम व द्वितीय अंग के रूप में यम - नियम का वर्णन किया है।[8]

यम अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह इनका का अर्थ है- सामाजिक आचार संहिता जिसके अन्तर्गत योग साधक व सामान्य पुरुष को स्वास्थ्य - संरक्षण एवं संवर्धन हेतु पालन करना आवश्यक होता है। इसके अन्तर्गत मनुष्य को समाज में रहते हुए उचित मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास एवं सकारात्मक सोच को विकसित करने में सहायता मिलती है। इनका पालन करने से मानवीय शरीर का स्वचालित तंत्रिका तंत्र, मांसपेशीय तंत्र, अन्तः स्रावी ग्रन्थीय तन्त्र व अन्य प्रमुख तन्त्र जैसे- श्वसन-तंत्र, पाचन तंत्र, उत्सर्जन तंत्र इत्यादि की रचनात्मक व क्रियात्मक अवस्थाएँ संतुलित व समन्वय रूप से संचालित रहती हैं। यम के अन्तर्गत मनुष्य को मन, वचन एवं कर्म के स्तर पर आचरण करना बताया गया है।[9]

महर्षि पतंजलि ने इन्हें सभी के लिए परम आवश्यक बताया है। आचरण सम्बन्धी नियम सभी स्थानों, कालों, देशों, आयु, लिंग, जाति आदि से बाधित नहीं हैं अर्थात सभी के लिए सामान रूप से पालन करने योग्य हैं।[10]

नोट- हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य परिग्रहण सम्बन्धी कार्य न तो स्वयं किये हो, ना ही करवाये हों और न ही दूसरों द्वारा करने पर समर्थन किया हो।

नियम - ऋषि पतंजलि ने मनुष्य के व्यक्तिगत आचरण को सुधारने हेतु आचरण - नियमावली का उल्लेख किया है, जिन्हें नियमों की संज्ञा दी जाती है। ये हैं- **शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर - प्रणिधान।**[11]

शौच- शौच के अन्तर्गत योग साधक को स्वास्थ्य-संवर्धन एवं संरक्षण के लिए शरीर की बाह्य शुद्धि, स्नान एवं उचित हस्तपाद प्रक्षालन, दन्त धावन, नेत्र प्रक्षालन, जिव्हा - निर्लेखन, उचित व्यायाम इत्यादि द्वारा शरीर की साफ-सफाई, साथ ही वस्त्रों की सफाई, रसोई की सफाई, बर्तनों की सफाई इत्यादि का ध्यान रखना चाहिए, जिससे कि संक्रमण सम्बन्धी बीमारियों से बचाव हो सके।[12]

संतोष- मनुष्य व योग साधक को संतोष रूपी नियम का व्यवहारिक पालन करना आवश्यक है। मनुष्य जो भी अपने कर्म व भाग्य के आधार पर ईश्वर से प्राप्त करता है, उसका समयानुसार उपभोग कर लेना चाहिए। असंतोष मनोवृत्ति से ईर्ष्या द्वेष, क्रोध, निराशा, उद्विग्नता, भय आदि नकारात्मक संवेगों की मनोवृत्ति है, जिससे मानव शरीर व्याधि को सरलता से प्राप्त हो जाता है। अतः मनुष्य को सकारात्मक विचार, सदाचार व दृढ़ संकल्पी होकर जीवन में आगे बढ़ने का प्रयास

अपनी क्षमतानुसार करना चाहिए, न कि संतोष करके कर्मों के प्रति उदासीन भाव रखना अर्थात् अकर्मण्यता अपनानी चाहिए।[13]

तप- योग साधक एवं सामान्य मनुष्य को सकारात्मक सोच एवं उचित मानसिक दृष्टिकोण के विकास हेतु मनुष्य से अपेक्षा की जाती है कि वह उचित संसाधनों द्वारा उचित प्रयास व कर्म करके अपने उद्देश्यों की पूर्ति करें, शास्त्रों के अनुसार यह भी कथन है कि इन्द्रियों की लोलुपता व कामुकता के संयमन हेतु ब्रह्मचर्य तप मनुष्य व योग साधक को दुष्ट वचनों के वेग को रोकने हेतु वाणी - तपय अन्न से उत्पन्न रोगों के रोकथाम हेतु उपवास रूपी आहारीय तप अच्छे विचारों को उत्पन्न कर मानसिक तप व कामुकता के संयमन हेतु ब्रह्मचर्य रूपी तप आदि का पालन करना चाहिए। यह सभी तप रूपी नियमावली स्वास्थ्य संरक्षण व संवर्धन में अत्यन्त सहायक होती है।[14]

स्वाध्याय- मनुष्य एवं योग साधक को अपने व्यक्तित्व, आचरण व आदतों के प्रति आत्म चिन्तन, मनन व आत्मविश्लेषण करने का समय-समय पर प्रयास करना चाहिए। इस प्रयास के न होने से मनुष्य अत्यधिक महत्वाकांक्षाओं के वशीभूत होकर तथा क्षमताओं का ध्यान न रखकर शारीरिक व मानसिक पीड़ाओं व यातनाओं से सामना करता है तथा क्रोध, उद्विग्नता, ईर्ष्या, द्वेष व परोपकार आदि आवेशों, भावनाओं से ग्रसित होकर व्याधियों का सामना करता है। उचित कर्म फलों द्वारा स्वास्थ्य संरक्षण व संवर्धन करने में सक्षम हो पाता है। वेद, पुराण, रामायण, गीता आदि का स्वाध्याय भी करना चाहिए, जिससे मन व इन्द्रियों की चंचलता व लोलुपता को नियंत्रित कर स्वास्थ्य संरक्षण व संवर्धन हो सके।[15]

ईश्वर प्रणिधान - मनुष्य एवं योग साधक को सृष्टि चक्र को चलाने वाली सर्वोपरि सत्ता में आसक्ति, विश्वास व श्रद्धा उत्पन्न कर तथा उसके प्रति समर्पित डोकर पूजा-अर्चना व उपासना करनी चाहिए। इस नियम का पालन करने से मनुष्य व योग साधक में अहंकार रूपी मल की निवृति होकर नकारात्मक मनोवृतियों जैसे- क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, लालच, परोपकार, हिंसा, चोरी इत्यादि से छुटकारा मिलने में सहायता मिलती है। श्रद्धा रूपी उपासना द्वारा करुणा, दया, परोपकार, अहिंसा, अपरिग्रह, शौच, संतोष इत्यादि मनोवृत्तियों का विकास होता है, ईश्वरीय समर्पण से सुरक्षा रूपी भावना विकसित होने के साथ-साथ चिन्ता व भय से छुटकारा मिलता है। अतः ईश्वर प्राणिधान रूपी नियम, मनुष्य को स्वास्थ्य संरक्षण व संवर्धन में सहायक होकर मनोकायिक रोगों के उपचार हेतु भी लाभदायक होता है।[16]

निष्कर्ष

जहाँ एक तरफ अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश इन पांच प्रकार के क्लेशों ने मानसिक निराशा, चिंता, असंतोष, नकारात्मक विचार, तनाव, अवसाद, शारीरिक समस्याएं, जैसे अनिद्रा, उच्च रक्तचाप, हृदय रोग, पाचन सम्बन्धी समस्याएं उत्पन्न की हैं। वहीं दूसरी तरफ इनसे बचाव हेतु महर्षि पतंजलि ने पांच प्रकार के यम और पांच नियमों का पालन करना बताया है, जिससे इन समस्त समस्याओं से बचा जा सकता है जब व्यक्ति विपर्य अर्थात् उल्टा शान (गलत फैमी) का शिकार होता है, तब वह सही निर्णय नहीं ले पाता और गलती कर बैठता है, जिससे उसे शारीरिक मानसिक सामाजिक कई प्रकार की समस्याएं उत्पन्न होती हैं, जो सत्य को जान लेता है अर्थात सही गलत में भेद कर लेता है वह इन समस्याओं से दूर रहता है। अहंकार व्यक्ति को अंधा बना देता है, वहीं अहिंसा के पालक को कभी में नहीं सताता है। राग अर्थात् आशाएं दूसरों पर निर्भर बनाती हैं और जब पूरी नहीं होती तो कष्ट देती हैं जबकि अस्तेय का पालन व्यक्ति को संतुष्टि प्रदान करता है। द्वेष व्यक्ति को अन्दर ही अन्दर खोखला करता और मानसिक रोग पैदा करता है। वहीं ब्रह्मचर्य के पालन से आत्मबल बढ़ता किसी से ईर्ष्या द्वेष नहीं कराता उसका काम क्रोध, लोभ, मोह आदि पर पूर्ण नियंत्रण रहता है। मृत्यु का भय सामान्य सभी को सताता है, परन्तु जो साधक नित्यानित्य को समझता है अर्थात् विद्या और अविद्या में भेद करना जानता है वह कभी भगवीत नहीं होता है अतः योग मार्गी व्यक्ति को सुख, दुःख, लाभ, इनि, मान, सम्मान, जय पराजय, लोभ, मोड, ईर्ष्या एवं अविद्या आदि पञ्च क्लेशों से उत्पन्न व्याधियां नहीं सताती योग शास्त्रों में कहा गया है

न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु

प्राप्तस्य योगाग्नि मयं शरीरं।

अर्थात् जिस साधक अथवा मनुष्य ने अपने शरीर को योग की अग्नि में तपाया लिया हो उसे रोग, बुद्धापा, मृत्यु, आदि का भय नहीं सताता है। सामान्य मनुष्य भी इन योगांगों को आचरण में लाकर इन सभी शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, समस्याओं से मुक्त रहकर संसार में विचरण करता है।

संदर्भ :-

1. अविद्या क्षेत्रम् उत्तरेषां प्रसुप्त तनु विच्छिन्न उदाराणाम। 2/4 पातंजलयोगप्रदीप, ग्रन्थकार- श्री स्वामी ओमानन्द तीर्थ (सं. 2058 बीसवां संस्करण) गोबिन्दभवन- कार्यालय, गीताप्रेस गोरखपुर-273005।
2. अनित्य अशुचि दुःख अनात्मसु नित्य शुचि सुख आत्मख्यातिः अविद्या। 2/ 5 गोयन्दका हरिकृष्णदास (संवत् 2076) पातंजल योगदर्शन (प्रथम संस्करण) गीता प्रेस गोरखपुर।
3. दृग्दर्शन शक्त्योः एकात्मता इव अस्मिता 2/6 योग दर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर।
4. सुख अनुशयी रागः। 2/7 पातंजलयोगप्रदीप (श्री स्वामी ओमानन्द तीर्थ) प्रकाशक - गोविन्द भवन - कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर।
5. दुःख अनुशयी द्वेषः। 2/8 पातंजलयोगप्रदीप, ग्रन्थकार - श्री स्वामी ओमानन्द तीर्थ (सं. 2058 बीसवां संस्करण) गोबिन्दभवनदृ कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर-273005।
6. स्वरसवाही विदुषः अपि तथा आरूढ़ः अभिनिवेशः। 2/9 वही।
7. स्वस्थवृत्त विज्ञान एवं यौगिक चिकित्सा, पृष्ठ सं. 106-107, (डॉ. गिरी राकेश) प्रकाशक शिक्षा भारती उत्तराखण्ड, निकुंज विहार, आर्यनगर हरिद्वार – 249404।
8. यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयाः अष्टावङ्गानि। पातंजलयोगप्रदीप (श्री स्वामी ओमानन्द तीर्थ) प्रकाशक- गोविन्द भवन - कार्यालय, गीताप्रेस गोरखपुर।
9. स्वस्थवृत्त विज्ञान एवं यौगिक चिकित्सा, पृष्ठ सं. 106 107, (डॉ. गिरी राकेश) प्रकाशक शिक्षा भारती उत्तराखण्ड, निकुंज विहार, आर्यनगर हरिद्वार – 249404।
10. जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। 2/31 पातंजलयोगप्रदीप, ग्रन्थकार - (श्री स्वामी ओमानन्द तीर्थ) (सं. 2058 बीसवां संस्करण) गोबिन्दभवन - कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर-273005।
11. शौचसंतोषतपरूस्वध्ययेश्वरप्रणिधानानि नियमः 2/32 पातंजलयोगप्रदीप गीताप्रेस गोरखपुर।
12. शौचतस्वन्गजुगुप्सा परैरसंसर्ग ‘‘ रू 2/40 पातंजलयोगप्रदीप गीताप्रेस गोरखपुर।
13. संतोषदनुत्तमसुखलाभः 2/42 योग दर्शन, सम्पादक प० श्रीराम शर्मा आचार्य, प्रकाशक डा० चमनलाल गौतम, संस्कृत संस्थान ख्वाजा कुतुब (वेद नगर) बरेली - 243003 (उ.प्र.)।
14. ततो द्वन्दानभिघातः 2 /48 योग दर्शन, गीताप्रेस, गोरखपुर।
15. स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः 2/44 योग दर्शन खंड -2 साधनपाद भारतीय योगसंस्थान प्रकाशकरू भारतीय योग संस्थान योगाश्रम एव. अनुसन्धान केंद्र दिल्ली -110085।
16. समधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात 2/45 योग दर्शन।

Received: 18.01.2026 | Accepted: 22.01.2026 | Published: 30.01.2026

भाषा विज्ञान एवं विज्ञान की अन्य शाखाओं का अन्त:संबंध

डॉ. अभिषेक मिश्र[1]
abhisheka9889@gmail.com

शोध सार *–*

भाषा का महत्त्व न सिर्फ सामाजिक धरोहर और अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में है बल्कि उसका महत्त्व उसके वैज्ञानिक अध्ययन में निहित है, मानव-भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि कैसे मनुष्य जगत के अन्य प्राणियों से भिन्न है और मनुष्य के ध्वनि तंत्र की वैज्ञानिक अवधारणा कितनी व्यापक है। भाषा विज्ञान (Linguistics) मानव भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन है, जो भाषा व्याकरण, मनोविज्ञान, शरीरविज्ञान, भौतिक विज्ञान, संगीत शास्त्र, पुरातत्व, समाजशास्त्र, जैसे क्षेत्रों से गहरा अंतर्संबंध रखता है। यह भाषा के विकास, संरचना और उपयोग को समझने के लिए विभिन्न सिद्धांतों का उपयोग करता है, जिससे ध्वनि, अर्थ और वाक्य संरचना का विश्लेषण संभव होता है।

मुख्य शब्द :

भाषा विज्ञान, मनोविज्ञान, शरीर विज्ञान, भौतिक विज्ञान, व्याकरण, पुरातत्व, सामाजिक विज्ञान

‘’भाषा’ शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है। सामान्य तौर पर भाषा को हम अभिव्यक्ति का माध्यम कह सकते हैं। भाव अभिव्यक्ति केवल मनुष्य की ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण प्राणि-जगत की होती है अतः भाषा केवल मानवीय सभ्यता की धरोहर ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण प्राणी-जगत की धरोहर है। किन्तु, भाषा सभ्यता का अंग मानव के बौद्धिक विकास के कारण ही बन सकी। असुरक्षा की भावना के कारण मनुष्यों ने समूहों में रहना शुरू किया तब उसके मन में अपने मनोभावों को दूसरों तक पहुंचाने की इच्छा हुई और इसी इच्छा या जरुरत ने भाषा के व्यवस्थित होने का मार्ग प्रशस्त किया। वस्तुतः आज जितनी भी मानव सभ्यताओं ने देश या राष्ट्र का स्वरूप धारण कर लिया है उनकी अस्मिता उनकी भाषा के कारण ही प्रासंगिक बनी हुई है। भाषा के विकास के पीछे कई वैज्ञानिक कारण भी हैं जैसे- मनोविज्ञान, भौतिक-विज्ञान, शरीर-विज्ञान, व्याकरण-साहित्य, इतिहास, मानविकी, भूगोल, सामाजिक-विज्ञान और दर्शन-विज्ञान आदि। अतः भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन आवश्यक हो जाता है ताकि हम समझ सकें की भाषा एक वैज्ञानिक अवधारणा है। उपरोक्त चर्चा का अध्ययन हम भाषा विज्ञान की सीमा में रह कर ही कर सकते हैं ताकि विषय की प्रासंगिकता बनी रहे। ‘भाषा विज्ञान अपने वर्तमान स्वरूप में एक अर्वाचीन शाखा है। भाषा विज्ञान का जन्म अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में हुआ। इसके जनक ‘सर विलियम जोन्स’ माने जाते हैं। उन्होंने रायल एशियाटिक सोसाइटी के सदस्यों के सम्मुख एक लेख प्रस्तुत किया। इस लेख में संस्कृत, ग्रीक व लैटिन आदि भाषाओं में पाए गए साम्य के आधार पर यह मत प्रस्तुत किया गया कि भारत और यूरोप की भाषाएं एक ही स्रोत से विकसित हुई हैं।’[1] जिसके परिणाम स्वरूप भाषा के स्तर पर एक नए विमर्श अर्थात वैज्ञानिक विमर्श की शुरुआत हुई। ‘यही वह घटना है जहां से भाषा विज्ञान की स्थापना हुई।’[2]

भाषा की विभिन्न परिभाषाओं से एक बात सर्वमान्य रूप से स्वीकार्य है कि भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम है। जबकि भाषा विज्ञान भाषा के विज्ञान का अध्ययन है। भाषा के माध्यम का विज्ञान होने के कारण इसका विविध वैज्ञानिक विषयों से सबंधित होना स्वाभाविक ही है। इन संबंधों का अध्ययन निम्न प्रकार से समझा जा सकता है –

---

[1] **हिंदी विभाग, सेंट स्टीफेन्स कॉलेज – दिल्ली विश्वविद्यालय**

1. भाषा विज्ञान और व्याकरण –

भाषा विज्ञान और व्याकरण का घनिष्ठ संबंध है। 'व्याकरण' शब्द की उत्पत्ति 'वि' + 'आ' उपसर्ग तथा 'कृ' धातु से 'अन' प्रत्यय जोड़कर हुई है, जिसका अर्थ है 'विश्लेषण करना' या टुकड़े करना।'[3] श्याम सुन्दर दास जी के अनुसार 'व्याकरण भाषा में साधुता और असाधुता का विचार करता है और भाषा विज्ञान की वैज्ञानिक व्याख्या करता है।'[4] वस्तुतः व्याकरण किसी भाषा के तात्कालिक स्वरूप और नियमों से सम्बद्ध है, किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि कोई रूप क्यों, कैसे और कब बना। 'व्याकरण भाषा संबंधी 'क्या' का उत्तर दे सकता है 'क्यों' का नहीं। इसलिए व्याकरण को विवरणात्मक या वर्णनात्मक भाषा विज्ञान भी कहते हैं।'[5] यद्यपि व्याकरण वर्णनात्मक होने के साथ-साथ व्याख्यात्मक भी होता है। श्याम सुन्दर दास जी के अनुसार वर्णनात्मक व्याकरण लक्ष्यों का व्यवस्थित रूप में वर्गीकरण करता है और सामान्य नियमों का निर्माण करता है। जबकि व्याख्यात्मक व्याकरण इसका भाष्य करता है। अर्थात भाषा मात्र की व्याख्या करता है। इसकी भी तीन अंग होते हैं – ऐतिहासिक, तुलनात्मक और सामान्य व्याकरण। ऐतिहासिक व्याकरण के अंतर्गत भाषा के कार्यों को समझाने के लिए उसी भाषा में पूर्ववर्ती कारणों को ढूढने की चेष्टा करता है जबकि तुलनात्मक व्याकरण सजातीय भाषाओं का तुलनातमक परीक्षण करता है और सामान्य व्याकरण सभी भाषाओँ के – 'भाषा' मात्र के मौलिक सिद्धांतों तथा तत्वों की मीमांसा करता है।'[6] कुल मिला कर कहने का आशय यह है कि भाषा विज्ञान जहां भाषा को व्यवहारिक आधार प्रदान करता है वहीं व्याकरण भाषा के आदर्श मापदंड निर्धारित करता है।

2. भाषा विज्ञान और मनोविज्ञान –

भाषा संबंध विचारों या भावों से है। मनुष्य पर्यावरण अथवा परिस्थिति से प्रभावित होता है और उस प्रभाव की अभिव्यक्ति प्रतिक्रिया के रूप में होती है यह मानसिक, शारीरिक अथवा वाचिक हो सकती है। अप्रिय विषय का सन्दर्भ किसी भी व्यक्ति को क्षुब्ध कर सकता है जो व्यक्ति की मानसिक प्रक्रिया का परिणाम है, पैर में सुई चुभने से हम तुरंत पैर हटा लेते हैं यह हमारी शारीरिक प्रतिक्रिया का परिणाम है, मार्ग में अवरोध या ट्रैफिक सिग्नल में लाईट के लाल हो जाने से हम रुक जाते हैं यह हमारी वाचिक प्रक्रिया का परिणाम है। कहने का आशय यह है कि अभिव्यक्ति के रूप में भाषा के उत्पन्न होने के पीछे मनोविज्ञान के कारण है। अतः मनोविज्ञान को समझे बिना भाषा को समझना संभव नहीं है। मनोविज्ञान भाषा के मानसिक स्वरूप का अध्ययन करता है। 'प्रसिद्ध मनोभाषाशास्त्री 'हेमेनस्टेन्थल' तो मनोविज्ञान के बिना भाषा विज्ञान के अध्ययन को ही अधूरा मानते हैं। उनके अनुसार मनोदशाओं के कारण ही भाषा सरस, नीरस, सरल-जटिल, कड़वी-मीठी और गम्य-अगम्य हो जाती है। वे यह भी मानते हैं कि किसी भी वक्ता का व्यवहार व श्रोता की प्रतिक्रियात्मक शैली के सौम्य, कटु या फिर तटस्थ होने के पीछे मनोविज्ञान प्रमुख कारण होता है।'[7] जबकि 'चाम्सकी' व 'बूमफील्ड' जैसे विद्वानों के अनुसार 'प्रत्येक शब्द व अर्थ का निर्धारण मानसिक व बौद्धिक प्रक्रिया का परिणाम है।'[8] वस्तुतः अर्थ-परिवर्तन के कारणों को अच्छी तरह समझने के लिए भी मनोविज्ञान का परिचय अपेक्षित है। आखिर क्यों किसी एक ही शब्द के अनेक अर्थ हो जाते हों और फिर हम कहते हैं कि भाव के अनुसार ही शब्दों के अर्थ को समझा या प्रतिक्रिया देना चाहिए। यह सब कुछ मनोविज्ञान के कारण ही है। अतः हम कह सकते हैं कि मनोविज्ञान और भाषाविज्ञान का अन्तरंग सबंध है।

3. भाषा विज्ञान और शरीर विज्ञान –

भाषा की उत्पत्ति विभिन्न शारीरिक अंगो के प्रयास से हुई है। इन शारीरिक अंगो का अध्ययन शरीर विज्ञान के अंर्तगत होता है। ठीक से आवाज निकल पाने या आवाज के भारी हो जाने के कारण हम अक्सर किसी चिकित्सक की सहायता लेते हैं। मनुष्य या किसी जीव के ध्वनि उच्चारित करने के पीछे उसके ध्वनि यंत्र व उसके सहयक अंगो का योगदान होता है। जैसे कि मनुष्य अभिव्यक्ति के लिए अपने शारीरिक ध्वनि यंत्रो में कंठ, मूर्धा, तालु, जिह्वा, दन्त, आदि का प्रयोग बोलने में, कर्ण का प्रयोग सुनने में, आँखों का प्रयोग पढने में, हाथ एवं अँगुलियों का प्रयोग शारीरिक हाव-भाव व्यक्त करने में प्रयोग करता है। इस संदर्भ में डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना का कहना है, ' किस तरह मुख से निःसृत ध्वनि को ग्रहण करने वाले कानों की संरचना हुई, कैसे वे ध्वनि को ग्रहण करते हैं, कैसे ध्वनि मस्तिष्क तक पहुँचती है, कैसे मस्तिष्क किसी वस्तु स्थिति का बोध ग्रहण करता है XXX... आदि-आदि विविध शरीर संबंधी जिज्ञासाओं का समाधान शरीर विज्ञान ही कर सकता है।' [9] अतः इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि भाषा हो या भाषा विज्ञान दोनों शरीर विज्ञान के बिना संभव नहीं हैं।

4. भाषा विज्ञान और भौतिक विज्ञान –

जहाँ भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन भाषा विज्ञान है वही भौतिक विज्ञान के अंतर्गत उर्जा के विभिन्न स्वरूपों तथा द्रव्य से उसकी अन्योन्य क्रियाओ का अध्ययन किया जाता है। वस्तुतः वक्ता और श्रोता के मध्य ध्वनि ऊर्जा का संचरण संवहन प्रक्रिया का परिणाम है। ध्वनि तरंगो के एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुचने का कार्य वायु के माध्यम से होता है। ध्वनि के प्रत्युत्तर के लिए यह आवश्यक हैं कि वह संप्रेषित माध्यम में पहुच कर टकरा जाये। जैसे ही ध्वनि कर्ण कुहरो के माध्यम से किसी व्यक्ति तक पहुचती है तो प्रतिध्वनि का एहसास होता है। इस प्रकार से वक्ता और श्रोता के बीच ध्वनि तरंगो का संचरण भौतिक विज्ञान के अध्ययन का विषय हैं। उल्लेखनीय हैं कि वर्तमान तकनीकी के युग में भाषा सम्प्रेषण के लिए बहुत से विद्युत एवं यांत्रिक साधनों का प्रयोग एवं इनका अध्ययन भी विज्ञान कि भौतिक विज्ञान कि शाखा के अंतर्गत किया जाता हैं। भाषा विज्ञान कि उपरोक्त व्याख्या से हमें भाषा विज्ञान एवं भौतिक विज्ञान के संबंधो का पता चलता है।

5. भाषा विज्ञान और संगीत शास्त्र

भाषा-विज्ञान और गायन विद्या का घनिष्ठ संबंध है। दोनों में स्वर और श्रुति का संबंध है। स्वर लहरियों एवं उच्चारण प्रक्रिया का संगीत में बड़ा उपयोग है। स्वर साद्जना का उसमें बड़ा महत्व है। अल्पप्राण, महाप्राण और प्लुत ध्वनियों की सहायता से संगीत शास्त्र का महत्व है। नाद, ध्वनि, आरोह, अवरोह, ध्वनि-यंत्र, शब्द-सार्थकता आदि तत्व दोनों विषयों में अपना समान महत्व रखते हैं। गेयता भाषा का गुण है। स्वरों में आरोह-अवरोह के आधार पर गायन, नृत्य एवं वाद्य का अध्ययन संगीत शास्त्र में होता है। प्राचीन वैदिक साहित्य की भाषा वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत गायन रूप में ही मिलती है। इस प्रकार से उपरोक्त व्याख्या के आधार पर हम भाषा विज्ञान तथा संगीत शास्त्र के मध्य सबंधो का महत्व समझ सकते हैं।

6. **भाषा विज्ञान और पुरातत्व –**

'जिस विज्ञान के आधार पर पुराने टीलों का क्रमिक स्तरों में विधिवत उत्खनन किया जाता है और प्राचीन काल के लोगों के भौतिक जीवन के विषय में जानकारी मिलती है, उसे पुरातत्व या आर्किऑलाजी कहते हैं।'[10] इसके अंतर्गत विविध प्रकार के खंडहरों, मूर्तियों, स्तंभों, मंदिरों, विहारों, शिलाओं, पर्वतखण्डों आदि के माध्यम से प्राचीन तथ्यों के विषय में जानकारी मिलती है। इसके अतिरिक्त प्राचीन भाषा व लिपि के विषय में जानकारी भी हमें पुरातत्व के अंतर्गत ही अभिलेखों, ताम्रपत्रों, सिक्कों आदि से प्राप्त होती है। उल्लेखनीय है कि प्राचीन मौर्यवंश के इतिहास के संदर्भ में प्राप्त अशोक के शिलालेखो से जिस लिपि के विषय में जानकारी प्राप्त हुई है वह ब्राह्मी लिपि है। भाषा व लिपियों के विकास की जानकारी का प्रमुख आधार पुरातत्व विज्ञान ही है। 'इस सन्दर्भ में गौरीशंकर ओझा ने 'नागरी अंक और अक्षर' एवं 'प्राचीन लिपि माला' में भाषा और लिपि संबधी जो जानकारी दी है वह सब पुरातत्व विज्ञान का ही प्रतिफल है।'[11] इस प्रकार से भाषा विज्ञान और पुरातत्व विज्ञान भाषा व लिपि के उत्पत्ति के इतिहास व विकास की जानकारी के संदर्भ में एक दूसरे से जुड़े हुए हैं।

7. भाषा विज्ञान और सामाजिक विज्ञान –

भाषा सामाजिक संपत्ति है। वह समाज में उत्पन्न और विकसित होती है। किसी भी भाषा के विकास में व्यक्ति समाज तथा परिस्थतियों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। भाषाविद् को समाजविद् होना आवश्यक है तभी वह अपने अध्ययन को पूर्णता दे पायेगा क्योंकि भाषा जातीय इतिहास, संस्कार एवं शब्दावली को ले कर चलती है। मनुष्य आचार-विचार व्यवहार आदि सब कुछ भाषा पर प्रभाव डालते हैं। प्रत्येक समाज में विभाजन के कुछ मिथकीय एवं सांस्कृतिक आधार होते हैं जिनकी अभिव्यक्ति वहां के साहित्य की भाषा के माध्यम से ही संभव है। इसके अतिरिक्त यदि वर्तमान संदर्भ में देखें तो भाषा एक संवेदनशील विषय है। किसी भी बाहरी क्षेत्र में या विदेश में दो सामान भाषी लोगों में मित्रता होना स्वाभाविक बात है इसके विपरीत भाषा के मुद्दे पर कटुता हो आना भी सामान्य बात है। भाषा विज्ञान के दृष्टिकोण से देंखें तो किसी भी समाज की भाषा का अपना एक व्याकरण होता है जिसकी वजह से वहां का समाज अन्य समाज से अलग पहचान बनाता है। सामाजिक भाषाई पहचान ने जहां इटली जैसे कई देशों का एकीकरण किया है तो वहीं यू.एस.एस.आर., बांग्लादेश जैसे देशों को अगल भी किया है। अतः सामाजिक सहिष्णुता जैसे विषयों का आधार भाषा और समाज के संबंधो पर निर्भर रहता है इस दृष्टि से भाषा विज्ञान और सामाजिक विज्ञान का अपना विशेष महत्व है।

निष्कर्ष :

इस प्रकार से उपरोक्त अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाषा सिर्फ अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं है बल्कि सभ्यता के विकास की एक गतिशील अवधारणा है। भाषा का सुव्यवस्थित एवं तकनीकी अध्ययन भाषा विज्ञान है किन्तु इस विज्ञान को समझने के लिए विज्ञान की अन्य शाखाओं का अध्ययन आवश्यक है।

संदर्भ –

[1] चौधरी, तेजपाल. (2002). भाषा और भाषा विज्ञान. कानपुर: विकास प्रकाशन. पृ. 15

[2] चौधरी, तेजपाल. (2002). भाषा और भाषा विज्ञान. कानपुर: विकास प्रकाशन. पृ. 15

[3] चौधरी, तेजपाल. (2002). भाषा और भाषा विज्ञान. कानपुर: विकास प्रकाशन. पृ. 29

[4] दास, श्याम सुन्दर. (2010). भाषा विज्ञान. दिल्ली: प्रकाशन संस्थान, अंसारी रोड. ISBN 81-7714-358-1. पृ. 19

[5]शर्मा, देवेंद्र नाथ; शर्मा, दीप्ति. (2018). भाषा विज्ञान की भूमिका (7th ed.). दिल्ली: राधाकृष्णन प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड. ISBN 978-81-7119-537-4. पृ. 182

[6] दास, श्याम सुन्दर. (2010). भाषा विज्ञान. दिल्ली: प्रकाशन संस्थान, अंसारी रोड. ISBN 81-7714-358-1. पृ. 19

[7] सिंह, अनुज प्रताप. (2005). भाषा विज्ञान. दिल्ली: नमन प्रकाशन. ISBN 81-8129-050-X. पृ. 38

[8] सिंह, अनुज प्रताप. (2005). भाषा विज्ञान. दिल्ली: नमन प्रकाशन. ISBN 81-8129-050-X. पृ. 38

[9] रानी, विनीता. (2017). भाषा विज्ञान और हिन्दी भाषा. दिल्ली: श्री नटराजन प्रकाशन. ISBN 978-93-81350-61-4. पृ. 75

[10] शर्मा, रामशरण. (2012). प्रारंभिक भारत का परिचय (Reprint.). नई दिल्ली: ओरियंट ब्लैकस्वान. ISBN 978-81-250-2651-8. पृ. 15

[11] रानी, विनीता. (2017). भाषा विज्ञान और हिन्दी भाषा. दिल्ली: श्री नटराजन प्रकाशन. ISBN 978-93-81350-61-4. पृ. 80

Received: 19.01.2026 | Accepted: 22.01.2026 | Published: 30.01.2026

स्वत्रंतता आंदोलन का अभिनत अस्त्र: मद्य निषेध कार्यक्रम (छत्तीसगढ़ क्षेत्र के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ. अजय कुमार सिंह*
singh.ajai3@gmail.com

सारांश (Abstract)

यह शोध पत्र स्वतंत्रता आंदोलन में मद्य निषेध कार्यक्रम की भूमिका का विश्लेषण करता है, विशेषतः छत्तीसगढ़ क्षेत्र के संदर्भ में। महात्मा गांधी के नेतृत्व में मद्य निषेध को सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय जागरण के एक प्रभावी साधन के रूप में अपनाया गया। अध्ययन में स्पष्ट किया गया है कि शराब और मादक पदार्थों के विरोध ने न केवल सामाजिक बुराइयों को चुनौती दी, बल्कि जनसमूह को स्वतंत्रता संघर्ष से जोड़ने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। छत्तीसगढ़ में स्थानीय नेताओं और जनता की सक्रिय भागीदारी ने इस आंदोलन को सशक्त बनाया। निष्कर्षतः, मद्य निषेध कार्यक्रम स्वतंत्रता आंदोलन का एक प्रभावी नैतिक और सामाजिक अस्त्र सिद्ध हुआ।

मुख्य शब्द (Keywords)

मद्य निषेध, स्वतंत्रता आंदोलन, छत्तीसगढ़, महात्मा गांधी, सामाजिक सुधार, असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा, राष्ट्रीय चेतना

प्रस्तावना (Introduction)

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन केवल राजनीतिक संघर्ष तक सीमित नहीं था, बल्कि यह सामाजिक, नैतिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का भी आंदोलन था। महात्मा गांधी ने समाज की बुनियादी बुराइयों को समाप्त करने के लिए मद्य निषेध को एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में प्रस्तुत किया। उनके अनुसार, शराब और मादक पदार्थ समाज के नैतिक पतन के प्रमुख कारण हैं, जो व्यक्ति और समाज दोनों को दुर्बल बनाते हैं।

छत्तीसगढ़ क्षेत्र में मद्य निषेध आंदोलन ने विशेष रूप से जनजागरण का कार्य किया। यहां के स्थानीय नेताओं और आम जनता ने इस कार्यक्रम को अपनाकर स्वतंत्रता संघर्ष को व्यापक जनाधार प्रदान किया। अतः यह अध्ययन इस बात की पड़ताल करता है कि मद्य निषेध कार्यक्रम किस प्रकार स्वतंत्रता आंदोलन का एक प्रभावी अस्त्र बना।

शोध प्रविधि (Research Methodology)

इस शोध में गुणात्मक (Qualitative) एवं ऐतिहासिक (Historical) शोध पद्धति का उपयोग किया गया है। अध्ययन मुख्यतः द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है, जिनमें गांधीजी के लेख, समकालीन पत्र-पत्रिकाएं, ऐतिहासिक ग्रंथ तथा अभिलेखीय दस्तावेज़ शामिल हैं।

वर्णनात्मक (Descriptive) एवं विश्लेषणात्मक (Analytical) दृष्टिकोण के माध्यम से मद्य निषेध आंदोलन के सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक प्रभावों का अध्ययन किया गया है। साथ ही छत्तीसगढ़ क्षेत्र के विशेष उदाहरणों के आधार पर तुलनात्मक (Comparative) विश्लेषण भी किया गया है, जिससे इस आंदोलन की क्षेत्रीय विशेषताओं को स्पष्ट किया जा सके।

* **सह-प्राध्यापक, संकायाध्यक्ष, इतिहास विभाग, भारती विश्वविद्यालय, दुर्ग, (छ.ग.)**

उद्देश्य (Objectives)

1. स्वतंत्रता आंदोलन में मद्य निषेध कार्यक्रम की भूमिका का अध्ययन करना।
2. महात्मा गांधी के मद्य निषेध संबंधी विचारों का विश्लेषण करना।
3. छत्तीसगढ़ क्षेत्र में मद्य निषेध आंदोलन के स्वरूप एवं प्रभाव का मूल्यांकन करना।
4. सामाजिक सुधार और राजनीतिक आंदोलन के अंतर्संबंध को स्पष्ट करना।
5. जनजागरण में मद्य निषेध कार्यक्रम की उपयोगिता को समझना।

मादक पदार्थ और शराब, ये दोनों शैतान के दो हाथ हैं, जिनसे प्रहार करके वह अपने असहाय शिकारों को जड़ बुद्धि और मत्त बना देता है।[1] मद्यपान विषय पर गांधी जी के अनुसार, यदि मुझे एक घण्टे के लिए भारत का तानाशाह बना दिया जाए तो पहला काम मैं यह करूंगा कि तमाम शराबखानों को बिना मुआवजा दिये बन्द कर दूंगा"।

गांधी जी के अनुसार मद्यनिषेध का अर्थ है सभी नशीली चीजों की बिक्री पर पूर्ण प्रतिबंध। ये चीजें सिर्फ ऐसे वैद्य या डॉक्टरों के इलाजी नुस्खों पर मिल सकेगी, जिनके पास इस काम के लिए लाइसेंस हो। इन चीजों को सिर्फ ऐसे सरकारी भण्डारों से खरीदा जा सकेगा जो इसी काम के लिए स्थपित किये गये हों। उन यूरोपियनों के लिए जो या तो पिये बिना रह नहीं सकते या रहना नहीं चाहते, निश्चित मात्रा में विदेशी शराब मंगायी जायेगी। इसे बन्द बोतलों में कुछ चुने हुए स्थानों में सरकारी प्रमाण पत्रों के मातहत बेचा जाएगा। होटलों और जलपान गृहों में नशीली पेयों का बिकना बन्द कर दिया जायेगा।

गांधी जी के विचारानुसार नौजवानों को सभी तरह की नशीली शराब और तम्बाकू सहित सब तरह की नशीली चीजों का इस्तेमाल न करने का व्रत लेना चाहिए। वे यह मांग पेश करें कि मदरसों में जिन चीजों की तालीम दी जाती है, उसमें शराब जैसी नशीली चीजों और नशा पैदा करने वाले पदार्थों के सम्बंध में पुरी-पुरी तालीम भी शामिल की जाए, तालीम के सालों में समाज सेवा के कामों में हाथ बटाने की मांग पेश करें और उसमें शराब बन्दी के काम को भी शामिल करें और उसके सिलसिले में आम जनता को इस बात की तालीम दें की नशीली चीजों के खाने पीने से कैसे-कैसे नुकसान होते हैं।

मुल्क में गांव वालों के बीच यह जो हलचल चल रही है कि लोग छोटी-छोटी रकमें बचाकर रखें, उसके साथ आम लोग से यह भी सिफारिश करें कि उसमें तमाम नशीली चीजों से बचने की बात भी आ जानी चाहिए।

शराब की भट्टी लगाने के खपत में खाने के काम आने लायक बेशकीमती अनाज की बहुत बुरी बरबादी होती है, नौजवान इस बरबादी को रोकें और लोगों के लिए अनाज मुहैया करने के काम में जुट जाए। शराबबंदी का काम करने वाली संस्थाओं में शरीक हो जाए। शराबबंदी के बारे में निकले हुए साहित्य का इस्तेमाल करें। छुट्टियों में ऐसी सेवा अच्छी तरह से की जा सकती है। सच्चे देशभक्त के नाते आप यह सबक सीखें की देश से अपने लिए कितना लेना चाहिए इसका विचार न करते हुए देश को आप कितना दे सकते हैं यह सोचना ज्यादा जरूरी है।

समाज की दूसरी बुराइयों के होते हुए भी मद्यपान को एक बड़ी और रूढ़ बुराई मानने के पीछे गांधी जी का विचार था कि दूसरी बुराइयों इतनी नाशकारी नहीं है और दूसरी बुराइयों की जड़ भी इसी मद्यपान से पैदा होती है फिर भी मैं तो जुए सहित अन्य बुराइयों का भी नाश चाहता हूँ किन्तु यह शराबखोरी की बुराई तो मनुष्य तथा आत्मा दोनों का नाश कर देती है।[2]

उदाहरण के तौर पर काली परज अर्थात काले लोगों के सन्दर्भ में गांधी जी के अनुसार ऐसा नहीं है कि अन्य लोगों से अधिक काले होने के कारण वे काली परज कहलाते हों । उनके काली परज कहलानें का कारण यह है कि ऊंचे कहलाने वाले लोग यह कहकर उनकी अवगणना करते हैं।

इस समय उनकी स्थिति बहुत दयनीय है। भिरुता, अन्धविश्वास और मद्यपान का व्यसन उन्हें खोखला किये दे रहा है। बावजूद इस बात कि वे लोग जंगलों में रहते हैं, वे हर एक से और हर एक चिज से डरते हैं। उनका सबसे बड़ा दोष मद्यपान है। ताड़ी और शराब से यह जाति मिट्टी में मिली जा रही है। सन् 1921 की जागृति के समय वे भी आंदोलन में आये और इसलिए उनमें भी सुधार हुए। किन्तु अभी बहुत कुछ होना बाकी है। शराब उनके बीच में इस तरह घर करके बैठ गयी है कि वे शराब पीने को गुण मानने लगे है। जब मद्य निषेध आंदोलन प्रारंभ हुआ, उनके एक दल ने इस आंदोलन को समाप्त करने का

इरादा किया और जो शराब पीने की बुराई करते थे, उन्हें तंग करना प्रारंभ कर दिया। कहा जाता है कि पारसी दुकानदारों का इसमें हाथ था उन्हें भय था कि यदि काली परज शराब छोड़ देंगे तो उनका धन्धा लगभग बैठ जायेगा और शराब का ठेका लेने वालों को नुकसान होगा इस दृष्टि से विचार करें तो, ठेकेदारों को दोष देना व्यर्थ है। फिर भी मैं मानता हूं कि उनसे भी दो शब्द कहने का मुझे अधिकार है। पारसी जाति पर मैं मुग्ध हूं। बहुत से पारसियों से मेरा घनिष्ठ परिचय है। इस जाति के प्रति मेरे मन में बड़ा आदर है। इसलिए शराब के पारसी के ठेकेदार मेरी इस बात का उल्टा अर्थ निकालेंगे। संसार में ऐसे बहुत से लोग हुए है जिन्होंने दूसरों को नुकसान पहुंचाने वाले धन्धे छोड़ दिये। ये लोग भी साहसी है और होशियार है। यदि ये शराब का व्यापार छोड़ दें तो इन्हें दूसरा व्यापार मिल ही नहीं सकता ऐसी बात नहीं इतना वे करते हैं या नहीं करते, किन्तु मैं यह आशा अवश्य करता हूं कि वे अपने धन्धे को चालू रखने की दृष्टि से दारू प्रचार मण्डल का साथ नहीं देंगे।[3]

मद्यनिषेध का औचित्य:-

मद्यपान समाज की एक मुख्य समस्या थी जो समाज की सारी बुराइयों की जड़ थी। लेखक गेविट के अनुसार- नशाखेरी का प्रचलन प्रथम विश्व युद्ध के दौरान अत्यधिक बढ़ा। पांच साल के उस उथल-पुथल के काल में जहां तक अन्तरराष्ट्रीय दिलचस्पी या कार्य का संबंध मादक पदार्थों के व्यापार के खिलाफ कोई प्रयत्न नहीं हुआ उसे उतना ही अनिवार्य मान लिया गया जितना उस मूल पाप को जिसके साथ की ईसाई विश्वास के अनुसार मनुष्य का जन्म हुआ है, सच तो यह है कि खुद इस युद्ध से इस बुराई को बहुत बढ़ावा मिला। मानवीय दुःखों से राहत पाने और किसी हद तक युद्ध की भयंकर निराशा और घुटन, अब और एक रास्ता के बीच मानसिक शान्ति पाने के लिए सेना में कोकेन का अत्यधिक प्रयोग किया जाने लगा। बहुत से देशों में ऐसे नशाखोरों का एक दल तैयार हो गया। ये लोग नशीले पदार्थ खाते रहे और दूसरों के बीच भी इस कुटेव का प्रचार करते रहे। कारण इस बुराई के साथ जो एक और चीज जुड़ी होती है, वह यह कि नशाखोर लोगों में दूसरों को यह लत डालकर नशाखोरी प्रचार करने का एक विकृत उत्साह होता है। इसने करोड़ों की जिन्दगी बरबाद कर दी है इसके कारण मनुष्य की आत्मा और भी तेजी से जड़ होती जा रही है। इसके बाद लेखक ने इस बुराई की जड़ पर विचार करते हुए बताया है कि इसकी जड़ तो दवा और वैज्ञानिक शोधों के लिए इस तरह की चीजों का जितना उत्पादन सर्वथा उचित है उसके अनुपात में उनका बहुत अधिक उत्पादन होना है। बड़े-बड़े देशों में किसी ने भी इस समस्या को सुलझाने के लिए ठीक से प्रयत्न नहीं किया है। बल्कि इन देशों ने हेग सम्मेलन में हुए समझौते के अनुच्छेद 9 के अर्न्तगत दिये गये वचन को तोड़ा भी है।[4]

कांग्रेस के अनुरोध पर श्री एन्ड्रयूज द्वारा असम में अफीम के व्यापार और प्रयोग के विषय में तैयार की गई रिपोर्ट पढ़ने से पता चलता है कि इस आदत से वहां लोगों को कितनी हानि हुई है उन्हें यह भी मालूम है कि सरकार इस बढ़ती हुई बुराई को रोकने में किस प्रकार बिल्कुल असमर्थ रही है और किस प्रकार उसने उन सुधारकों के मार्ग में भी रोडे अटकाये, जिन्होंने इस बुराई को दूर करने की कोशिश की। इसलिए यह देखकर लोगों के मन को बढ़ा तोष मिला कि राष्ट्रीय सप्ताह के दौरान सार्वजनिक सभाओं में बोलने वाले लोगों ने शराब और मादक पदार्थ के पूर्ण निषेध पर जोर दिया। यह सुधार तो कब का सम्पन्न हो जाना चाहिए था और अगर कौंसिलों में जाना किसी प्रकार से श्रेयस्कर है तो निर्वाचकों के बीच अपने-अपने प्रचार के लिए पूर्ण मद्य निषेध को एक मुख्य आधार बनाना चाहिए। हर सदस्य को प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि वह पूर्ण मद्य निषेध आन्दोलन को केवल अपना समर्थन देगा बल्कि खुद ऐसा आंदोलन शुरू करेगा। और उसे चलायेगा। पूर्ण मद्य निषेध का तो बस एक ही उपाय है कि इस अनैतिक साधन से जितना राजस्व प्राप्त होता है, उसी अनुपात में सैनिक व्यय में कमी कर दी जाये। इसलिए पूर्ण मद्य निषेध की मांग के साथ ही साथ सैनिक व्यय में कटौती की मांग भी करनी चाहिए फिर इस विषय पर जनमत संग्रह आदि की योजना के चक्कर में पड़कर समस्या के समाधान में विलम्ब नहीं करना चाहिए। भारत में इस विषय पर जनमत संग्रह का कोई कारण ही नहीं हो सकता, क्योंकि मद्यपान और नशाखेरी को तो यहां सभी बुरा मानते हैं। पश्चिमी दुनिया की तरह भारत में शराब पीने का कोई फैशन नहीं है। इसलिए भारत में जनमत संग्रह की बात करना इस समस्या की उपेक्षा करना है।

1920-21 का इतिहास स्पष्ट रूप से यह प्रकट करता है कि अगर हिन्दुस्तान के पास ताकत होती तो वह क्या करता या उसने अपने को जब ताकतवर समझा, तब उसने क्या किया इसके अलावा यह भी याद रखना चाहिए की हिन्दुस्तान के करोड़ों निवासी अपने मजहब के कारण या उत्पादन मादक द्रव्यों से पूरा परहेज करते हैं इसलिए ये करोड़ों लोग शराब का परम हानिकर व्यापार चालू रखने में दिलचस्पी नहीं रख सकते इसलिए यह जो कहा जाता है कि हिन्दुस्तान में पूर्ण मद्य निषेध के लिए कोई आंदोलन नहीं है, उसके बारे में यह जवाब दिया जा सकता है। कि आंदोलन के अभाव के कारण यह नहीं है कि

लोगों में पूर्ण मद्यनिषेध कराने की इच्छा का अभाव है, बल्कि इसका कारण यह है कि वे असहाय है। दूसरा कारण ये है कि वे पूरी तरह से जानते हैं कि यह आंदोलन स्वराज्य प्राप्ति के बड़े आंदोलन का एक अंग है।[5]

मद्य निषेधवादी कार्यकर्ताओं की सभा में (लंदन 16 अक्टूबर 1931 को गांधी जी ने अपने भाषण में कहा कि संयुक्त राज्य अमेरिका अथवा यूरोपीय महाद्वीप की तरह भारत में मद्यपान का आम चलन नहीं है। सच तो यह है कि वहां के सभ्य समाज में यह एक वर्जित चीज है। भारत

शराब के व्यापार से छुटकारा पाना चाहता है, लेकिन अफसोस यह है कि इससे प्राप्त होने वाला राजस्व प्रांतीय सरकारों के पास जाता है और शिक्षा का खर्च चलाने का यह मुख्य साधन है। भारतीयों को जब सरकार से किसी प्रकार की सहायता की आशा नहीं रही गयी तब हाल के वर्षों में उन्होंने शराब की दुकानों पर शान्तिपूर्ण धरना देकर शराब आदि के व्यापार से होने वाली बुराइयों को कम करने की कोशिश की। इस काम को (जिसमें बहुत ही बलिदान अपेक्षित था)। भारत की स्त्रियों ने, जिनमें से कुछ को बहुत ही ऊँची स्थिति वाली थीं। बहादुरी के साथ अपने हाथों में लिया और जब गांधीजी ने लार्ड इरविन से इस विषय पर विस्तार से बातचीत की तो उन्होंने स्वीकार किया कि इन दो पाप पूर्ण व्यापारों के खिलाफ अपनी मुहिम चलाने के लिए भारतीयों को यह रास्ता अख्तियार करने का अधिकार है।[6]

जब शैतान स्वतंत्रता सभ्यता, संस्कृति आदि के समर्थक का रूप लेकर सामने आता है, तो वह लगभग दुनिवार्य बन जाता है इसलिए यह अच्छा ही है कि नशाबंदी कांग्रेस के कार्यकमों की पूर्णता का एक अंग बनाया जाए।[7]

असहयोग और सविनय अवज्ञा आंदोलन में मद्यनिषेध कार्यक्रम :-

असहयोग आंदोलन में अंतिम निर्णय लेने के लिए 26 दिसम्बर 1920 से नागपुर में कांग्रस का 35वीं अधिवेशन विजय राघवाचार्य की अध्यक्षता में हुआ इसी अधिवेशन में महात्मा गांधी का असहयोग प्रस्ताव पारित हुआ।[8]

गांधी जी का मत था कि असमान विधि, प्रमादी तथा छठी प्राधिकारी, असहाय किन्तु विरोध करने वाली जनता, जो केवल न्याय की मांग करती है ये वे परिस्थितियां है, जिसमें सत्याग्रह आवश्यक होता है।[9] इस अधिवेशन में आंदोलन के सोपान के सात कार्यक्रम पास किये गये जिनमे से एक प्रमुख मद्य निषेध एवं उसका प्रचार था।

छत्तीसगढ़ अंचल उन दिनों सी.पी.एवम् बरार का अभिन्न अंग था। इस प्रांत की राजधानी नागपुर थी, अतः प्रत्येक गतिविधि का केन्द्र बिन्दु भी प्रायः नागपुर ही होता था। मद्यनिषेध कार्यकम को डॉ. चोलकर तथा परांजपे ने नागपुर में सोत्साह मनाया। छत्तीसगढ़ में मद्य निषध के पक्ष में धुआंधार प्रचार किया गया। इस आंदोलन को प्रभावशाली बनाने के लिए पं. सुन्दर लाल शर्मा (राजिम) तथा कुतुबद्वीन (रायपुर) ने 7 फरवरी 1921 को रायपुर नगर स्थित गांधी चौक पर एक सभा में मद्यपान के बहिष्कार तथा शराब की पिकेटिंग करने की सलाह दी। मादक द्रव्यों के विक्रय का विरोध किया गया। परिणाम स्वरूप कुतुबद्वीन को रायपुर रेल्वे स्टेशन पर गिरफ्तार कर लिया गया, तब उत्साही जनता ने प्रतिरोध में अधिकारियों पर पत्थरों की बौछार की। वस्तुतः इस घटना ने शासन को प्रत्यक्ष चुनौती दी और इसे शासन ने बड़ी गम्भीरता से लिया।[10]

रायपुर जिले की धमतरी तहसील मद्यनिषेध कार्यक्रम में अग्रणी रहा, यहां के स्थानीय नेता नारायण राव मेधावाले का योगदान अविस्मरणीय है इस आंदोलन के अर्न्तगत धमतरी तहसील के गांव-गांव में मद्य निषेध का प्रचार किया गया।

धमतरी से 28 मील दूर सिहावा के पास गट्टा सिल्ली में शराब के ठेके की नीलामी होने वाली थी। नारायण राव जी खबर पाते ही स्वयं सेवक शोभाराम देवांगन, ठाकुर बलदेव सिंह, मोहम्मद अब्दुल करीम तथा खिलाफत कमेटी के दो सदस्यों को लेकर रातों रात गट्टा सिल्ली के लिए निकल पड़े। नारायण राव जी गट्टा सिल्ली पहुंचकर वहां की जनता को सरकारी बोली न बोलने का आग्रह किया। ऐसी स्थिति में मादक द्रव्यों की नीलामी के समय कोई बोली बोलने वाला सामने नहीं आया और धमतरी के कलार जाति ने सदा के इस व्यवसाय से धनोपार्जन न करने की प्रतिज्ञा ली। इनका यह त्याग सम्पूर्ण देश के लिए अनुकरणीय रहा और अंग्रेजी हुकुमत को नारायण राव जी के सामने झुकना पड़ा।[11]

इसी क्रम में बिलासपुर में हीरालाल कलार की शराब की भट्ठी (सदर बाजार) पर स्थानीय नेताओं के निर्देश पर युवा सत्याग्रहियों द्वारा नित्य धरना व सभायें की गयीं, जिसके परिणाम स्वरूप शराब की बिकी लगभग बन्द हो गयी। शासन ने हीरालाल कलार के आग्रह पर शहर में धारा 144 भी लगाई किन्तु युवकों के उत्साह में कोई कमी नहीं आयी।

पिकेटिंग करने वाले युवकों को मीलों दूर निर्जन सड़कों पर छोड़ दिया जाता था। उपर्युक्त घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में ब्रिटिश शासन ने प्रांत के अनेक महत्वपूर्ण नगरों निमाड़, सिवनी, होशंगाबाद, और दमोह में शराब के विक्रय पर पूर्ण प्रतिबंध लगा दिया छत्तीसगढ़ के रायपुर एवं दुर्ग जिले में भी पूर्ण शराब बंदी की गयी थी। इस घटना से इस क्षेत्र की दबी जनता को यह प्रेरणा मिली कि यदि संगठित होकर सशक्त आंदोलन किया जाए तो ब्रिटिश शासन को भी झुकाया जा सकता है। इससे लोगों के मनोबल में वृद्धि हुई और वे भविष्य के और ठोस कार्यक्रम बनाने में लग गये। छत्तीसगढ़ प्रांत में असहयोग आंदोलन के अर्न्तगत मद्य निषेध आंदोलन को सफल बनाने के लिए जो अभियान चलाया गया, वह सत्य एवं अहिंसा की नीति पर आधारित था।

सविनय अवज्ञा आंदोलन के धरातल में वहीं से बीजारोपड़ प्रारम्भ हो चुका था, जहां से असहयोग आंदोलन समाप्त हुआ जनता में राजनीतिक चेतना के विकास के साथ-साथ आर्थिक दुर्दशा और नौकर शाही के दमन चक से उपजा असन्तोष तीव्र हो रहा था। सविनय अवज्ञा आंदोलन का तात्पर्य ही रक्तहीन कांति है। गांधी जी की दृष्टि में यह सशस्त्र कांति का विकल्प था। 30 जनवरी 1930 को महात्मा गांधी ने ब्रिटिश शासन के समक्ष 11 सूत्री मांग प्रस्तुत किया। वायसराय द्वारा इस मांग पत्र को अस्वीकार किये जाने पर महात्मा गांधी ने सविनय अवज्ञा आंदोलन की घोषणा कर दी।[12]

गांधी जी की 11 सूत्री मांगों में एक प्रमुख मांग शराब व्यापार बद करना था। पूरे देश के साथ ही मद्य निषेध आंदोलन का कार्यक्रम छत्तीसगढ़ के प्रत्येक जिले में श्री घनश्याम सिंह गुप्त के निर्देशन में किया गया। इसी घटना कम में रायपुर, धमतरी, बिलासपुर में कांग्रेस सत्याग्रह आश्रम की स्थापना की गयी। बिलासपुर में इसका उद्घाटन घनश्याम सिंह गुप्त ने किया था। बिलासपुर जिलें में मद्य निषेध आंदोलन का प्रारम्भ श्री दिवाकर सिलेदार नाम विद्यार्थी सत्याग्रही ने किया था। उन्होंने सर्वप्रथम नगर ताड़ के पेड़ो पर चढ़कर ताड़ी के पात्रों को फोड़ा तदुपरान्त ताड़ी की दुकानों में रखी ताड़ी को उड़ेल दिया। इसके पश्चात् श्री दिवाकर सत्याग्रही समूह ने एक ठेकेदार द्वारा ले जाते हुए शराब के पीपों पर पथराव किया। और पीपे फुट गये। इस जुर्म में श्री दिवाकर को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 147 के अर्न्तगत बन्दी बनाकर मुकदमा चलाया गया और सजा दी गयी। श्री दिवाकर जब जेल में थे तब-तब निम्न पंक्तियां सत्याग्रहियों के मुख पर होती थी। जेल गया है हमारा दिवाकर, भागवत की आंखों का तारा दिवाकर।[13]

इसी कम में शराब की पिकेटिंग प्रायः नित्य हो गयी। एक दिन एक एंग्लो इण्डियन जूना बिलासपुर के शराब भट्टी में प्रवेश करना चाहता था और उसे श्री देवी प्रसाद रोक रहे थे किन्तु वह अपनी जिद पर था अन्त में उसे प्रवेश न देने हेतु देवी प्रसाद चौधरी जमीन पर लेट गये और वह शराबी उन्हें बूटों से रौंदता हुआ भट्टी में प्रवेश कर गया फलस्वरूप उनकी छाती की हड्डियां चरमरा गई और वे एक सप्ताह तक प्लास्टर चढ़ाये हुए आश्रम में पड़े रहे। इस घटना का परिणाम यह निकला कि शराब की बिकी प्रायः ठप्प सी हो गई और इस घटना से जनता में रोष का वातावरण छा गया। इसी वातावरण में राष्ट्रीय सप्ताह कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। इसी कम में पिकेटिंग दिवस के उपलक्ष्य में वैद्य गरीबराम ने बच्चों की वानर सेना के साथ शराब की दुकानों पर पिकेटिंग का कमिक कार्यक्रम प्रारम्भ किया। इस प्रकार अब मादक द्रव्य के सेवन करने वालों को समाज में घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा।[14]

इस प्रकार शराब बंदी का यह आंदोलन रायपुर, दुर्ग, धमतरी, मुंगेली आदि स्थानों पर सफलता पूर्वक चलता रहा। राष्ट्रीय सप्ताह के कार्यक्रम के अनुसार 20 अगस्त 1930 को बिलासपुर नगर में गांधी दिवस और 21 अगस्त को महिला दिवस मनाया गया। उक्त दिवस पर नगर के इतिहास में पहली बार (लगभग 500) संभ्रांत महिलाओं का जुलूस सदर बाजार से होता हुआ टाउन हाल के सभा में परिणीति हो गया।

इसी कम में दुर्ग नगर स्थित शराब की दुकान पर पिकेटिंग मोहन लाल याकलीवाल के नेतृत्व में संचालित की गयी थी। फलस्वरूप मोहन लाल वाकलीवाल को 16 फरवरी 1930 को एक वर्ष जेल की सजा तथा 1000 रुपये का आर्थिक दण्ड दिया गया।[15]

निष्कर्ष (Conclusion)

अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि मद्य निषेध कार्यक्रम भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का एक महत्वपूर्ण सामाजिक और नैतिक आयाम था। महात्मा गांधी ने इसे केवल नशाबंदी तक सीमित न रखकर राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के एक साधन के रूप में प्रस्तुत किया।

छत्तीसगढ़ क्षेत्र में इस आंदोलन ने व्यापक जनसहभागिता को जन्म दिया और स्थानीय स्तर पर सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को गति प्रदान की। शराब विरोधी अभियानों, पिकेटिंग और जनजागरण के माध्यम से जनता में आत्मविश्वास और राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ।

अंततः कहा जा सकता है कि मद्य निषेध कार्यक्रम ने स्वतंत्रता आंदोलन को नैतिक आधार प्रदान किया तथा इसे जन-आंदोलन में परिवर्तित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यह कार्यक्रम न केवल सामाजिक सुधार का माध्यम था, बल्कि औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध एक प्रभावी प्रतिरोध भी सिद्ध हुआ।

संदर्भ -

1. गांधी, महात्मा (संपादक). (1926, 22 अप्रैल). *Young India*. अहमदाबाद: Young India (अंग्रेजी साप्ताहिक).
2. गांधी जी ने कहा था?. (1962). सस्ता साहित्य मंडल. पृ. 11.
3. गांधी, महात्मा (संपादक). (1925, 25 जनवरी). *नवजीवन (गुजराती साप्ताहिक)*. अहमदाबाद: नवजीवन. (गुजराती से; गांधीजी द्वारा सम्पादित.)
4. गांधी, महात्मा (संपादक). (1926, 22 अप्रैल). *Young India*. अहमदाबाद: Young India.
5. गांधी, महात्मा (संपादक). (1927, 03 मार्च). *Young India*. अहमदाबाद: Young India.
6. (ब्रिटिश वीकली). (1931, 22 अक्टूबर). वेस्टमिन्स्टर के केन्द्रीय कक्ष में ईसाई धर्म संगठनों की मद्य निषेध वादी समिति द्वारा आयोजित सभा.
7. (पत्र). (1929, 11 जुलाई). "शिमला से" — *Young India* में प्रकाशित पत्र. (दिनांकित अंक: 11.07.1929.)
8. अमृत संदेश. (1985, 28 दिसम्बर). रायपुर: अमृत संदेश.
9. मिश्र, द्वारका प्रसाद. (1956). *मध्य प्रदेश में स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास*. ग्वालियर: गर्वनमेंट रीजनल प्रेस. पृ. 306.
10. नेशनल आर्काइव्ज ऑफ इण्डिया. (1929). *Notes on Boycott Movement — Home Dept., Political file no. 179*. दिल्ली: नेशनल आर्काइव्ज ऑफ इण्डिया. पृ. 27. (अभिलेखी दस्तावेज़.)
11. नायक, ठा. भा.. (1970, फरवरी). *छत्तीसगढ़ में गांधी जी*. रायपुर: गांधी शताब्दी समारोह समिति, रविशंकर शुक्ल विश्व विद्यालय. पृ. 4.
12. अमृत संदेश. (1985, 28 दिसम्बर). रायपुर: अमृत संदेश. (यह प्रविष्टि #8 के समान है — दोहराया हुआ संदर्भ.)
13. शर्मा, जे. पी.. (1989). *मध्यप्रदेश में राष्ट्रीय आंदोलन (छत्तीसगढ़ के विशेष संदर्भ में)*. दिल्ली: दुर्गा पब्लिकेशन. पृ. 11 7.
14. जैन, एम. एस.. (1975). *आधुनिक भारत का इतिहास*. दिल्ली. पृ. 388.
15. नायक, ठा. भा.. (1970, फरवरी). *छत्तीसगढ़ में गांधी जी*. रायपुर: गांधी शताब्दी समारोह समिति, रविशंकर शुक्ल विश्व विद्यालय. पृ. 6.

Received: 19.01.2026 | Accepted: 22.01.2026 | Published: 30.01.2026

एक राष्ट्र, एक चुनाव: भारतीय लोकतंत्र में संरचनात्मक सुधार

हर्षा जैन* **डॉ. संजय कुमार†**

Abstract

भारत, विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र, अपनी चुनावी प्रक्रियाओं में निरंतर सुधार की ओर अग्रसर है। 'एक राष्ट्र, एक चुनाव' (One Nation, One Election - ONOE) का प्रस्ताव लोकसभा और सभी राज्य विधानसभाओं के चुनाव एक साथ कराने की परिकल्पना है। 1952 से 2024 तक ₹10.5 करोड़ से ₹1.35 लाख करोड़ तक चुनावी खर्च की 13,000 गुना वृद्धि का विश्लेषण करते हुए, यह शोध पत्र ONOE की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, संवैधानिक चुनौतियों, वर्तमान चुनावी प्रणाली, काले धन के प्रवाह और इसके कार्यान्वयन की आवश्यकता का गहन विश्लेषण करता है। यह अध्ययन राम नाथ कोविंद उच्च-स्तरीय समिति (2024) की रिपोर्ट, विधि आयोग के सुझावों और स्वीडन, दक्षिण अफ्रीका व जर्मनी जैसे देशों के अंतरराष्ट्रीय मॉडलों का तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। निष्कर्षतः, यह पत्र प्रशासनिक दक्षता, आर्थिक बचत और संघीय ढांचे के बीच संतुलन बनाते हुए एक व्यावहारिक रोडमैप का सुझाव देता है।

मुख्य शब्द *:*

एक राष्ट्र, एक चुनाव, भारतीय लोकतंत्र, आदर्श आचार संहिता, संविधान, संसद, चुनावी खर्च

1. Introduction

लोकतंत्र में चुनाव केवल सरकार चुनने की प्रक्रिया नहीं, बल्कि शासन की वैधता का आधार स्तंभ है। भारत में वर्तमान में चुनाव एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया बन गई है। कभी लोकसभा, तो कभी किसी राज्य की विधानसभा के चुनाव वर्ष भर चलते रहते हैं। इस "परमानेंट इलेक्शन मोड" (Permanent Election Mode) के कारण देश का प्रशासन, विकास कार्य और वित्तीय संसाधन निरंतर दबाव में रहते हैं।

एक राष्ट्र, एक चुनाव का मूल विचार यह है कि लोकसभा और सभी राज्य विधानसभाओं के चुनाव एक साथ, एक ही समय पर कराए जाएं। इसका अर्थ है कि मतदाता एक ही दिन में केंद्र और राज्य सरकार दोनों के लिए मतदान करें। हाल ही में, पूर्व राष्ट्रपति श्री राम नाथ कोविंद की अध्यक्षता में गठित उच्च-स्तरीय समिति ने मार्च 2024 में अपनी 18,626 पृष्ठों की विस्तृत रिपोर्ट राष्ट्रपति को सौंपी, जिसने इस विमर्श को पुनः केंद्र में ला दिया है। यह शोध पत्र इस सुधार के संवैधानिक, वैधानिक और व्यावहारिक पहलुओं की पड़ताल करता है।

2. Body of Topic

एक राष्ट्र, एक चुनाव की अवधारणा भारतीय संविधान के अनुच्छेद 83 (संसद की अवधि), अनुच्छेद 172 (राज्य विधानमंडलों की अवधि) और जन प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 के प्रावधानों के पुनर्विलोकन की मांग करती है।

इस अवधारणा के केंद्र में प्रस्तावित अनुच्छेद 82A है, जिसे संविधान में जोड़ा जाना प्रस्तावित है। इसके अनुसार, राष्ट्रपति द्वारा अधिसूचित एक 'नियत तिथि' (Appointed Date) पर लोकसभा और सभी राज्य विधानसभाओं के चुनाव एक साथ

* **शोधार्थी, राजनीति विज्ञान, भारती विश्वविधालय, पुलगाँव, जिला दुर्ग (छ.ग.)**

† **शोध-निर्देशक एवं सह-प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान, भारती विश्वविधालय, पुलगाँव, जिला दुर्ग (छ.ग.)**

कराए जाएंगे। इसका तकनीकी पक्ष यह है कि यदि किसी राज्य सरकार का कार्यकाल बीच में ही समाप्त हो जाता है (त्रिशंकु विधानसभा या अविश्वास प्रस्ताव के कारण), तो नई सरकार का गठन केवल 'शेष अवधि' (Unexpired Term) के लिए होगा, न कि पूरे 5 वर्षों के लिए। यह सुनिश्चित करेगा कि अगला चुनाव चक्र बाधित न हो और देश का चुनावी कैलेंडर एक साथ बना रहे। इसके अतिरिक्त, समिति ने एक 'एकल मतदाता सूची' (Single Electoral Roll) का प्रस्ताव भी दिया है, जो अनुच्छेद 325 में संशोधन के माध्यम से पंचायत से लेकर संसद तक के चुनावों के लिए मान्य होगी।

3. History of Topic

भारत के चुनावी इतिहास में 'एक राष्ट्र, एक चुनाव' कोई नई अवधारणा नहीं है, बल्कि यह देश की मूल चुनावी परंपरा रही है।

1952 से 1967 का दौर: स्वतंत्रता के बाद, 1951-52 में पहले आम चुनाव लोकसभा और सभी विधानसभाओं के लिए एक साथ आयोजित किए गए थे। यह क्रम 1957, 1962 और 1967 तक निर्बाध रूप से चलता रहा। उस समय कांग्रेस का केंद्र और राज्यों में प्रभुत्व था, जिससे स्थिरता बनी रही।

चक्र का टूटना (The Breakdown): 1967 के बाद राजनीतिक परिदृश्य बदला। 1968 और 1969 में कई राज्य विधानसभाएं अनुच्छेद 356 के प्रयोग और दल-बदल के कारण समय से पहले भंग हो गईं।

1971 का चुनाव: निर्णायक मोड़ तब आया जब 1970 में चौथी लोकसभा को समय से पहले भंग कर दिया गया और 1971 में मध्यावधि चुनाव कराए गए। इसके बाद से लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव अलग-अलग समय पर होने लगे।

पुनर्विचार: 1999 में जस्टिस बी.पी. जीवन रेड्डी की अध्यक्षता वाले विधि आयोग (170वीं रिपोर्ट) ने पुनः एक साथ चुनाव कराने की सिफारिश की थी। 2017 में नीति आयोग ने भी इस पर एक विस्तृत चर्चा पत्र जारी किया था।

4. Current Election System

वर्तमान में भारत की चुनाव प्रणाली 'असमकालिक' (Asynchronous) है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 83(2) और 172(1) के तहत लोकसभा और विधानसभाओं का कार्यकाल उनकी पहली बैठक से 5 वर्ष तय किया गया है, जब तक कि वे पहले भंग न हो जाएं।

जन प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 (RPA Act 1951): इस अधिनियम की धारा 14 और 15 चुनाव आयोग को सदन की अवधि समाप्त होने से 6 महीने पहले चुनाव अधिसूचना जारी करने का अधिकार देती हैं।

आदर्श आचार संहिता (Model Code of Conduct - MCC): वर्तमान प्रणाली में सबसे बड़ी चुनौती MCC का बार-बार लागू होना है। जब भी किसी राज्य में चुनाव होते हैं, वहां नई कल्याणकारी योजनाओं की घोषणाओं पर रोक लग जाती है। चूंकि भारत में औसतन हर साल 5-7 राज्यों में चुनाव होते हैं, इसलिए सरकार का कामकाज रुक-रुक कर चलता है।

सुरक्षा बलों की तैनाती: केंद्रीय सशस्त्र पुलिस बलों (CAPF) को बार-बार एक राज्य से दूसरे राज्य में चुनाव ड्यूटी के लिए भेजा जाता है, जिससे उनकी परिचालन क्षमता और विश्राम चक्र प्रभावित होता है।

5. Comparative Study with Other Countries

कई लोकतांत्रिक देशों ने एक साथ चुनाव या निश्चित कार्यकाल की प्रणाली को सफलतापूर्वक अपनाया है। भारत के लिए ये मॉडल महत्वपूर्ण केस स्टडी हैं:

दक्षिण अफ्रीका (South Africa): यहां राष्ट्रीय संसद और प्रांतीय विधानसभाओं के चुनाव एक साथ, हर 5 साल में होते हैं। स्थानीय निकाय चुनाव (म्युनिसिपल इलेक्शन) अलग से 2 साल बाद होते हैं। यह मॉडल भारत के लिए प्रासंगिक है क्योंकि दक्षिण अफ्रीका भी एक विविधतापूर्ण देश है।

स्वीडन (Sweden): स्वीडन में 'रिस्कडैग' (संसद), काउंटी काउंसिल (क्षेत्रीय) और म्युनिसिपल काउंसिल (स्थानीय) के चुनाव एक ही दिन, हर चार साल में सितंबर के दूसरे रविवार को होते हैं। यह पूर्णतः एकीकृत मॉडल है।

जर्मनी (Germany): यहां 'रचनात्मक अविश्वास प्रस्ताव' (Constructive Vote of No Confidence) की व्यवस्था है। अनुच्छेद 67 के तहत, संसद चांसलर (PM) को तब तक नहीं हटा सकती जब तक कि वे उसी समय एक नया उत्तराधिकारी

नहीं चुन लेते। यह सरकार गिरने और मध्यावधि चुनावों की संभावना को समाप्त करता है, जो ONOE की सफलता के लिए एक अनिवार्य शर्त है।

बेल्जियम (Belgium): यहां भी संघीय संसद और यूरोपीय संसद के चुनाव एक साथ होते हैं, जो संसाधनों की बचत का एक उदाहरण है।

यूनाइटेड किंगडम (UK): यद्यपि 2022 में निरस्त कर दिया गया, परंतु 'फिक्स्ड टर्म पार्लियामेंट एक्ट 2011' ने चुनावों के लिए एक निश्चित तिथि निर्धारित करने का प्रयास किया था, जिससे अनिश्चितता समाप्त हो सके।

5.1 चुनावी व्यय और काले धन का विश्लेषणात्मक अध्ययन

भारतीय चुनावों में होने वाला व्यय पिछले सात दशकों में केवल बढ़ा नहीं है, बल्कि इसने एक खगोलीय (astronomical) रूप ले लिया है, जो देश की अर्थव्यवस्था पर एक बड़ा अदृश्य बोझ है। सेंटर फॉर मीडिया स्टडीज (CMS) और भारत निर्वाचन आयोग (ECI) के आधिकारिक और अनुमानित आंकड़े इस बात की पुष्टि करते हैं कि भारत के चुनाव अब दुनिया के सबसे महंगे चुनाव बन गए हैं।

चुनावी खर्च में बेतहाशा वृद्धि:

वर्ष 1952 के प्रथम आम चुनाव में जहां कुल चुनावी खर्च मात्र ₹10.5 करोड़ था, वहीं 2024 के लोकसभा चुनावों में यह खर्च बढ़कर अनुमानतः ₹1.35 लाख करोड़ तक पहुंच गया है। सीएमएस (CMS) की रिपोर्ट (2024) के अनुसार, यह अमेरिकी राष्ट्रपति चुनावों के खर्च (लगभग ₹1.2 लाख करोड़) से भी अधिक है। 2019 में यह खर्च लगभग ₹60,000 करोड़ था, जो मात्र पांच वर्षों में दोगुना हो गया। यह वृद्धि केवल आधिकारिक सरकारी खर्च नहीं है, बल्कि इसमें राजनीतिक दलों द्वारा प्रचार, रैलियों और लॉजिस्टिक्स पर किया गया भारी-भरकम व्यय शामिल है। प्रति मतदाता खर्च (Cost Per Voter), जो 1952 में 60 पैसे से भी कम था, 2024 में बढ़कर लगभग ₹1,400 तक पहुंचने का अनुमान है।

भ्रष्टाचार और काले धन का प्रवाह:

चुनावी भ्रष्टाचार को मापने का सबसे सटीक पैमाना चुनाव आयोग द्वारा की जाने वाली जप्ती (Seizures) है। 'नोट के बदले वोट' (Note for Vote) की संस्कृति ने लोकतंत्र की जड़ों को कमजोर किया है। निर्वाचन आयोग के आंकड़ों के अनुसार, 2019 के चुनावों में कुल ₹3,475 करोड़ की नकदी, शराब और ड्रग्स जब्त किए गए थे। इसके विपरीत, 2024 के चुनावों में यह आंकड़ा 185% से अधिक बढ़कर लगभग ₹10,000 करोड़ (₹8,889 करोड़ मई 2024 तक) के रिकॉर्ड स्तर पर पहुंच गया। इसमें 45% हिस्सेदारी नशीले पदार्थों (Drugs) की थी। यह भारी जप्ती यह सिद्ध करती है कि बार-बार होने वाले चुनावों में काले धन (Black Money) का प्रयोग किस स्तर पर होता है। यदि 'एक राष्ट्र, एक चुनाव' लागू होता है, तो इस काले धन के प्रवाह को हर साल के बजाय पांच साल में एक बार तक सीमित किया जा सकता है।

चुनावी व्यय और काले धन का विश्लेषणात्मक अध्ययन (परिवर्तित पैराग्राफ रूप)

भारतीय चुनावों में होने वाला व्यय पिछले सात दशकों में केवल बढ़ा नहीं है, बल्कि इसने एक खगोलीय रूप ले लिया है, जो देश की अर्थव्यवस्था पर एक बड़ा अदृश्य बोझ है। सेंटर फॉर मीडिया स्टडीज (CMS) और भारत निर्वाचन आयोग (ECI) के आधिकारिक आंकड़ों के अनुसार, वर्ष 1952 के प्रथम आम चुनाव में कुल चुनावी खर्च मात्र ₹10.5 करोड़ था, जो 2014 में बढ़कर लगभग ₹30,000 करोड़, 2019 में ₹60,000 करोड़ और 2024 के लोकसभा चुनावों में अनुमानतः ₹1.35 लाख करोड़ तक पहुंच गया। प्रति मतदाता खर्च की बात करें तो 1952 में यह मात्र 60 पैसे था, जो 2019 में लगभग ₹700 और 2024 में ₹1,400 के आसपास अनुमानित है।

चुनावी भ्रष्टाचार को मापने का सबसे सटीक पैमाना चुनाव आयोग द्वारा की जाने वाली जप्ती है, जो 'नोट के बदले वोट' की संस्कृति को उजागर करती है। निर्वाचन आयोग के आंकड़ों से पता चलता है कि 2014 में कुल ₹1,200 करोड़, 2019 में ₹3,475 करोड़ और 2024 में रिकॉर्ड ₹10,000 करोड़ (मई 2024 तक ₹8,889 करोड़) की नकदी, शराब और ड्रग्स की जप्ती हुई, जिसमें नशीले पदार्थों की हिस्सेदारी 45% थी। यह भारी वृद्धि दर्शाती है कि बार-बार होने वाले चुनाव काले धन के प्रवाह को बढ़ावा देते हैं। यदि 'एक राष्ट्र, एक चुनाव' लागू होता है, तो यह व्यय और भ्रष्टाचार को पांच वर्ष में एक बार तक सीमित कर सकता है, जिससे आर्थिक बचत और शासन की दक्षता बढ़ेगी।

6. Need and Benefits of One Nation One Election

राम नाथ कोविंद समिति और विभिन्न आयोगों ने ONOE के पक्ष में निम्नलिखित ठोस तर्क दिए हैं:

आर्थिक बचत (Cost Efficiency): 2019 के लोकसभा चुनावों में लगभग ₹60,000 करोड़ (सरकारी और राजनीतिक दलों का मिलाकर) खर्च होने का अनुमान था। एक साथ चुनाव कराने से लॉजिस्टिक्स, सुरक्षा और प्रचार के दोहरे खर्च में भारी कमी आएगी।

नीतिगत लकवा से मुक्ति (Avoidance of Policy Paralysis): बार-बार आचार संहिता (MCC) लागू होने से विकास कार्य ठप नहीं होंगे। सरकारें चुनाव प्रबंधन के बजाय 5 साल तक निरंतर शासन (Governance) पर ध्यान केंद्रित कर सकेंगी।

प्रशासनिक दक्षता: शिक्षकों, सरकारी कर्मचारियों और सुरक्षा बलों को बार-बार चुनाव ड्यूटी में नहीं लगाना पड़ेगा, जिससे शिक्षा और आंतरिक सुरक्षा जैसे उनके मूल कार्य प्रभावित नहीं होंगे।

सामाजिक समरसता: चुनाव अक्सर जाति और धर्म आधारित ध्रुवीकरण को बढ़ावा देते हैं। बार-बार चुनाव होने से यह तनाव वर्ष भर बना रहता है। एक बार चुनाव होने से सामाजिक ताने-बाने को बार-बार क्षति नहीं पहुंचेगी।

मतदान प्रतिशत में वृद्धि: विधि आयोग का मानना है कि यदि सभी चुनाव एक साथ हों, तो मतदाता की भागीदारी बढ़ती है क्योंकि उसे बार-बार मतदान केंद्रों पर नहीं जाना पड़ता।

निष्कर्ष:

एक राष्ट्र, एक चुनाव (ONOE) भारतीय लोकतंत्र के लिए केवल एक प्रक्रियात्मक बदलाव नहीं, बल्कि एक संरचनात्मक क्रांति है जो देश की शासन व्यवस्था को आधुनिक, दक्ष और किफायती बनाने का वादा करता है। 1952 से 2024 तक ₹10.5 करोड़ से ₹1.35 लाख करोड़ तक चुनावी खर्च की 13,000 गुना वृद्धि, 2024 में ₹10,000 करोड़ की रिकॉर्ड जप्ती और हर साल 5-7 राज्यों में लगने वाली आदर्श आचार संहिता यह स्पष्ट करती है कि वर्तमान असमकालिक प्रणाली आर्थिक बोझ, काले धन के प्रवाह और नीतिगत लकवा को असहनीय स्तर पर पहुंचा चुकी है। यद्यपि आलोचक इसे संघीय ढांचे के विरुद्ध बताते हैं और तर्क देते हैं कि राष्ट्रीय मुद्दे क्षेत्रीय मुद्दों पर हावी हो सकते हैं तथा क्षेत्रीय दल हाशिए पर धकेल दिए जाएंगे, परंतु ऐतिहासिक साक्ष्य (1952-1967 का सफल एक साथ चुनाव दौर, जब 4 बार निर्बाध चक्र चला), वैश्विक उदाहरण (स्वीडन की एकीकृत चुनाव प्रणाली, दक्षिण अफ्रीका का प्रांतीय मॉडल, जर्मनी का स्थिर कार्यकाल) और राम नाथ कोविंद समिति (2024) की 18,626 पृष्ठों की विस्तृत रिपोर्ट बताते हैं कि स्थिर कार्यकाल सुशासन, विकास कार्यों की निरंतरता और सामाजिक समरसता के लिए अनिवार्य है। यह सुधार न केवल ₹60,000-1.35 लाख करोड़ की वार्षिक बचत सुनिश्चित करेगा, बल्कि CAPF की तैनाती में कमी, शिक्षकों/कर्मचारियों की चुनाव ड्यूटी से मुक्ति, मतदान प्रतिशत में

वृद्धि (एक ही दिन में केंद्र-राज्य मतदान) और जाति-धर्म आधारित ध्रुवीकरण से मुक्ति दिलाएगा। अंततः, ONOE भारत को 'परमानेंट इलेक्शन मोड' से 'परमानेंट गवर्नेंस मोड' में बदल देगा।

सुझाव:

1. चरणबद्ध कार्यान्वयन (Phased Implementation): इसे एकदम से लागू करने के बजाय राम नाथ कोविंद समिति के मॉडल के अनुसार दो चरणों में लागू किया जाए— पहले चरण (Phase-I, 2029 से): लोकसभा और सभी राज्य विधानसभाओं के चुनाव एक साथ; दूसरे चरण (Phase-II, 100 दिनों के भीतर): स्थानीय निकाय (पंचायत/नगर निगम) चुनाव। इससे प्रणाली में धीरे-धीरे समायोजन होगा और 2024 के संविधान संशोधन विधेयक (129वां) के बाद 2029 चुनाव चक्र से पूर्ण कार्यान्वयन संभव है।

2. संवैधानिक सुरक्षा तंत्र (Constitutional Safeguards): 'रचनात्मक अविश्वास प्रस्ताव' (Constructive Vote of No Confidence) जैसी जर्मनी-प्रेरित व्यवस्था को अनुच्छेद 75(3)/164(2) में जोड़ना अनिवार्य है, जिसमें सरकार गिराने के लिए एक साथ नया बहुमत प्रस्तुत करना होगा। साथ ही, अनुच्छेद 82A/83(5) के माध्यम से 'शेष अवधि' (Unexpired

Term) अवधारणा लागू हो ताकि त्रिशंकु विधानसभा या अनुच्छेद 356 के दुरुपयोग से चुनाव चक्र न टूटे। एकल मतदाता सूची (Single Electoral Roll) के लिए अनुच्छेद 325 में संशोधन आवश्यक।

3. राजनीतिक आम सहमति निर्माण (Political Consensus Building): चूंकि संविधान संशोधन के लिए दो-तिहाई बहुमत चाहिए, केंद्र सरकार 'अंतर-राज्य परिषद' (Inter-State Council, अनुच्छेद 263) के माध्यम से सभी क्षेत्रीय दलों (TMC, DMK, SP आदि), राज्यों और विपक्ष को विश्वास में ले। एक 'संसदीय विशेष समिति' (JPC) गठित कर 6 महीने में सर्वसम्मति रिपोर्ट तैयार करें, जिसमें क्षेत्रीय मुद्दों की स्वतंत्रता सुनिश्चित हो।

4. जन जागरूकता और तकनीकी तैयारी (Public Awareness & Tech Readiness): निर्वाचन आयोग द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर 'SVEEP' (Systematic Voters' Education) अभियान चलाएं, जिसमें केंद्र-राज्य मुद्दों में भेद, एकल मतदाता सूची के लाभ और EVM-VVPAT की पारदर्शिता पर 6 महीने का डिजिटल/टीवी/रेडियो कैंपेन हो। साथ ही, ECI को ब्लॉकचेन-आधारित मतदाता सूची और AI-सहायता प्राप्त व्यय निगरानी सिस्टम विकसित करने हेतु ₹500 करोड़ का बजट आवंटित करें।

References

1. Report of the High-Level Committee on Simultaneous Elections (2024). One Nation, One Election. Chairmanship of Shri Ram Nath Kovind. New Delhi: Government of India.

2. Law Commission of India (1999). 170th Report on Reform of the Electoral Laws. New Delhi: Ministry of Law and Justice.

3. NITI Aayog (2017). Analysis of Simultaneous Elections: The "What", "Why" and "How". Bibek Debroy & Kishore Desai.

4. Parliamentary Standing Committee on Personnel, Public Grievances, Law and Justice (2015). 79th Report on Feasibility of Holding Simultaneous Elections to the House of People (Lok Sabha) and State Legislative Assemblies.

5. Constitution of India. (1950). Articles 83, 85, 172, 174, 324, and 356. Government of India.

6. Representation of the People Act. (1951). Sections 14 and 15. Government of India.

7. Desai, K. (2018). Simultaneous Elections: A Constitutional Analysis. Journal of Constitutional Law, Vol 4, Issue 2.

8. International IDEA (2023). Electoral System Design: The New International IDEA Handbook. (Referenced for South Africa and Sweden case studies).

9. Basic Law for the Federal Republic of Germany. Article 67 (Constructive Vote of No Confidence).

Received: 19.01.2026 | Accepted: 22.01.2026 | Published: 30.01.2026

Indian Knowledge System in Relation to Buddhism during the Mauryan Period

DR. VISHVA DUTT[*]
dutt.vishva@gmail.com

SHEKHAR CHANDRA[†]
shekharchandra717@gmail.com

ABSTRACT:-

The Mauryan period (322–185 BCE) represents a transformative phase in the evolution of the Indian Knowledge System, particularly through the profound influence of Buddhism. Originating from the teachings of Gautama Buddha, Buddhism emphasized rational inquiry, ethical living, and experiential knowledge over ritualism, thereby reshaping intellectual traditions in ancient India. Its core doctrines—such as the Four Noble Truths, the Eightfold Path, the concept of impermanence (anicca), non-self (anatta), and non-violence (ahimsa)—formed the philosophical foundation of a knowledge system that integrated morality, psychology, and metaphysics.

Under the patronage of Ashoka, Buddhism became a central pillar of state ideology and public life. Ashoka's policy of Dhamma reflected a synthesis of ethical governance, social responsibility, and spiritual values. His inscriptions (rock and pillar edicts) served as innovative mediums of knowledge dissemination, communicating moral principles, administrative policies, and public welfare measures to a diverse population. This marked an early use of written communication for mass education and governance.

The Mauryan period also witnessed the institutionalization of knowledge through Buddhist monastic establishments (viharas) and early universities, which functioned as hubs of learning, debate, and manuscript preservation. These institutions promoted interdisciplinary studies, including philosophy, logic, medicine, linguistics, and ethics. The compilation and codification of Buddhist texts in the Tripitaka during Buddhist councils ensured systematic preservation and transmission of knowledge across generations.

[*] **Assistant Professor, Department of Buddhist studies, University of Delhi**

[†] **Research Scholar, Department of Buddhist studies, University of Delhi**

Moreover, the Mauryan era facilitated the globalization of Indian knowledge systems. Missionary activities, supported by Ashoka, led to the spread of Buddhism to regions such as Sri Lanka, Central Asia, Southeast Asia, and beyond. This exchange fostered cross-cultural dialogue and the integration of Indian philosophical thought into other civilizations.

In addition, Buddhism contributed to the development of critical thinking and empirical observation within the Indian Knowledge System. It encouraged questioning, debate, and personal verification of truths rather than blind adherence to authority. This intellectual openness influenced later philosophical schools and educational traditions in India.

Keywords:-

Indian Knowledge System, Buddhism, Mauryan Period, Gautama Buddha, Ashoka, Dhamma, Four Noble Truths, Eightfold Path, Tripitaka, Viharas, Buddhist Councils, Ahimsa, Education System, Knowledge Transmission.

Introduction:-

The Indian Knowledge System (IKS) represents a vast and diverse body of intellectual traditions that developed in ancient India, encompassing philosophy, science, education, ethics, and spirituality. During the Mauryan Period, this knowledge system experienced significant growth and transformation, particularly under the influence of Buddhism.

The Mauryan Empire, founded by Chandragupta Maurya and reaching its peak under Ashoka, played a crucial role in shaping the intellectual and cultural landscape of ancient India. Buddhism, founded by Gautama Buddha, became a major philosophical and ethical force during this time.

Under Ashoka's patronage, Buddhist principles such as *Dhamma* (moral law), non-violence (*Ahimsa*), compassion, and ethical governance were actively promoted. These ideas were disseminated through inscriptions, stupas, monasteries, and educational centers, contributing significantly to the Indian Knowledge System. Institutions like monastic universities became centers of learning where philosophy, logic, medicine, and linguistics were taught and preserved.

Buddhism also influenced the evolution of knowledge by encouraging rational inquiry, debate, and empirical understanding rather than blind ritualism. The Mauryan state supported the spread of knowledge not only within India but also beyond, as Buddhist missionaries were sent to regions like Sri Lanka and Central Asia.

Thus, during the Mauryan Period, the Indian Knowledge System was enriched by Buddhist thought, which emphasized ethical living, intellectual exploration, and the dissemination of knowledge for the welfare of society.

Indian Knowledge System during the Mauryan Period:-

The Indian Knowledge System (IKS) during the Mauryan Period represents a critical phase in the intellectual history of South Asia, marked by the interaction between state power, ethical philosophy, and institutionalized learning. The emergence and consolidation of Buddhism within

this period significantly contributed to the restructuring and expansion of knowledge traditions in ancient India.

The Mauryan Empire, founded by Chandragupta Maurya, and later governed by Bindusara and Ashoka, provided a centralized political framework that facilitated the dissemination of philosophical and ethical systems. Among these, Buddhism—originating from the teachings of Gautama Buddha—emerged as a dominant intellectual and cultural force. the Mauryan period reflects a transition from predominantly Vedic and ritual-centric knowledge systems to more heterodox, rational, and ethical frameworks. Buddhism played a pivotal role in this transformation by emphasizing *pramāṇa* (means of knowledge), empirical observation, and critical inquiry. The Buddhist epistemological orientation encouraged dialogical methods, debate (*vāda*), and scholastic analysis, which enriched the broader Indian intellectual tradition.

A key feature of the Indian Knowledge System during this time was the institutionalization of learning through monastic establishments (*vihāras*). These centers functioned not only as religious spaces but also as hubs of multidisciplinary education, where subjects such as logic (*hetuvidyā*), medicine (*āyurveda*), grammar, and metaphysics were systematically studied. The integration of ethical instruction with intellectual training reflected the Buddhist ideal of knowledge as a means toward liberation (*nirvāṇa*) and social harmony.

The reign of Ashoka is particularly significant in understanding the synthesis of Buddhism with governance and knowledge systems. Through his edicts—inscribed across the subcontinent—Ashoka articulated a moral and administrative philosophy grounded in *Dhamma*. These inscriptions serve as primary historical sources, revealing an early form of state-sponsored ethical pedagogy. Ashoka's patronage extended to the organization of the Third Buddhist Council, which aimed at codifying doctrinal orthodoxy and promoting intellectual clarity within the Buddhist community.

Intellectual Context of the Mauryan Period:-

The Mauryan Period represents a formative phase in the evolution of the Indian Knowledge System (IKS), characterized by dynamic interactions between political authority and diverse philosophical traditions. The consolidation of imperial power under Chandragupta Maurya and its expansion under Ashoka created conditions conducive to intellectual exchange and institutional development.

During this period, knowledge production was no longer confined to Brahmanical orthodoxy but became increasingly pluralistic. The coexistence of Brahmanical, Jain, and Buddhist traditions fostered a vibrant culture of debate and inquiry, significantly shaping the trajectory of Indian intellectual history.

Buddhism and the Transformation of Epistemological Foundations:-

The teachings of Gautama Buddha introduced a critical reorientation in the epistemological foundations of IKS. Rejecting the primacy of Vedic ritualism, Buddhism emphasized empirical observation, rational inquiry, and ethical reasoning as valid means of knowledge.

Central to Buddhist thought were doctrines such as *pratītyasamutpāda* (dependent origination), *anitya* (impermanence), and *anātman* (non-self), which encouraged analytical and causal modes of thinking. These principles contributed to the development of a rational and experience-based knowledge system that challenged metaphysical absolutism.

Moreover, the dialogical tradition of debate (*vāda*) promoted intellectual rigor and critical engagement, thereby enriching the broader philosophical discourse within IKS.

Institutionalization of Knowledge: Monastic Centers and Education:-

A significant development during the Mauryan period was the institutionalization of knowledge through Buddhist monastic establishments (*vihāras*). These centers functioned as organized spaces for learning, preservation, and dissemination of knowledge.

Monastic education was interdisciplinary in nature, encompassing:

- Logic (*hetuvidyā*)
- Medicine (*āyurveda*)
- Linguistics and grammar
- Ethics and metaphysics

These institutions played a crucial role in systematizing knowledge and ensuring its transmission across generations. The integration of ethical training with intellectual pursuits reflected the Buddhist view that knowledge must serve both personal enlightenment and social welfare.

Ethical Dimensions of Knowledge in Buddhism:-

Buddhism fundamentally redefined the purpose of knowledge within IKS by integrating it with ethical practice. Knowledge was not regarded as an end in itself but as a means to achieve liberation (*nirvāṇa*) and promote social harmony.

The threefold path of:

- Moral conduct (*śīla*)
- Mental discipline (*samādhi*)
- Wisdom (*prajñā*)

illustrates the holistic nature of Buddhist knowledge systems. This ethical orientation distinguished Buddhist epistemology from other traditions that prioritized ritual or metaphysical speculation.

State Patronage and the Role of Ashoka:-

The reign of Ashoka (c. 268–232 BCE) represents a निर्णायक (decisive) phase in the development of the Indian Knowledge System (IKS), particularly in its interaction with Buddhism. His policies transformed Buddhism from a regional philosophical tradition into a state-supported ethical and intellectual framework, thereby redefining the nature, dissemination, and purpose of knowledge in ancient India.

1. Ethical Reorientation of Knowledge: The Concept of Dhamma

One of Ashoka's most significant contributions was the formulation and propagation of *Dhamma*, an ethical code rooted in Buddhist principles yet universal in its application. Unlike doctrinal Buddhism, Ashoka's Dhamma emphasized:

- Non-violence (*ahimsa*)
- Compassion and tolerance
- Respect for elders and teachers
- Welfare of all beings

Through this framework, knowledge was no longer confined to metaphysical speculation or ritual practice but was redefined as **ethical and practical guidance for everyday life**. As noted by Romila Thapar, Ashoka's Dhamma functioned as a "moral law for social harmony," integrating knowledge with governance.

2. Ashokan Edicts as Instruments of Public Knowledge

Ashoka pioneered the use of inscriptions (Rock and Pillar Edicts) as a medium for disseminating knowledge across the empire. These edicts:

- Represent the **earliest extensive written records** in Indian history
- Were composed in Prakrit and local languages for accessibility
- Communicated ethical, administrative, and social ideals
  The edicts served as tools of **state-sponsored pedagogy**, making knowledge accessible to a wider population beyond elite scholarly circles. According to Upinder Singh, these inscriptions reflect an early model of "communication between ruler and subjects based on moral instruction."

3. Patronage of Buddhist Institutions and Education

Ashoka played a crucial role in the institutional expansion of Buddhism, which directly influenced the Indian Knowledge System. His patronage included:

- Construction of stupas and monasteries (*vihāras*)
- Support for monastic communities (*Sangha*)
- Encouragement of organized learning and teaching
  These institutions functioned as centers for:
- Philosophical discourse
- Preservation of texts
- Training of scholars and monks
  Thus, Ashoka contributed to the **institutionalization of knowledge**, ensuring its continuity and systematic transmission.

4. The Third Buddhist Council and Intellectual Standardization

The convening of the Third Buddhist Council at Pataliputra under Ashoka's patronage was a landmark event in the intellectual history of Buddhism.

Its key objectives included:

- Codification of Buddhist teachings
- Elimination of doctrinal disputes
- Establishment of orthodoxy within the Sangha

This reflects an early attempt at **knowledge regulation and standardization**, ensuring intellectual coherence within the tradition.

Conclusion :-

The Indian Knowledge System (IKS) during the Mauryan Period underwent a profound transformation under the influence of Buddhism, particularly during the reign of Ashoka. This period marked a decisive shift from ritual-centered knowledge rooted in Brahmanical traditions to a more ethical, rational, and socially accessible framework of knowledge.

Ashoka's role was central in this transformation. Through the propagation of *Dhamma*, he redefined knowledge as a tool for moral governance and social welfare rather than mere intellectual or ritual pursuit. His inscriptions (edicts), issued across the empire, represent one of the earliest examples of state-sponsored dissemination of ethical knowledge, addressing a wide and diverse audience. These edicts emphasized values such as non-violence, tolerance, compassion, and respect for all sects, thereby contributing to the democratization of knowledge.

Furthermore, the institutional support extended to Buddhist monastic establishments facilitated the organization, preservation, and transmission of knowledge across generations. The convening of the Third Buddhist Council contributed to the standardization of Buddhist doctrine, reinforcing intellectual discipline within the tradition.

The Mauryan period also marked the beginning of the globalization of Indian knowledge, as Buddhist missions carried philosophical, ethical, and scientific ideas beyond the subcontinent. At the same time, the coexistence of multiple traditions ensured that the Indian Knowledge System remained pluralistic and dynamic.

In conclusion, the interaction between Buddhism and the Mauryan state—particularly under Ashoka—transformed IKS into an ethical, institutionalized, and globally influential system of knowledge, laying the foundation for subsequent intellectual developments in Indian civilization.

References:-

Primary sources:-

1. Ashokan Inscriptions (Edicts)
2. Buddhist Canonical Texts (Tripiṭaka / Tipiṭaka)
3. Arthashastra
4. Early Buddhist Chronicles
5. Divyavamsa

Secondary sources:-

1. 1.Altekar, A. S. (1954). Education in ancient India. Nand Kishore & Bros.
2. 2.Basham, A. L. (1954). The wonder that was India. Sidgwick & Jackson.
3. 3.Gombrich, R. (2006). Theravāda Buddhism: A social history from ancient Benares to modern Colombo. Routledge.
4. 4.Hirakawa, A. (1990). A history of Indian Buddhism: From Śākyamuni to early Mahāyāna. University of Hawaii Press.
5. 5.Radhakrishnan, S. (1996). Indian philosophy (Vol. 1). Oxford University Press.
6. 6.Thapar, R. (2002). Aśoka and the decline of the Mauryas (Rev. ed.). Oxford University Press.
7. 7.Upinder Singh. (2008). A history of ancient and early medieval India. Pearson Education.
8. 8.Warder, A. K. (2000). Indian Buddhism. Motilal Banarsidass.
9. R. S. Sharma. *India's Ancient Past*. New Delhi: Oxford University Press, 2005.
10. D. D. Kosambi. *An Introduction to the Study of Indian History*. Mumbai: Popular Prakashan, 1956.
11. A. L. Basham. *The Wonder That Was India*. London: Sidgwick & Jackson, 1954.
12. Etienne Lamotte. *History of Indian Buddhism: From the Origins to the Śaka Era*. Louvain: Université Catholique de Louvain, 1988.
13. Bimal Krishna Matilal. *Perception: An Essay on Classical Indian Theories of Knowledge*. Oxford: Clarendon Press, 1986.
14. Hultzsch, Eugen. *Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. I: Inscriptions of Asoka*. Oxford: Clarendon Press, 1925.
15. N. A. Nikam and Richard McKeon. *The Edicts of Asoka*. Chicago: University of Chicago Press, 1959.
16. Lahiri, Nayanjot. *Ashoka in Ancient India*. Cambridge, MA: Harvard University Press, 2015.

Received: 20.01.2026 | Accepted: 22.01.2026 | Published: 30.01.2026

भिलाई और दुर्ग के औद्योगिक श्रमिकों में वित्तीय साक्षरता का आर्थिक सशक्तिकरण पर प्रभाव

डॉ. शैमीना परवीन*

shashank.rao1993@gmail.com

सारांश

यह अध्ययन भिलाई और दुर्ग के औद्योगिक क्षेत्रों के श्रमिकों में वित्तीय साक्षरता और उसके आर्थिक सशक्तिकरण पर प्रभाव का विश्लेषण करता है। अध्ययन में यह देखा गया कि वित्तीय साक्षरता श्रमिकों की आय, बचत, निवेश और जीवनस्तर में सुधार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इस शोध में द्वितीयक डेटा रिपोर्ट और प्राथमिक सर्वेक्षण का उपयोग किया गया है। परिणाम से यह पता चलता है कि वित्तीय जागरूकता और प्रशिक्षण से औद्योगिक श्रमिकों का आर्थिक निर्णय लेने की क्षमता और जीवन स्तर में सुधार होता है।

मुख्य शब्द –

वित्तीय साक्षरता, आर्थिक सशक्तिकरण, औद्योगिक श्रमिक।

प्रस्तावना

वर्तमान समय में वित्तीय साक्षरता आर्थिक विकास और सामाजिक सशक्तिकरण का एक महत्वपूर्ण आधार बन चुकी है। यह केवल आय अर्जित करने तक सीमित नहीं है, बल्कि आय के उचित प्रबंधन, बचत, निवेश, ऋण प्रबंधन और भविष्य की आर्थिक सुरक्षा से भी जुड़ी होती है। विशेष रूप से औद्योगिक क्षेत्रों में कार्यरत श्रमिक वर्ग के लिए वित्तीय साक्षरता अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि यह उनके दैनिक जीवन के आर्थिक निर्णयों को सीधे प्रभावित करती है। भिलाई और दुर्ग, छत्तीसगढ़ के प्रमुख औद्योगिक केंद्र हैं, जहाँ बड़ी संख्या में श्रमिक विभिन्न उद्योगों में कार्यरत हैं। इन श्रमिकों की आय का स्तर सीमित होने के बावजूद, उनके सामने आर्थिक प्रबंधन की अनेक चुनौतियाँ होती हैं, जैसे-अपर्याप्त बचत, ऋण का अनुचित उपयोग, निवेश के प्रति जागरूकता की कमी तथा वित्तीय संस्थाओं तक सीमित पहुँच। इन समस्याओं का मुख्य कारण वित्तीय साक्षरता का अभाव है। वित्तीय साक्षरता की कमी के कारण श्रमिक अक्सर अपने संसाधनों का प्रभावी उपयोग नहीं कर पाते, जिससे उनके जीवन स्तर में अपेक्षित सुधार नहीं हो पाता। इसके विपरीत, जिन श्रमिकों को वित्तीय शिक्षा और जानकारी प्राप्त होती है, वे अपनी आय का बेहतर प्रबंधन करते हैं, नियमित बचत करते हैं, उचित निवेश विकल्पों का चयन करते हैं तथा आर्थिक जोखिमों से स्वयं को सुरक्षित रखते हैं। आज के डिजिटल युग में, जब बैंकिंग सेवाएँ, डिजिटल भुगतान प्रणाली (UPI), बीमा योजनाएँ और विभिन्न निवेश विकल्प आसानी से उपलब्ध हैं, तब भी श्रमिक वर्ग का एक बड़ा हिस्सा इन सुविधाओं का पूर्ण लाभ नहीं उठा पा रहा है। यह स्थिति न केवल उनके व्यक्तिगत आर्थिक विकास को प्रभावित करती है, बल्कि समग्र आर्थिक विकास में भी बाधा उत्पन्न करती है। इस संदर्भ में यह अध्ययन अत्यंत प्रासंगिक हो जाता है, क्योंकि इसका उद्देश्य भिलाई और दुर्ग के औद्योगिक श्रमिकों में वित्तीय साक्षरता के स्तर का आकलन करना तथा यह विश्लेषण करना है कि यह उनके आर्थिक सशक्तिकरण को किस प्रकार प्रभावित करती है। यह शोध न केवल श्रमिकों की वर्तमान आर्थिक स्थिति को समझने में सहायक होगा, बल्कि नीति-निर्माताओं, औद्योगिक संगठनों और वित्तीय संस्थानों को भी प्रभावी योजनाएँ बनाने में मार्गदर्शन प्रदान करेगा। अतः यह कहा जा सकता है कि वित्तीय साक्षरता केवल एक ज्ञान का विषय नहीं है,

* **सहायक प्राध्यापक अर्थशास्त्र, नवीन शासकीय महाविघालय नगपुरा जिला दुर्ग (छ.ग)**

बल्कि यह आर्थिक आत्मनिर्भरता और सशक्तिकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण साधन है, विशेषकर औद्योगिक श्रमिकों के लिए।

साहित्य समीक्षा

1. "Annamaria Lusardi (2008)" के अध्ययन में यह पाया गया कि वित्तीय साक्षरता व्यक्तियों की बचत, निवेश और सेवानिवृत्ति योजना बनाने की क्षमता को सीधे प्रभावित करती है। उनके शोध के अनुसार, जिन व्यक्तियों को वित्तीय ज्ञान अधिक होता है, वे आर्थिक रूप से अधिक सुरक्षित और सशक्त होते हैं।

2. "Olivia Mitchell (2011)" के अध्ययन में यह निष्कर्ष निकाला गया कि वित्तीय शिक्षा कार्यक्रमों से श्रमिकों की आर्थिक निर्णय लेने की क्षमता में सुधार होता है। उनके अनुसार, वित्तीय साक्षरता श्रमिकों के जीवन स्तर और आर्थिक स्थिरता को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

उद्देश्य

1. भिलाई और दुर्ग के औद्योगिक श्रमिकों में वित्तीय साक्षरता का स्तर मापना।

2. यह अध्ययन करना कि वित्तीय साक्षरता उनके आर्थिक सशक्तिकरण पर कितना प्रभाव डालती है।

3. प्राथमिक और द्वितीयक आंकड़ों के आधार पर आर्थिक निर्णय क्षमता और जीवन स्तर का विश्लेषण करना।

परिकल्पना

H_0 औद्योगिक श्रमिकों की वित्तीय साक्षरता का उनके आर्थिक सशक्तिकरण पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं है।

H_1 औद्योगिक श्रमिकों की वित्तीय साक्षरता उनके आर्थिक सशक्तिकरण में सकारात्मक प्रभाव डालती है।

शोध पद्धति

1. शोध का प्रकार - मिश्रित पद्धति, प्राथमिक और द्वितीयक डेटा।
2. स्थान - भिलाई और दुर्ग औद्योगिक क्षेत्र।
3. उपकरण - सर्वेक्षण प्रश्नावली, साक्षात्कार, सरकारी रिपोर्ट।
4. नमूना आकार - 150 श्रमिक (75 भिलाई, 75 दुर्ग)।
5. डेटा विश्लेषण- प्रतिशत, औसत, ग्राफ और चार्ट।

द्वितीयक आंकड़े एवं विश्लेषण

इस अध्ययन में द्वितीयक आँकड़ों के रूप में विभिन्न सरकारी, राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं की रिपोर्टों, शोध पत्रों तथा सर्वेक्षणों का उपयोग किया गया है, जिससे औद्योगिक श्रमिकों में वित्तीय साक्षरता की स्थिति और उसके आर्थिक प्रभाव का विश्लेषण किया जा सके।

1. राष्ट्रीय स्तर के आँकड़े एवं विश्लेषण

"Reserve Bank of India (RBI) की वित्तीय साक्षरता रिपोर्ट (2022)" के अनुसार भारत में लगभग 27% वयस्क आबादी ही वित्तीय रूप से साक्षर है। यह आँकड़ा दर्शाता है कि अधिकांश श्रमिक वर्ग वित्तीय ज्ञान से वंचित है।

"National Sample Survey Office (NSSO)" के सर्वेक्षणों से यह स्पष्ट होता है कि असंगठित और औद्योगिक श्रमिकों में बचत और निवेश की प्रवृत्ति बहुत कम है तथा वे अधिकतर नकद लेन-देन पर निर्भर रहते हैं।

"Ministry of Labour and Employment (2023)" की रिपोर्ट के अनुसार औद्योगिक क्षेत्रों में कार्यरत लगभग 60 प्रतिशत श्रमिकों को औपचारिक बैंकिंग और बीमा सेवाओं की पूर्ण जानकारी नहीं है, जिसके कारण वे वित्तीय योजनाओं का लाभ नहीं उठा पाते।

2. अंतरराष्ट्रीय स्तर के आँकड़े एवं विश्लेषण

"World Bank (Global Findex Report 2021)" के अनुसार विकासशील देशों में वित्तीय साक्षरता का स्तर निम्न है, विशेष रूप से श्रमिक वर्ग में। हालांकि, डिजिटल बैंकिंग के विस्तार से वित्तीय समावेशन में वृद्धि हुई है, परंतु ज्ञान की कमी अभी भी एक प्रमुख बाधा है।

"Organisation for Economic Co-operation and Development (OECD, 2020)" की रिपोर्ट में यह पाया गया कि वित्तीय शिक्षा कार्यक्रमों में भाग लेने वाले व्यक्तियों की बचत दर और निवेश व्यवहार में 20-30% तक सुधार हुआ।

प्राथमिक आंकड़ों का विश्लेषण

तालिका 1 वित्तीय साक्षरता स्तर एवं आर्थिक स्थिति का संबंध

साक्षरता स्तर	श्रमिक (%)	औसत मासिक आय (₹)	नियमित बचत (%)	निवेश करने वाले (%)
निम्न	48%	12,000	18%	10%
मध्यम	34%	15,500	42%	28%
उच्च	18%	20,000	72%	55%

तालिका 1 के विश्लेषण से यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि वित्तीय साक्षरता का स्तर श्रमिकों की आय, बचत तथा निवेश व्यवहार पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालता है। निम्न साक्षरता वर्ग में श्रमिकों की औसत आय ₹12,000 पाई गई, जो यह संकेत देती है कि वे सीमित संसाधनों के साथ जीवन यापन कर रहे हैं। इसके साथ ही, इस वर्ग में नियमित बचत (18%) और निवेश (10%) का स्तर अत्यंत निम्न है, जिससे उनकी आर्थिक असुरक्षा की स्थिति स्पष्ट होती है। मध्यम साक्षरता स्तर पर पहुँचने पर आय में वृद्धि (₹15,500) के साथ बचत (42%) और निवेश (28%) में भी सुधार देखा गया, जो यह दर्शाता है कि आंशिक वित्तीय ज्ञान भी आर्थिक व्यवहार में सकारात्मक परिवर्तन लाता है। वहीं, उच्च साक्षरता वर्ग में आय ₹20,000 तक पहुँच जाती है तथा नियमित बचत (72%) और निवेश (55%) में उल्लेखनीय वृद्धि होती है। इस प्रकार, यह विश्लेषण दर्शाता है कि वित्तीय साक्षरता केवल आय के उपयोग तक सीमित नहीं है, बल्कि यह आय के बेहतर प्रबंधन, पूंजी निर्माण तथा दीर्घकालिक आर्थिक स्थिरता का आधार बनती है।

तालिका 2 वित्तीय साक्षरता और ऋण व्यवहार

साक्षरता स्तर	बैंक ऋण (%)	निजी स्रोत से ऋण (%)	ऋण जाल में फँसे (%)
निम्न	22%	68%	40%
मध्यम	48%	32%	18%
उच्च	70%	10%	5%

तालिका 2 के अनुसार, वित्तीय साक्षरता का स्तर श्रमिकों के ऋण लेने के स्रोत और जोखिम को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करता है। निम्न साक्षरता वर्ग में निजी स्रोतों से ऋण लेने की प्रवृत्ति (68%) अत्यधिक है, जबकि बैंकिंग संस्थानों से ऋण लेने का प्रतिशत मात्र 22% है। यह स्थिति दर्शाती है कि ऐसे श्रमिक औपचारिक वित्तीय संस्थाओं की प्रक्रियाओं एवं लाभों से अनभिज्ञ रहते हैं, जिसके कारण वे उच्च ब्याज दर वाले अनौपचारिक ऋण पर निर्भर हो जाते हैं। इसके विपरीत, उच्च साक्षरता वर्ग में 70% श्रमिक बैंकिंग संस्थाओं से ऋण लेते हैं तथा केवल 10% ही निजी स्रोतों पर निर्भर रहते हैं। इसके साथ ही, ऋण जाल में फँसने का प्रतिशत निम्न साक्षरता में 40% से घटकर उच्च साक्षरता में मात्र 5% रह जाता है। यह विश्लेषण स्पष्ट करता है कि वित्तीय साक्षरता श्रमिकों को न केवल उचित ऋण स्रोत चुनने में सक्षम बनाती है, बल्कि उन्हें आर्थिक जोखिमों से बचाने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

तालिका 3: वित्तीय प्रशिक्षण और आर्थिक सशक्तिकरण का प्रभाव

सूचक	प्रशिक्षण प्राप्त	प्रशिक्षण नहीं
नियमित बचत	70%	30%
बैंकिंग सेवाओं का उपयोग	75%	45%
निवेश जागरूकता	58%	22%
आर्थिक आत्मनिर्भरता	65%	35%

तालिका 3 के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि वित्तीय प्रशिक्षण श्रमिकों के आर्थिक व्यवहार में संरचनात्मक एवं सकारात्मक परिवर्तन लाता है। प्रशिक्षण प्राप्त श्रमिकों में नियमित बचत करने वालों का प्रतिशत 70% है, जबकि बिना प्रशिक्षण वाले श्रमिकों में यह केवल 30% है। इसी प्रकार, बैंकिंग सेवाओं का उपयोग (75% बनाम 45%) तथा निवेश जागरूकता (58% बनाम 22%) में भी उल्लेखनीय अंतर देखा गया है। विशेष रूप से, आर्थिक आत्मनिर्भरता के संदर्भ में प्रशिक्षण प्राप्त श्रमिकों का प्रतिशत 65% है, जो बिना प्रशिक्षण वाले श्रमिकों (35%) की तुलना में लगभग दोगुना है। यह दर्शाता है कि वित्तीय प्रशिक्षण केवल ज्ञान प्रदान करने का माध्यम नहीं है, बल्कि यह व्यवहारिक परिवर्तन लाकर श्रमिकों को आत्मनिर्भर और सशक्त बनाता है। इस प्रकार, यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि औद्योगिक क्षेत्रों में नियमित वित्तीय प्रशिक्षण कार्यक्रम संचालित किए जाएँ, तो श्रमिकों के आर्थिक सशक्तिकरण में उल्लेखनीय वृद्धि संभव है।

समस्या

भिलाई और दुर्ग के औद्योगिक श्रमिक सीमित वित्तीय जानकारी के कारण सही आर्थिक निर्णय नहीं ले पाते, जिससे उनकी बचत, निवेश और जीवन स्तर प्रभावित होता है। इसके साथ ही निम्नलिखित प्रमुख समस्याएँ भी इस स्थिति को और जटिल बनाती हैं :-

1. वित्तीय साक्षरता का अभाव
2. अनियमित एवं अपर्याप्त बचत
3. निजी ऋण स्रोतों पर निर्भरताः
4. निवेश के प्रति जागरूकता की कमीः
5. डिजिटल वित्तीय सेवाओं का सीमित उपयोग

सुझाव

1. औद्योगिक क्षेत्रों में नियमित वित्तीय शिक्षा और प्रशिक्षण कार्यक्रम।
2. बैंकिंग और निवेश के बारे में जागरूकता अभियान।
3. श्रमिकों के लिए सरल और समझने योग्य वित्तीय गाइडलाइन।
4. सरकारी और निजी संस्थानों के सहयोग से वित्तीय योजनाओं तक आसान पहुँच।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट रूप से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वित्तीय साक्षरता औद्योगिक श्रमिकों के आर्थिक सशक्तिकरण का एक महत्वपूर्ण आधार है। भिलाई एवं दुर्ग जैसे औद्योगिक क्षेत्रों में कार्यरत श्रमिकों के संदर्भ में यह पाया गया कि जिन श्रमिकों में वित्तीय ज्ञान का स्तर अधिक है, वे अपनी आय का बेहतर प्रबंधन करते हैं, नियमित बचत करते हैं तथा सुरक्षित एवं लाभकारी निवेश विकल्पों का चयन करते हैं। इसके विपरीत, वित्तीय साक्षरता के अभाव में श्रमिक अनियोजित व्यय, अपर्याप्त बचत एवं उच्च ब्याज दर वाले ऋण के जाल में फँस जाते हैं, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति कमजोर बनी रहती है। अध्ययन यह भी दर्शाता है कि वित्तीय प्रशिक्षण एवं जागरूकता कार्यक्रम श्रमिकों के आर्थिक व्यवहार में सकारात्मक परिवर्तन लाने में अत्यंत प्रभावी सिद्ध होते हैं। ऐसे कार्यक्रम न केवल श्रमिकों को बैंकिंग एवं निवेश से संबंधित जानकारी प्रदान करते हैं, बल्कि उन्हें आत्मनिर्भर एवं आर्थिक रूप से सशक्त बनने की दिशा में प्रेरित भी करते हैं।

अतः यह कहा जा सकता है कि यदि भिलाई एवं दुर्ग के औद्योगिक क्षेत्रों में संगठित रूप से वित्तीय साक्षरता एवं प्रशिक्षण कार्यक्रमों को लागू किया जाए, तो इससे श्रमिकों के जीवन स्तर, आर्थिक सुरक्षा एवं सामाजिक सशक्तिकरण में उल्लेखनीय सुधार संभव है। इस प्रकार, वित्तीय साक्षरता न केवल व्यक्तिगत आर्थिक विकास का साधन है, बल्कि यह समग्र सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति का एक महत्वपूर्ण कारक भी है।

संदर्भ

1. Reserve Bank of India. (2022). *वित्तीय साक्षरता एवं वित्तीय समावेशन रिपोर्ट*. मुंबई: Author.
2. Ministry of Labour and Employment. (2023). *श्रमिकों की स्थिति एवं कल्याण पर वार्षिक रिपोर्ट*. नई दिल्ली: Author.
3. World Bank. (2021). *Global Findex report*. Washington, DC: Author.
4. Organisation for Economic Co-operation and Development. (2020). *Financial literacy and education report*. Paris: Author.
5. Lusardi, Annamaria. (2008). *Financial literacy and economic behaviour*.

Received: 22.01.2026 | Accepted: 25.01.2026 | Published: 30.01.2026

आदिवासी साहित्य : प्रकृति के साथ सह अस्तित्व कवयित्रियों की कविताओं के संदर्भ में

डॉ. महाँतेश आर अंची*

mantuanchi@gmail.com

सारांश (Abstract)

यह शोध-पत्र आदिवासी साहित्य में प्रकृति और मानव के सह-अस्तित्व की अवधारणा का विश्लेषण करता है, विशेषतः आदिवासी कवयित्रियों की कविताओं के संदर्भ में। इसमें निर्मला पुतुल, जसिंता केरकेट्टा तथा सरिता बड़ाइक की रचनाओं के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि आदिवासी समाज के लिए प्रकृति केवल संसाधन नहीं, बल्कि जीवन, संस्कृति और अस्मिता का आधार है। विकास और औद्योगीकरण के कारण उत्पन्न विस्थापन, शोषण और सांस्कृतिक संकट को कवयित्रियाँ अपने काव्य में प्रतिरोध के रूप में प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार आदिवासी कविता प्रकृति-मानव संबंध, पहचान और सामाजिक न्याय का सशक्त दस्तावेज बनकर उभरती है।

मुख्य शब्द (Keywords)

आदिवासी साहित्य, सह-अस्तित्व, प्रकृति, जल-जंगल-जमीन, अस्मिता, विस्थापन, प्रतिरोध, पर्यावरण चेतना

प्रस्तावना (Introduction)

आदिवासी साहित्य भारतीय साहित्य की एक महत्वपूर्ण धारा है, जो प्रकृति और मानव के गहरे संबंध को अभिव्यक्त करता है। आदिवासी समुदाय अपनी संस्कृति, आस्था और जीवन को जल, जंगल और जमीन से जोड़कर देखते हैं। आधुनिक विकास की प्रक्रिया ने इस संबंध को संकट में डाल दिया है, जिससे उनकी अस्मिता, संस्कृति और अस्तित्व प्रभावित हो रहे हैं। समकालीन आदिवासी कवयित्रियाँ अपनी कविताओं के माध्यम से इस संकट, प्रतिरोध और प्रकृति-प्रेम को स्वर देती हैं। यह शोध-पत्र इसी संदर्भ में आदिवासी कविता की संवेदना और दृष्टि का विश्लेषण करता है।

शोध प्रविधि (Research Methodology)

इस शोध में गुणात्मक (Qualitative) एवं विश्लेषणात्मक (Analytical) पद्धति का उपयोग किया गया है।

- प्रमुख आदिवासी कवयित्रियों की कविताओं का पाठ-विश्लेषण किया गया है।
- विषय के अध्ययन हेतु व्याख्यात्मक एवं तुलनात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया है।
- सामाजिक, सांस्कृतिक एवं पर्यावरणीय संदर्भों में काव्य का अध्ययन किया गया है।
- द्वितीयक स्रोतों (पुस्तकें, शोध-पत्र, लेख) का सहारा लिया गया है।

आदिवासी साहित्य केवल लोक कथाओं और गीतों की केंद्र बिंदु नहीं है अपितु यह प्रकृति और अस्तित्व के गहरे संबंध की अभिव्यक्ति है। आदिवासी समुदाय अपने जीवन संस्कृति और आस्था को जन्म जंगल और जमीन से जोड़कर देखते हैं उनके लिए प्रकृति बाहरी वस्तु नहीं है बल्कि परिवार का एक भाग है।

आदिवासी जीवन में पहाड़, नदी. पेड़, पशु, पक्षी सभी जीवंत और पूजनीय माने जाते हैं। संथाल, मुंडा, गोंड, भील आदि जनजातियों के लोकगीतों में धरती मां, सूर्य देव और जंगल की महिमा का वर्णन मिलता है। प्रकृति केवल पृष्ठभूमि नहीं

* **विभागाध्यक्ष, प्रियदर्शनी प्रथम दर्ज महाविद्यालय रट्टीहल्ली, हावेरी, कर्नाटक**

है बल्कि जीवन संस्कृति और अस्तित्व का आधार है। कई आदिवासी कवयित्रियों ने जल जंगल और जमीन को अपनी कविता का केंद्र बनाया है।

मूल रूप में संथाल समाज से जुड़ी हुई निर्मला पुतुल की कविताएं प्रकृति और अस्मिता के प्रश्न को गहराई से उठाते हैं। उनके रचनाओं में जंगल, माँ की तरह उपस्थित है। यह विकास के नाम पर हो रहे विस्थापन का विरोध करते हैं।

"क्या तुम जानते हो" आदिवासी कवयित्री निर्मला पुतुल की एक महत्वपूर्ण कविता है। इस कविता में कवयित्री मुख्य धारा समाज से सीधे प्रश्न करती है बार-बार दोहराया गया प्रश्न "क्या तुम जानते हो"? केवल जिज्ञासा नहीं बल्कि एक तीखा प्रतिरोध है। इसके माध्यम से वे यह जानना चाहती है कि क्या यहां सभ्य समाज आदिवासी जीवन की वास्तविकता को समझता है?

आदिवासी समाज के लिए जंगल केवल लकड़ी का भंडार नहीं है बल्कि जीवन संस्कृति और परंपरा का आधार है जमीन उनके पूर्वजों की स्मृति और पहचान से जुड़ी है आधुनिकता के नाम पर या विकास के नाम पर उनसे जल, जंगल और जमीन छीनी जाती है तो उनका केवल घर नहीं उजड़ता बल्कि उनकी अस्मिता भी संकट में पड़ जाती हैं। वह अपनी कविताओं में धरती मां को इस तरह गौरव अर्पित करते हैं कि-

क्या तुम जानते हो.....
जंगल हमारे लिए
सिर्फ लकड़ी नहीं होता
वह हमारे माँ है
जिसकी गोद में
हमने चलना सीखा है.....

कवयित्री विकास के नाम से ढिंढोरा पीटने वाले सभ्य समाज को पूछती है-

"क्या तुम जानते हो
जब तुम विकास कहते हो
तो हमारे गांव में
उजड़ने की आवाज गूंजती है....."

कवयित्री यह प्रश्न उठाती है कि क्या शहरों में रहने वाले लोग नहीं जानते हैं कि एक आदिवासी परिवार के लिए अपनी धरती छोड़ना कितना बड़ा आघात है ? यहां प्रकृति कोई वस्तु नहीं अपितु आत्मीय संबंध है। वह अपनी कविता में इस तरह प्रस्तुत करती है कि –

"क्या तुम जानते हो....
एक घर टूटता है
तो सिर्फ दीवारें नहीं गिरती
टूटती है हमारी भाषा
हमारे गीत
हमारे पहचान....."

"क्या तुम जानते हो" आदिवासी अस्मिता प्रकृति प्रेम और सामाजिक न्याय की सशक्त आवास है प्रस्तुत कविता पाठक गण को विचार करने पर मजबूर कर देती है कि विकास और सभ्यता की हमारी परिभाषाएं कितनी संवेदनाहीन हो सकती है।

जैसीता केरकेट्टा समकालीन आदिवासी कवयित्री है। वे झारखंड के आदिवासी समाज से आती हैं इसलिए उनकी कविता में पहाड़ नदी जंगल और मिट्टी जीवित पत्रों की तरह बोल उठाते हैं उनकी कविताओं में प्रकृति जल जंगल जमीन और अस्तित्व का प्रश्न केंद्रीय रूप से उभर आता है।

"अंगोरा" जैसिता केरकेकट्टा का महत्वपूर्ण काव्य संग्रह है। अंगूर शाब्दिक अर्थ ही भीतर सुलगती आग इस शीर्षक से मूल भाव स्पष्ट होता है कवयित्री आदिवासी समाज के भीतर छिपे उसे समान प्रतिरोध को ध्वनि देती है। जो अन्याय शोषण

और विस्थापन के विरुद्ध धीरे-धीरे जल रहा है प्रस्तुत कविता में जल जंगल और जमीन का प्रश्न प्रमुख रूप से अभिव्यक्त हुआ है। आदिवासी समाज के लिए प्रकृति केवल संसाधन नहीं बल्कि अस्तित्व और पहचान का आधार है। जब विकास और खनन के नाम पर जंगल काटे जाते हैं, पहाड़ तोड़े जाते हैं और गांव उजड़े जाते हैं तब केवल भूमि नहीं छिनती बल्कि संस्कृति, भाषा और परंपराएं भी आहत होती है। " अंगोर" इसी पीड़ा और आक्रोश की अभिव्यक्ति है। कवयित्री प्रथम पंक्ति में हमें चेतावनी इस तरह देती है कि –

अंगोर.....
जानते हो तुम
अंगोर क्या होता है?
वह आग नहीं
जो लपट बनाकर सबको दिखे
वह है
भीतरह भीतरह सुलगती
एक चिंगारी.....

यह सभ्य समाज विकास के नाम पर प्रकृति को नाश करते जा रहा है इसे देखकर कवयित्री कहती है –
जब तुम पहाड़ को तोड़ते हो
जब तुम नदियों का रास्ता मोड़ते हो
जब तुम हमारे घरों को
विकास के नाम पर उजाड़ते हो –
तब वह अंगोर
थोड़ा और तपने लगता है।

कवयित्री प्रकृति को जीवंत रूप में प्रस्तुत करती है। पहाड़, नदियां और वन साक्षी है। इतिहास के संघर्ष के एवं वर्तमान अन्याय के। उनकी कविताओं में प्रकृति रोती भी है और प्रतिरोध भी करती है। यह प्रतिरोध चेतन आत्मसम्मान और अंत में हिंसक भी है। जो समय आने पर लौ बन जाती है।

कवयित्री की दूसरी कविता "जड़ों की जमीन" शीर्षक ही उसके केंद्रीय भाव को व्यक्त करता है। अपनी जड़ों से जुड़ी हुई जमीन। यह आदिवासी अस्मिता जल जंगल जमीन और विस्थापन के प्रश्न को गहरी संवेदना के साथ उठता है। कवयित्री अपनी कविता के द्वारा प्रकृति के चेतना इस तरह व्यक्त करती है कि –

जब उसकी जड़े
मिट्टी से अलग होती है
तो केवल तना नहीं गिरता
गिरती है
उसकी छाया
उसके घोसले
उसकी स्मृतियां.....

"जड़ों की जमीन" समकालीन आदिवासी कविता को नई पहचान देता है। यह संग्रह याद दिलाता है कि जड़ों से कटकर कोई भी समाज लंबे समय तक जीवित नहीं रह सकता अपनी जड़ों की रक्षा करना ही भविष्य की रक्षा करना है।

सरिता बडाइक समकालीन आदिवासी कवयित्री है जो झारखंड के आदिवासी समाज से आती है। प्रकृति केवल पृष्ठभूमि नहीं बल्कि आत्मीय संबंध है। उनकी कविता में जंगल, पहाड़ और नदी जीवन के अभिन्न अंग है। उनकी कविता केवल भावनात्मक अभिव्यक्ति नहीं बल्कि सामाजिक यथार्थ और अस्मिता के संघर्ष का सशक्त दस्तावेज है। "जल, जंगल और जमीन" कविता में सरिता बड़ाइक आदिवासी जीवन की मूल चेतना और संघर्ष को स्वर देती है। उनके पर्व-त्यौहार, गीत-संगीत और परंपराएं जंगल और धरती से जुड़ी हुई है। इस संबंध में स्वामित्व नहीं बल्कि सह - अस्तित्व की भावना है। वह प्रकृति को मां की तरह मानते हैं, उसका शोषण नहीं करते बल्कि उसकी रक्षा करते हैं। कवयित्री अपनी कविता के द्वारा प्रकृति के महत्व इस तरह प्रस्तुत करती है कि –

जल…..
जो हमारी नसों में बहता है
नदियों की तरह
मां की लोरी सा।
जंगल…….
जहां हमारे सपने उगते हैं
महुए की खुशबू में
ढोल नगाडो की थाप में।

सरिता जी प्रकृति को केवल प्रकृति के रूप में ना देखते हुए भावनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में देखती है-

हमने तो सीखा है
धरती को मन कहना
जंगल को देवता मानना
जल को जीवन समझना।

"जंगल की पुकार" कविता का मुख्य स्वर पर्यावरण संरक्षण और सामाजिक चेतना से जुड़ा है। आधुनिक विकास औद्योगीकरण और खनन के कारण जंगलों की अंधाधुंध कटाई हो रही है। इस विनाश से केवल पेड़ ही नहीं गिरते बल्कि जीवन जंतुओं का घर उजड़ता है और आदिवासी समुदायों के जीवन शैली भी संकट में पड़ जाती है। कविता में जंगल की पुकार दरअसल प्रकृति की करुण आवाज है। जो मनुष्य को चेतावनी देती है कि यदि यह विनाश जारी रहा तो पृथ्वी का संतुलन बिगड़ जाएगा और मानव जीवन भी खतरे में आ जाएगा। जंगल अपनी करुण आवाज में इस सभ्य समाज को कह रही है –

मैं जंगल हूं…..
तुम्हारे सांसों की हरियाली
तुम्हारी धड़कनों की ठंडक
मेरी छावं में केले थे तुम्हारे बचपन
मेरी गोद में सोई थी तुम्हारी थकी यात्राएं
मेरी मिट्टी से ही तो उठी थी
तुम्हारी सभ्यता की पहली गन्ध।

निष्कर्ष (Conclusion)

इस शोध से स्पष्ट होता है कि आदिवासी कवयित्रियों की कविताएँ प्रकृति और मानव के सह-अस्तित्व की गहन अवधारणा को प्रस्तुत करती हैं। उनके लिए प्रकृति केवल संसाधन नहीं, बल्कि जीवन, संस्कृति और पहचान का आधार है। विकास के नाम पर हो रहे विस्थापन और शोषण के विरुद्ध उनका काव्य एक सशक्त प्रतिरोध के रूप में उभरता है। आदिवासी साहित्य पर्यावरण संरक्षण, सामाजिक न्याय और सांस्कृतिक अस्मिता की रक्षा का महत्वपूर्ण माध्यम है। अतः यह साहित्य न केवल साहित्यिक दृष्टि से, बल्कि सामाजिक और पर्यावरणीय दृष्टि से भी अत्यंत प्रासंगिक है।

संदर्भ (References)

1. निर्मला पुतुल. (2010). *नगाड़े की तरह बजते शब्द*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.
2. जसिंता केरकेट्टा. (2016). *अंगोर*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
3. सरिता बड़ाइक. (2018). *जल, जंगल और जमीन*. रांची: स्थानीय प्रकाशन.
4. रामदयाल मुंडा. (2002). *आदिवासी संस्कृति और साहित्य*. रांची: झारखंड अकादमी.
5. महाश्वेता देवी. (1995). *आदिवासी जीवन और संघर्ष*. कोलकाता: साहित्य अकादमी.

Received: 22.01.2026 | Accepted: 25.01.2026 | Published: 30.01.2026

'मैं पायल...' उपन्यास में संघर्षरत किन्नर जीवन का यथार्थ चित्रण

डॉ. अनिता कुमारी ठाकुर*
dranitathakur24@gmail.com

सारांश

'मैं पायल...' उपन्यास में महेंद्र भीष्म ने किन्नर जीवन के संघर्ष, पीड़ा और आत्मसम्मान की खोज का अत्यंत मार्मिक एवं यथार्थपरक चित्रण किया है। नायिका पायल के जीवन के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि किन्नर होना कोई व्यक्तिगत दोष नहीं, बल्कि जैविक एवं प्राकृतिक प्रक्रिया का परिणाम है। उपन्यास में परिवार और समाज द्वारा किन्नरों के प्रति उपेक्षा, तिरस्कार, हिंसा और बहिष्कार की स्थितियों को संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया गया है। पायल अपने जीवन में अनेक कठिनाइयों, अपमान और शोषण का सामना करते हुए भी आत्मनिर्भरता, स्वाभिमान और पहचान स्थापित करने के लिए निरंतर संघर्ष करती है। यह कृति समाज की रूढ़िवादी मानसिकता पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए किन्नरों के प्रति सहानुभूति, समानता और मानवीय दृष्टिकोण अपनाने का संदेश देती है। साथ ही, यह उपन्यास किन्नर समुदाय के अधिकारों और गरिमा की पुनर्स्थापना की आवश्यकता को भी रेखांकित करता है।

मुख्य शब्द

किन्नर विमर्श, संघर्ष, सामाजिक उपेक्षा, पहचान, यथार्थ चित्रण, लैंगिक विविधता, आत्मसम्मान, बहिष्कार, संवेदना, समानता

प्रस्तावना

साहित्य में समाज के यथार्थ का हूबहू चित्रण करना साहित्यकारों का अहम कर्त्तव्य होता है। साथ ही समाज में घट रही घटनाओं का आंकलन करना और उस पर अपनी पैनी नज़र रखना एक प्रबुद्ध रचनाकार की रचनाधर्मिता का सरोकार है। किन्नर विमर्श के पितामह महेन्द्र भीष्म ऐसे ही साहित्यकार हैं जो लगातार वर्ष 2011से लेकर आज तक अपनी सूक्ष्म पैनी दृष्टि समाज में किन्नर के अस्तित्व की गरिमा को अपने कथा साहित्य में अपने पात्रों के माध्यम से चित्रित कर रहे हैं। उन्होंने ऐसे विषयों पर अपनी लेखनी उठाई है, जिन पर सामान्यतः कोई भी रचनाकार रचना करने से कतराते हैं। 'किन्नर कथा' (2011ई.), 'मैं पायल...' (2016ई.), 'आखिरी दरख़्त ' (2020ई.), 'हां, मैं हूं ' (2026ई.) इत्यादि रचनाओं के माध्यम से लेखक महेंद्र भीष्म जी ने किन्नरों के संघर्षरत जीवन का यथार्थ चित्रण करते हैं। यद्यपि इन रचनाओं द्वारा किन्नरों के जीवन में आशा के प्रदीप जगाने की पूरी कोशिश की गई है तथापि आम पाठक भी इन रचनाओं को पढ़कर अपनी मानवीय संवेदना को रोक नहीं पाते हैं और समाज की दकियानूसी सोच पर नाना प्रकार के प्रश्न करने से भी नहीं चूकते - किन्नरों की दशा और दिशा हमारे समाज में हास्यापद क्यों है ? उनकी ऐसी स्थिति के जिम्मेदार कौन है ? उनके अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह क्यों है? इत्यादि। इन सभी सवालों का जवाब हम सभी हैं और हमारा समाज है।

शोध प्रविधि

यह शोध गुणात्मक (Qualitative) प्रविधि पर आधारित है। इसमें पाठ-विश्लेषण (Textual Analysis) और व्याख्यात्मक पद्धति (Interpretative Method) का उपयोग किया गया है। उपन्यास 'मैं पायल...' को प्रमुख आधार बनाकर किन्नर जीवन के सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक पक्षों का विश्लेषण किया गया है। साथ ही संदर्भ ग्रंथों के माध्यम से तुलनात्मक दृष्टि अपनाते हुए निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं।

* **सेक्ट हिन्दी लेक्चरर (विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग) कोलकाता, पश्चिम बंगाल**

भारतीय समाज विभिन्न वर्ग, वर्ण, जाति, धर्म, संप्रदाय इत्यादि में विभाजित है। समाज में स्त्री और पुरुष को जितनी मान्यता मिली है उतना ही किन्नरों या हिजड़ों को नहीं। हालांकि वे भी समाज का एक ऐसा ही हिस्सा है लेकिन उन्हें महत्ता नहीं मिली है। बल्कि उनकी स्थिति समाज में हास्यापद और निंदनीय रही है।किन्नर पैदाइश होना इनकी अपनी मर्जी नहीं होती है बल्कि इसके पीछे वैज्ञानिक सत्यता एवं ठोस कारण है - गर्भधारण के तीन माह में लिंग बनने की शुरुआत हो जाती है। इस उपक्रम में हार्मोनल या जेनेटिक त्रुटि अथवा किसी प्रकार की चोट या आघात के कारण लिंग के विकास में अवरोध आता है,फलतः इनके जननांग स्पष्ट रूप से नहीं बन पाते। समाज में इन बच्चों या लोगों को बहिष्कृत कर देना क्या उचित है ? एक बच्चा जो अपने परिवार में विभिन्न सदस्यों जैसे - मां,पिता,भाई,बहन इत्यादि रिश्तों के डोर से बंधा है। उसे अचानक ज्ञात होता है कि वह इस घर के लिए, परिवार के लिए शुभ नहीं है, उपयोगी नहीं है बल्कि उसकी स्थिति ही शर्मसार है, कलंक है। वह अपनों के बीच घृणा का पात्र बन जाता है और उसकी अपनी मां पराई हो जाती है जो 9 महीने तक अपने कोख में रखकर प्रसव पीड़ा से गुजरती है जैसे अन्य सामान्य बच्चों की प्रसव पीड़ा को अनुभव करती है। वह अपने ममत्व का गला घोंट पाने में असमर्थ होती है।ऐसे स्नेहमयी बहिष्कृत बच्चों के जीवन की संघर्षरत मार्मिक यथार्थ कथ्य को आधार बनाकर लेखक महेंद्र भीष्म जी ने हमारे समाज को इस जीवनीपरक उपन्यास के द्वारा मार्ग दर्शक बनकर एक राह दिखाने का सफल कार्य किया है जो बहुत ही प्रशंसनीय है। लेखक ने किन्नरों की समस्याओं को बहुत ही बारीकी से समझा है और अनुभव भी किया है। इसी संदर्भ में लेखक का मंतव्य है - "हिजड़ा कहलाना किसी मर्द को अच्छा नहीं लगता पिघला शीशा - सा कानों में उतरता है और 'हिजड़ा' को 'हिजड़ा ' कहो तो उसे गाली - सी नहीं लगती, पर कहीं अंतस तक उसके मन में कचोट जरूर लगती है। आखिर ईश्वर ने उसके साथ अन्याय क्यों किया ? क्यों हम उन्हें अपने से दूर, सामाजिक दायरे से बाहर हाशिए पर रखते चले आ रहे हैं ? उनके प्रति हमारी सोच में अश्लीलता का चश्मा क्यों चढ़ा रहता है ? ".....[1]

'मैं पायल..' किन्नर विमर्श केंद्रित उपन्यास है जो किन्नर गुरु पायल सिंह के जीवन संघर्ष पर आधारित है। इस उपन्यास की नायिका जुगनी उर्फ जुगनू या किन्नर गुरु पायल सिंह है। उसका जन्म उत्तर प्रदेश के बहराजमऊ में हुआ। वह अपने माता-पिता की पांचवी संतान हिजड़ा के रूप में पैदा होती है। उसका परिवार पुत्र की आशा लगाए रहते हैं। वे सभी उसकी मां को इसका मुख्य दोषी ठहराते हैं। इसी संदर्भ में पायल कहती है - "मैं उनकी पांचवी संतान एक हिजड़ा बच्चे के रूप में संसार में जन्म लेते ही उन्हें तमाम दुख, कष्ट और संताप देने के लिए आ चुकी थी। सभी को इस बार उनसे बेटे को जन्म देने की पूरी-पूरी उम्मीद थी। उम्मीद तो पहले दीदी के बाद से ही थी, पर जब दूसरी, तीसरी और चौथी बार लगातार कन्या के जन्म लेने से अम्मा और उनकी कोख को गालियां मिलने लगी थी।"....[2] उसके पिता राम बहादुर सिंह एक ट्रक ड्राइवर थे जो पायल के हिजड़े पैदा होने से टूट चुके थे। अक्सर वह शराब पीकर अपनी पत्नी और जुगनी की पिटाई कर दिया करता था। वह पड़ोसी और पिता द्वारा तिरस्कृत होती गई - "जब कभी पिताजी दारू के नशे में कोसते, गाली देते, ये जुगनी ! हम क्षत्रिय वंश में कलंक पैदा हुई है, साली हिजड़ा है..... आदि जाने क्या-क्या वे बकते रहते थे। हिजड़ा सबसे पहले मैं उन्हीं के मुख से सुना था, पर तब मायने से बिल्कुल अनभिज्ञ थी। "....[3] जुगनी को यह सब सुनकर विश्वास नहीं होता कि उसका पिता ही यह सब क्रूर व्यवहार उसके साथ कर रहा है।

वह बचपन से ही पढ़ाई - लिखाई और खेलकूद में होशियार थी। वह जब पहली कक्षा से दूसरी कक्षा में गई तो उसके पिता ने उसकी माता को निर्देश दिया कि उसे फ्रॉक की जगह पैंट - शर्ट पहनने के लिए दिया जाए और उसे जुगनू बना दिया जाए जिससे उसकी असली पहचान कोछिपा सकेंगे - "पायल और खेल कूद में तेज अपनी कक्षा की लीडर भी थी। जब दूसरी कक्षा में पहुंची तो पिता ने उसे जुगनी से जुगनू बना दिया और निर्देश दिया कि अब जुगनू को पहनने को पैंट - शर्ट दिया जाएगा। अब यह मेरा बेटा है। वे रात को मां से कहते थे कि शांति ! जुगनी को लड़के की आदत सिखाओ, उसे लड़का बनाकर रखो.....वह हिजड़ा है। वह लड़की के रूप में बड़ी होने पर समाज के लोग उसकी शादी रिश्ते की बात करेंगे, जबकि लड़के के रूप में कोई कुछ नहीं कहेगा। "....[4] एक दिन शाम को उसके पिता देखते हैं कि जुगनी लड़की की वेशभूषा धारण की है तो वह आज बगुला होकर उसकी खूब पिटाई कर देता है जिससे जुगनी का अंतर्मन व्यथित होकर आत्महत्या करने की कोशिश करती है जिसमें उसे असफलता मिलती है। उसकी मां और बहने उसे खूब लाड़ - प्यार देती है। बढ़ते उम्र के साथ ही उसके बाह्य शरीर के बनावट में परिवर्तन लड़कियों की तरह जुगनी में दिखाई देने लगते हैं। लेकिन वह अपने पिता के सामने पैंट शर्ट ही पहनती है। किंतु स्त्री - गुण उसके अंदर पनपने लगी थी। उसके पिता की नफरत हिंसा उसके प्रति अत्यधिक बढ़ने लगी। उसके पिता उसे अहिंसक रूप से मारने पीटने लगे थे। जो क्रूरता की चर्मोत्कर्ष पर पहुंच गई थी - "पिताजी ने पास रखी बाल्टी में भरे पानी से मुझे नहला दिया, फिर वही रखी चप्पल को टब में भरे पानी में डुबो डुबोकर मेरे नग्न शरीर की चमड़ी उधरने

लगे…. रस्सी का एक छोर बांध कर मुझे करने के लिए रस्सी के दूसरे छोर का फंदा मेरी गर्दन में बांध पिताजी ने मुझे फांसी दे दी थी।"....[5] उसे बचाने के लिए कोई नहीं आया। उसने अपने पिता का ऐसा वीभत्स चेहरा इसके पहले कभी नहीं देखा था। यहां पर लेखक ने किन्नर बच्चे की प्रताड़ना को सहज व यथार्थ रूप में चित्रित किया है। जुगनी के माध्यम से अपने परिवार में ऐसे बच्चे अपने स्वयं के परिवार से उपेक्षित होते हैं। पायल भी अपने परिवार द्वारा तिरस्कृत होती है और वह स्वयं कहती है - "क्षत्रियों के खानदान में हिजड़ा पैदा होने का सारा श्रेय मेरा ही है …ठीक है, पर इसमें मेरा क्या कसूर है ? हिजड़ा होने में मेरी अम्मा बल्कि पिताजी का भी कोई दोष नहीं, फिर मेरे साथ ही ऐसा दुर्व्यवहार क्यों ?"....[6]

उसकी वजह से उसके परिवार वालों को कोई परेशानी और तकलीफ ना हो ऐसा सोच कर वह घर का त्याग कर दिशाहीन ट्रेन की यात्रा करती है। ट्रेन और प्लेटफार्म पर उसका यौन शोषण होते-होते बचता है। यह सौ प्रतिशत सच्चाई है कि घर छोड़ने के बाद परिवार, घर,गांव की याद सताती है। इसी तरह पायल को भी अपना परिवार याद आने लगती है - "मुझे मेरी अम्मा, मेरा घर - परिवार और प्यारा - सा गांव बड़ा बहराजमऊ याद आने लग गया था। संगी - साथी और वहां के बुजुर्ग याद आने लगे थे।"....[7] कई बार उसे भूखा ही सोना पड़ता था। कभी - कभी स्टेशन के लोग और भिखारी उसे खाने के लिए देते हैं। इसके बाद वह होटल में बेरे का काम करती है। वह चाय और समोसा बनाना भी सिखाती है। वह अप्सरा टॉकीज का काम छोड़ देती है क्योंकि प्रमोद की बुरी एवं गंदी नजर उस पर रहती है। लेकिन भूख पीछा नहीं छोड़ती। वह भीख मांगने के लिए मजबूर होती है। एक दिन भीख मांगने वाले गिरोह पर पुलिस की रेड पड़ती है जिससे सभी बच्चों को बाल सुधार गृह में सुधारने के लिए भेज दिया जाता है। कुछ दिन बाद सभी बच्चों के माता - पिता अपने अपने बच्चों को ले जाते हैं। पायल को भी लेने के लिए उसकी मां और भाई राकेश आते हैं। लेकिन वह अपने भाई की सोच - विचार को अच्छी तरह जानती है। वह उसके नजर में केवल एक हिजड़ा है। वह अपनी इस कारुणिक स्थिति के लिए ईश्वर को कोसती हुई कहती है - "हे ईश्वर ! ऐसा कौन सा पाप मैंने किया जो तूने मुझे इस जीवन में हिजड़ा रूप दिया।"....[8]

पायल को पूनम टॉकीज में काम मिलता है। इस काम को संतोष सिंह दिलाता है। वह फिल्म प्रोजेक्टर चलाना सिखाती है। समय के साथ उसके शरीर में लड़की वाले गुण आ चुका है। वह स्त्री संवेदना को महसूस करती है। वह लखनऊ आकर दूरदर्शन और आकाशवाणी में काम करना चाहती है। कुछ नया सीख कर अपना नाम हासिल करती है। लखनऊ में कुछ किन्नर उसको जबरदस्ती उठाकर किन्नर गुरु मोना के डेरे पर ले जाते हैं। लेकिन वहां पर वह अपने अस्तित्व के लिए लड़ाई करती है। वह अन्य हिजड़ों से अलग है। वह किन्नर के साथ अपना जीवन यापन नहीं करती है। बल्कि वह एक अपनी नई पहचान बनाने का प्रयास करती है। वह कानपुर में फिल्म प्रोजेक्टर कार्य करने लगती है और वह पप्पू गुंडा से बदला लेने के लिए छटपटाती है- "मैंने अपनी सेहत पर ध्यान देना शुरू कर दिया था। दंड बैठक से लेकर अपने खाना - खुराक पर ध्यान देने लगी थी।".....[9] अपनी सेहत बनाने के साथ वह परिश्रम करके जीविका चलाने का दृढ़ संकल्प लेती है। वह अपने ऊपर हुए अत्याचार को अपनी भाग्य की लिखी लकीर नहीं मानती है। वह चुप नहीं रहती है। वह उसका प्रतिरोध करने स्वयं को बहुत ही मजबूत बनाती है। इसके बाद वह लखनऊ आकर आकाशवाणी, दूरदर्शन, आर्केस्ट्रा में काम करती है। वह अपना नाम पैसा और यश कमाती है। इस बीच परिवार की उसे याद सताने लगती है। वह अपने प्रेमी अशोक के साथ लखनऊ में पप्पू गुंडे को नंगा करके पीती है। अशोक और पायल के संबंध समाप्त हो जाते हैं। किन्नर सोनी से मिलकर पायल अपना ग्रुप बनती है। अपनी दबंग छवि बनाए रखने के लिए नशा जैसी लत को दूर करती है। किन्नर गुरु माया की चेली बनी रहती है और किन्नर गुरु बनने पर भी कुछ लोग उन्हें हिजड़ा संबोधित करते हैं तो उसे दुख होता है। वह सोचती है - "कितना अच्छा होता कि हमारे माता-पिता दूसरे भाई बहनों की तरह पढ़ाते - लिखाते, अच्छा परिवेश देते और पढ़ - लिखकर हम उन तमाम बुराइयों से अपने को बचा ले जाते। किन्नर समाज में आज बुरी तरह फैली हुई है, जिससे मुझ जैसी कोई बच नहीं पाई है।"..... इस तरह पायल को परिवार से अलग होने का दुख होता है। यह पायल का अपना आत्मालाप ही है कि जिसे पढ़कर कोई भी मां-बाप अपने किन्नर बच्चे को इस नर्क में नहीं देंगे। इस पूरे उपन्यास में पायल एक स्वस्थ मनुष्य के रूप में अपना जीवन संघर्ष करती हुई दिखाई देती है।

निष्कर्ष :

अंत में निष्कर्ष रूप से हम कह सकते हैं कि घर से अलग होकर संसार की निर्मम थपेड़ों से यदि किन्नर बच्चों को बचाना हो तो सबसे पहले किन्नर बच्चों के मां-बाप, पास -पड़ोस और नाते रिश्तेदारों को पहल करना चाहिए। उन्हें समझना जरूरी है कि किन्नर बच्चों में केवल यौन अंगों का विकसित होना उसकी अपनी प्रकृति नहीं है बल्कि उसे आज के

चिकित्सालय शल्य क्रिया से उन दोषों का निवारण किया जा सकता है। इसी संदर्भ में डॉक्टर विनय कुमार पाठक का मंतव्य है - "विकलांगता को यदि सकारात्मक दृष्टि से देखा जाए तो अभाव भी विशेषता बन जाते हैं विकलांगता से ग्रस्त लोगों को मजाक बनाना उन्हें कमजोर समझना और उनको दूसरों पर आश्रित समझना एक भूल और सामाजिक रूप से एक गैर जिम्मेदाराना व्यवहार है। हम इस बात को समझे कि उनका जीवन भी हमारी तरह है और वह अपनी कमजोरी के साथ उठ सकते हैं।".... किन्नर भी हमारी तरह एक मनुष्य ही है। यह बात हमें ही समझनी होगी और समाज में उसकी उपस्थिति को दर्ज कराना हमारा परम कर्तव्य होना चाहिए जिससे उसके अधिकारों को मिलने में सुविधा होगी। उसके भी मौलिक अधिकार है। वे भी अपना जीवन यापन पढ़ लिख कर स्वालंबी बनकर कर सकते हैं।

संदर्भ :

1. महेंद्र भीष्म, किन्नर कथा, सामयिक प्रकाशन, संस्करण 2011, पृ. 7

2. महेंद्र भीष्म, मैं पायल, अमन प्रकाशन, द्वितीय संस्करण 2016, पृ. 13

3. वही, पृ. 24

4. वही, पृ. 13

5. वही, पृ. 36

6. वही, पृ. 32

7. वही, पृ. 36

8. वही, पृ. 38

9. वही, पृ. 96

10. वही, पृ. 102

11. डॉ. रामशंकर भारती, डॉ. विनय कुमार पाठक और इक्कसवीं सदी के विमर्श, पंकज बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2024

Received: 22.01.2026 | Accepted: 25.01.2026 | Published: 30.01.2026

छत्तीसगढ़ के ग्रामीण अनुसूचित जातियों की महिलाओं में सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन का अध्ययन

आकांक्षा पाटिल* **डॉ. भूमिका मिश्रा†**

सारांश

छत्तीसगढ़ की कुल जनसंख्या में अनुसूचित जाति (SC) की हिस्सेदारी लगभग 12.8 प्रतिशत है और इनमें से 80 प्रतिशत से अधिक ग्रामीण अंचलों में रहती हैं। सदियों तक ये महिलाएँ जातीय भेदभाव और पितृसत्तात्मक संरचना के दोहरे दबाव में जीवन जीती रहींकृकम शिक्षा, सीमित आजीविका, सार्वजनिक स्थानों पर प्रतिबंध और घर के निर्णयों में न्यूनतम भागीदारी उनकी पहचान थी। 1992 के 73वें संविधान संशोधन, पंचायतों में 50 प्रतिशत महिला आरक्षण, महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम (मनरेगा) और छत्तीसगढ़ राज्य ग्रामीण आजीविका मिशन (बिहान) जैसी नीतियों ने पिछले दो दशकों में इस तस्वीर को धीरे-धीरे बदला है। इस लेख में हम 2001 से 2024 की अवधि में शिक्षा, स्वास्थ्य, कार्य-भागीदारी, आय, संपत्ति अधिकार, पंचायती राज में प्रतिनिधित्व और सांस्कृतिक सोच में आए बदलावों का विस्तार से वर्णन करेंगे, साथ ही शेष चुनौतियों और आगे की राह पर चर्चा करेंगे।

ऐतिहासिक संदर्भ

छत्तीसगढ़ 1 नवंबर 2000 को मध्य प्रदेश से अलग होकर अस्तित्व में आया। यहाँ सतनामी, महार, चमार, गंडा, भांजरा, रैदास जैसी अनुसूचित जातियाँ मुख्य रूप से कृषि मजदूरी, भूमिहीन खेतिहर मजदूर और पारंपरिक शिल्प (चमड़ा, बांस) पर निर्भर थीं। सामाजिक पदानुक्रम में इन जातियों को गाँव के सार्वजनिक कुएँ, मंदिर और पंचायत बैठकों से दूर रखा जाता था। महिलाएँ घर के भीतर सीमित थींय बाल विवाह आम था और 15 वर्ष की उम्र से पहले ही विवाह हो जाना सामान्य माना जाता था।

1992 का 73वाँ संविधान संशोधन एक मोड़ साबित हुआ। इसने पंचायतों में एक तिहाई सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित कीं, और छत्तीसगढ़ ने 2009 में इसे 50 प्रतिशत कर दिया। इसके साथ ही मनरेगा (2005) ने ग्रामीण महिलाओं को साल में 100 दिन रोजगार की गारंटी दी, और बिहान मिशन (2009) ने स्व-सहायता समूहों के माध्यम से उन्हें बचत-ऋण और उद्यमिता से जोड़ा।

शोध का उद्देश्य

1. SC ग्रामीण महिलाओं की शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक स्थिति में आए बदलावों को समझना
2. उनकी आर्थिक गतिविधियों, आय और संपत्ति अधिकारों में हुए परिवर्तन को दर्शाना
3. पंचायती राज में उनकी भूमिका और उसके प्रभाव का विश्लेषण करना
4. बदलाव में बाधक कारकों की पहचान करना और नीति सुझाव देना

* **शोधार्थी, समाजशास्त्र विभाग, भारती विश्वविद्यालय, दुर्ग**

† **सहायक प्राध्यापक, समाजशास्त्र विभाग, भारती विश्वविद्यालय, दुर्ग**

सामाजिक परिवर्तन

2001 में SC ग्रामीण महिला साक्षरता दर 44.2 प्रतिशत थी। 2011 में यह बढ़कर 57.6 प्रतिशत हुई और NFHS-5 (2019-21) में 71.3 प्रतिशत तक पहुँच गई। कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालयों की स्थापना, कक्षा 6 से 12 तक की लड़कियों को साइकिल वितरण और निःशुल्क पाठ्यपुस्तक योजना ने ड्रॉप-आउट दर को 28 प्रतिशत से घटाकर 12 प्रतिशत कर दिया। 15-19 वर्ष आयु वर्ग की 63 प्रतिशत लड़कियाँ अब कक्षा 10 तक पढ़ रही हैं, जबकि 2001 में यह आँकड़ा केवल 31 प्रतिशत था।

औसत विवाह आयु 2001 में 16.5 वर्ष थी, 2024 में 19.8 वर्ष हो गई है। 18 वर्ष से कम उम्र में विवाह का अनुपात 48 प्रतिशत से घटकर 21 प्रतिशत रह गया है। संस्थागत प्रसव 38 प्रतिशत (2005) से बढ़कर 89 प्रतिशत (2024) हो गया है। आशा कार्यकर्ताओं ने प्रसव पूर्व जाँच, टीकाकरण और परिवार नियोजन की जानकारी घर-घर पहुँचाई है।

पहले SC महिलाएँ सार्वजनिक कुएँ से पानी नहीं भर पाती थीं, मंदिर में प्रवेश वर्जित था। अब 78 प्रतिशत महिलाएँ सार्वजनिक जल स्रोतों का उपयोग करती हैं और 65 प्रतिशत गाँवों में मंदिर प्रवेश पर प्रतिबंध कम हुआ है। महिला सरपंच बनने के बाद 62 प्रतिशत महिलाओं ने बताया कि घर में उनके निर्णय को महत्व मिलता है। गाँव की बैठकों में उनकी उपस्थिति 2005 के 18 प्रतिशत से बढ़कर 2024 में 67 प्रतिशत हो गई है।

पारम्परिक रूप से "औरत का काम घर संभालना है" यह धारणा प्रचलित थी। अब 55 प्रतिशत महिलाएँ कहती हैं कि वे अपने बच्चों की शिक्षा और विवाह के निर्णय में भाग लेती हैं। युवा पीढ़ी की लड़कियाँ कॉलेज जा रही हैं, शिक्षिका, नर्स और आंगनवाड़ी कार्यकर्ता बन रही हैं।

आर्थिक परिवर्तन

2001 में 84 प्रतिशत SC महिलाएँ केवल कृषि मजदूर थीं। 2024 में 52 प्रतिशत अभी भी कृषि मजदूरी करती हैं, पर 33 प्रतिशत स्व-सहायता समूह आधारित उद्यम, 10 प्रतिशत पशुपालन और 5 प्रतिशत छोटे व्यापार में लगी हैं। मनरेगा में महिला भागीदारी 48 प्रतिशत से बढ़कर 53 प्रतिशत हो गई है।

औसत मासिक घरेलू आय 2005 में 2,800 रुपये थी, 2024 में 9,400 रुपये हो गई है। मनरेगा से औसत वार्षिक आय 18,000 रुपये और SHG उद्यम से अतिरिक्त 24,000 रुपये की आय हो रही है। इससे परिवार में पोषण स्तर सुधरा है और बच्चों की पढ़ाई पर खर्च बढ़ा है।

बिहान मिशन के तहत राज्य में 24,317 SC महिला समूह सक्रिय हैं। प्रत्येक समूह में 10-12 सदस्य हैं। औसत बचत 12,400 रुपये प्रति वर्ष है। 68 प्रतिशत समूहों ने बैंक से 25,000 से 1,00,000 रुपये तक का ऋण लिया है। प्रमुख गतिविधियाँ कृमशरूम उत्पादन, मुर्गी पालन, बकरी पालन, बांस शिल्प, अगरबत्ती बनाना, अचार-पापड़ बनाना।

प्रधानमंत्री आवास योजना (ग्रामीण) के तहत 34 प्रतिशत लाभार्थी SC महिलाएँ हैं, जिनमें से 19 प्रतिशत के नाम पर मकान का पट्टा है। 11 प्रतिशत महिलाओं के पास कृषि भूमि का पट्टा है। यह बदलाव संपत्ति पर उनके अधिकार को कानूनी मान्यता देता है। जन धन योजना से 92 प्रतिशत SC महिलाओं का बैंक खाता है। 61 प्रतिशत महिलाएँ मोबाइल बैंकिंग का उपयोग करती हैं, डिजिटल लेनदेन कर पाती हैं।

पंचायती राज में भूमिका

छत्तीसगढ़ में पंचायत पदों पर 50 प्रतिशत आरक्षण लागू है। 2020 के पंचायत चुनाव में 42 प्रतिशत SC महिला प्रतिनिधि चुनी गईं। कई गाँवों में महिला सरपंच लगातार दो कार्यकाल से कार्यरत हैं। महिला सरपंच वाले 58 प्रतिशत पंचायतों ने पेयजल परियोजना को प्राथमिकता दी, जबकि पुरुष सरपंच वाले पंचायतों में यह 34 प्रतिशत था। 71 प्रतिशत महिला सरपंचों ने आंगनवाड़ी केंद्रों की नियमित निगरानी की। शौचालय निर्माण, स्कूल की मरम्मत और स्ट्रीट लाइट लगाने में उनकी सक्रियता अधिक देखी गई।

शुरुआती दौर में 55 प्रतिशत महिला सरपंच "सरपंच पति" के माध्यम से काम करती थीं। 2020 तक यह घटकर 28 प्रतिशत रह गई, क्योंकि प्रशिक्षण और जागरूकता बढ़ी। अब महिलाएँ खुद फाइल साइन करती हैं, टेंडर खोलती हैं और अधिकारियों के साथ बैठक करती हैं।

चुनौतियाँ

पितृसत्तात्मक सोच अभी भी प्रमुख बाधा है। 34 प्रतिशत महिलाओं ने बताया कि परिवार के पुरुष सदस्य उनके निर्णय में हस्तक्षेप करते हैं। जाति-आधारित भेदभाव 29 प्रतिशत गाँवों में अभी भी मौजूद है। कई जगह महिलाओं को सार्वजनिक बैठक में बोलने से रोका जाता है। 42 प्रतिशत महिला प्रतिनिधि केवल 5वीं पास हैं, जिससे बजट और कागजी कार्रवाई समझने में दिक्कत होती है।

बाजार तक पहुँच की कमी 58 प्रतिशत महिलाओं ने बताई। 44 प्रतिशत महिलाओं को ऋण चुकाने में कठिनाई होती है। उत्पाद की गुणवत्ता और पैकेजिंग में प्रशिक्षण की कमी है। 36 प्रतिशत पंचायत भवनों में महिला के लिए अलग शौचालय नहीं है। 49 प्रतिशत महिलाओं को प्रशिक्षण कार्यक्रम की जानकारी नहीं मिलती। परिवहन सुविधा न होने से वे ब्लॉक मुख्यालय तक नहीं पहुँच पातीं।

नीति एवं कार्यक्रमों का प्रभाव

SC महिलाओं को 100 दिन का रोजगार मिला, जिससे आय स्थिर हुई और पलायन कम हुआ। काम के बदले समय पर मजदूरी मिलने से आर्थिक सुरक्षा बढ़ी। SHG के माध्यम से महिलाओं को उद्यमिता प्रशिक्षण, बैंक लिंकेज और बाजार सुविधा मिली। समूह की बचत से आपातकालीन खर्च पूरा होता है।

महिलाओं के नाम पर मकान आवंटन से संपत्ति अधिकार बढ़ा और सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ी। बालिकाओं के भविष्य के लिए बचत की आदत विकसित हुई।

परिणाम दर्शाते हैं कि सामाजिक परिवर्तन आर्थिक परिवर्तन से गहरा जुड़ा है। जब महिलाओं की आय बढ़ी तो परिवार में उनका सम्मान बढ़ा। शिक्षा ने जागरूकता बढ़ाई और पंचायती राज ने नेतृत्व क्षमता विकसित की।

परिवर्तन एक समान नहीं है। मैदानी जिलों (रायपुर, दुर्ग) में बदलाव तेज है, जबकि बस्तर जैसे सुदूर क्षेत्रों में प्रगति धीमी है। इसका कारण सड़क संपर्क की कमी, इंटरनेट पहुँच का अभाव और सरकारी कर्मचारियों की कम उपस्थिति है।

निष्कर्ष

पिछले 24 वर्षों में छत्तीसगढ़ की ग्रामीण SC महिलाओं में सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन स्पष्ट है। साक्षरता 44 प्रतिशत से 71 प्रतिशत हुई, औसत आय 2,800 रुपये से 9,400 रुपये हुई, और पंचायत में प्रतिनिधित्व 18 प्रतिशत से 42 प्रतिशत हुआ। स्व-सहायता समूह ने महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाया, मनरेगा ने आय सुरक्षा दी और पंचायती राज ने नेतृत्व का अवसर दिया। इन बदलावों से न केवल महिलाओं की स्थिति सुधरी, बल्कि गाँव के विकास की दिशा भी बदलीकृपेयजल, शौचालय, स्कूल और स्वास्थ्य सेवाओं पर अधिक ध्यान दिया गया।

छत्तीसगढ़ की ग्रामीण SC महिलाएँ अब केवल लाभार्थी नहीं, बल्कि विकास की सहभागी बन रही हैं। पंचायती राज ने उन्हें मंच दिया, मनरेगा ने आय दी और बिहान ने आत्मविश्वास। यह परिवर्तन अभी अधूरा है, लेकिन दिशा सही है। जब हर गाँव की महिला अपने अधिकार को समझेगी और उसका उपयोग करेगी, तभी वास्तविक सामाजिक और आर्थिक न्याय स्थापित होगा।

सुझाव

- महिला प्रतिनिधियों के लिए नियमित प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किए जाएँ, जिसमें बजट बनाना, योजना बनाना और डिजिटल साक्षरता शामिल हो।
- SHG उत्पादों के लिए ई-मंडी और सरकारी खरीद सुनिश्चित की जाए, ताकि बिचौलियों का शोषण कम हो।

- कक्षा 10 के बाद छात्रवृत्ति और व्यावसायिक प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए, ताकि लड़कियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकें।
- जाति-आधारित भेदभाव रोकने के लिए सामुदायिक संवाद कार्यक्रम चलाए जाएँ।
- हर पंचायत भवन में महिला अनुकूल सुविधाएँ-अलग शौचालय, क्रेच और बैठने की व्यवस्था की जाए।

संदर्भ

बिहान छत्तीसगढ़ राज्य ग्रामीण आजीविका मिशन. (2023). *प्रगति रिपोर्ट 2023*. छत्तीसगढ़ राज्य ग्रामीण आजीविका मिशन, रायपुर. Retrieved from https://bihan.cgstate.gov.in/sites/default/files/Progress_Report_2023.pdf

बोरा, झोर्ना. (n.d.). Impact of Panchayati Raj on rural development in Chhattisgarh. *Journal of Rural Studies*, 18(2).

छत्तीसगढ़ सरकार. (2024). *छत्तीसगढ़ आर्थिक सर्वेक्षण 2023-24*. अर्थ एवं सांख्यिकी निदेशालय, रायपुर.

Retrieved from https://des.cg.gov.in/sites/default/files/Economic_Survey_2023-24.pdf

जनगणना भारत. (2001 & 2011). *Census of India 2001 and 2011: Provisional population totals*. Office of the Registrar General & Census Commissioner, India, New Delhi. Retrieved from https://censusindia.gov.in/2011-common/censusdata2011.html

कुजूर, अनीता. (2024). छत्तीसगढ़ की अनुसूचित जाति महिलाओं की सामाजिक स्थिति. *सामाजिक चिंतन*, 12(1).

पटेल, एस.के. (2023). मनरेगा और ग्रामीण महिलाओं की आय. *भारतीय सामाजिक विज्ञान पत्रिका*, 41(3).

पंचायती राज मंत्रालय. (2024). *वार्षिक रिपोर्ट 2024*. भारत सरकार, नई दिल्ली. Retrieved from https://panchayat.gov.in/documents/annual-report-2024.pdf

राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण. (2017 & 2021). *National Family Health Survey (NFHS-4, 2015-16; NFHS-5, 2019-21): India report*. International Institute for Population Sciences (IIPS), Mumbai. Retrieved from https://rchiips.org/nfhs/NFHS-5Reports/India.pdf

शर्मा, रीना. (2018). *ग्रामीण भारत में दलित महिलाओं का सशक्तिकरण*. रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली.

तिवारी, मीना. (2021). *पंचायती राज और महिला सशक्तिकरण*. छत्तीसगढ़ हिंदी ग्रंथ अकादमी, रायपुर.

Received: 23.01.2026 | Accepted: 25.01.2026 | Published: 30.01.2026

उपन्यास लेखन में आंचलिकता: फणीश्वरनाथ रेणु के विशेष सन्दर्भ में

प्रतिमा*

pratimasandeep48@gmail.com

हिन्दी साहित्य में उपन्यास लेखन की शुरुआत भारतेन्दु युग से माना जाता है। 1882 ई० में लाला श्रीनिवास द्वारा लिखित 'परीक्षा गुरु' को आचार्य शुक्ल हिन्दी का पश्चिमी ढंग पर लिखा गया पहला मौलिक उपन्यास मानते हैं। सन् 1877 में श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'भाग्यवती' उपन्यास लिखा जो कि एक उपदेशात्मक उपन्यास है परन्तु इसमें विषय वस्तु की नवीनता है। इसीलिए कुछ विद्वान इसे हिन्दी का प्रथम उपन्यास मानते हैं। पंडित गौरीदत्त के उपन्यास 'देवरानी- जेठानी की कहानी' 1870 को कुछ विद्वान हिन्दी का प्रथम उपन्यास मानते हैं। इस युग में बालकृष्णभट्ट, ठाकुर जगमोहन सिंह, राधाकृष्णदास, लज्जाराम मेहता, किशोरीलाल गोस्वामी, अयोध्या सिंह उपाध्याय, ब्रजनन्दन सहाय, और मन्नन द्विवेदी प्रमुख उपन्यासकार हैं। इन सामाजिक उपन्यासों के अलावा घटना प्रधान और तिलस्मी और जासूसी उपन्यास भी लिखे गये। तिलस्मी उपन्यासो में बाबू देवकीनन्दनखत्री का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनकी रचना चन्द्रकान्ता को पढ़ने के लिए लोगों ने हिंदी सीखी। चन्द्रकान्ता की प्रसिद्धि के बाद उन्होने 'चन्द्रकान्ता सन्तति' और 'भूतनाथ' जैसे उपन्यास भी लिखे। जासूसी उपन्यासों में गोपालराम गहमरी ने सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त की। इनके उपन्यास 'अद्भुत लाश, 'गुप्तचर', बेकसूर की फांसी, 'सरकटी लाश' आदि प्रमुख उपन्यास है। उन्हें हिन्दी का 'आर्थर कानन डायल' कहा गया है।[1]

हिन्दी में सामाजिक यथार्थ उपन्यासों का सूत्रपात तो मुख्य रूप से प्रेमचन्द से हुआ। इनके पहले भी सामाजिक उपन्यास लिखे गये मगर सामाजिक यथार्थता का चित्रण मुख्यतः प्रेमचन्द की रचनाओं में ही मिलता है। इनकी स्चनाओं में 'सेवासदन, रंगभूमि, 'कायाकल्प', 'गबन', 'निर्मला', 'गोदान', में प्रमुख रूप से ग्रामीण जीवन का उत्तम चित्रण मिलता है। जयशंकर प्रसाद के कंकाल और 'तितली' उपन्यासों में भिन्न भिन्न समाज का चित्रण मिलता है। प्रेमचन्द युग के बाद जैनेन्द्र कुमार का 'परख सुनीता, कल्याणी, त्यागपत्र, प्रमुख उपन्यास है जो मनोविश्लेषण वादी उपन्यासो की श्रेणी में आते हैं। इन्ही के समकालीन इलाचन्द जोशी की- सन्यासी, पर्दे की रानी, जहाज का पंछी, मुक्ति पथ तथा अज्ञेय के- नदी के द्वीप, शेखर एक जीवनी, अपने-अपने अजनबी, यशपाल के-दिव्या, अमिता आदि उपन्यास प्रमुख रूप से लिखे गये।[2]

स्वातन्त्र्योत्तर युग में हिन्दी उपन्यासकारों में भीष्मसाहनी, राही मासूम रज़ा, बदीउज्जमां, आदि लेखकों ने भारत विभाजन की स्थितियों- परिस्थितियों को अपनी कथा का विषय बनाया है। भीष्म साहनी की तमस, राही मासूम रज़ा का आधागांव, बदीउज्जमां का 'छाको की वापसी' आदि विशिष्ट उपन्यास माने जाते हैं। स्वातन्त्र्योत्तर काल में ग्रामीण कथाकारों का नया वर्ग खड़ा हुआ। आंचलिक उपन्यासों में अंचल विशेष को नायक बनाकर उपन्यासों में प्रस्तुत किया। ऐसे कथाकारों में फणीश्वरनाथ रेणु का नाम सर्वोपरि है। उनका पहला उपन्यास सन 1954 में प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास में बिहार के पूर्णिया जिले के मेरीगंज कस्बे को केन्द्र में रखा गया है।[3]

उपन्यास लेखन में आंचलिकता का अर्थ है किसी विशेष क्षेत्र की लोक-संस्कृति,रहन-सहन, और जीवनशैली, बोली, भाषा का सजीव चित्रण करना, जिससे वह क्षेत्र या अंचल विशिष्ट पहचान के साथ प्रस्तुत हो। यह अंचल किसी ग्रामीण

* **सहायक अध्यापक, राजकीय हाईस्कूल पखरौली बबेरू, बांदा**

जीवन तक सीमित नहीं है बल्कि किसी भी क्षेत्र की अनूठी जीवनशैली पर आधारित हो सकती है।आंचलिक उपन्यास मे पूरा अंचल ही एक मुख्य इकाई बन जाता है इसका कोई पात्र नहीं होता है।[4]

आंचलिक उपन्यासों की एक रूपरेखा स्पष्ट हो जाने के बाद जो दूसरा प्रमुख प्रश्न है कि हिन्दी साहित्य में आंचलिक उपन्यासो की शुरुआत कहाँ से होती है? और क्या रेणु के मैला आंचल से पूर्व भी आंचलिक उपन्यासों की कोई परम्परा रही है। वास्तव में हिन्दी उपन्यास के इतिहास में आंचलिक उपन्यास की अवधारणा 'मैला आंचल के प्रकाशन के बाद ही विकसित हुई। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग रेणु ने ही मैला आंचल की भूमिका में किया है- "यह है मैला आंचल, एक आंचलिक उपन्यास, कथांचल है पूर्णिया, पूर्णिया बिहार राज्य का एक जिला है….. मैंने इसके एक हिस्से के एक ही गांव के पिछड़े गांवो का प्रतीक मानकर इस किताब का कार्य क्षेत्र बनाया है।" 'नया प्रतीक' पत्रिका में जून सन् 1977 को दिये अपने एक साक्षात्कार में 'आंचलिक शब्द के प्रयोग के बारे में कहा कि- "जब मैंने मैला आंचल लिखा और उसके भीतर का टाइटल छपने जा रहा था तब मैंने लिखा- 'मैला आँचल' और फिर उसके नीचे लिख दिया 'एक आंचलिक उपन्यास,मैंने यही सोचकर किया कि मैंने जो शब्द का इस्तेमाल किया जैसी भाषा लिखी क्या पता उसको लोग कबूल करेंगे या नहीं? इसलिए मैंने उसे आंचलिक उपन्यास कह दिया" इस प्रसंग से यह तो स्पष्ट है कि आंचलिक उपन्यास में अंचल विशेष की भाषा का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके साथ ही यह भी स्पष्ट हो गया कि रेणु ने ही सर्वप्रथम आंचलिक शब्द का प्रयोग किया।[5]

'मैला आंचल' उपन्यास में पूर्णिया जिले के मेरीगंज गांव की कथा को आधार बनाया गया है। सम्पूर्ण उपन्यास में ग्रामीण शब्दों की प्रचुरता मिलती है। कुछ शब्द जैसे- गांधी को 'गनहीं', स्वराज को सुराज', स्टेशन को 'टीसन' आदि। कुछ पाठकों के लिए ऐसे शब्द दुरुह बन सकते हैं परन्तु ये शब्द आंचलिकता की दृष्टि से इसके प्राणतत्व होते हैं। ग्रामीण क्षेत्र की कुछ रीति-रिवाज, परंपराये, आडम्बर इत्यादि की अभिव्यक्ति यह उपन्यास करता दिखता है। हर क्षेत्र विशेष की अपनी कुछ परम्परायें व मान्यताएँ होती है। उसी तरह इसमें भी देखने को मिलता हैं जैसे- कमला नदी से जुड़ी मान्यताएँ, जाति-पाति का ढकोसलापन, सामाजिक भोज के अवसर पर बड़ी जातियों का छोटी जातियों के साथ भोजन न करना आदि। इस उपन्यास सामाजिक बुराइयाँ एवं कुरीतियाँ किस तरह अपने पैर पसारे हुए हैं। मंदिरो के महंत एवं पुजारी किस तरह किसी युवती का शोषण करते हैं, कुछ वीभत्स चेहरे भी हमें देखने को मिल जाते हैं- जैसे- डा० प्रशान्त के गांव आने पर लोगों में उनकी जाति पूछने की आतुरता, सभी जातियों का अपना अलग-अलग गुटों में बंटना भी जातिवाद राजनीति दिखाई पड़ती है। कांग्रेसी तथा जिस सोशलिस्ट पार्टियो की गतिविधियां, विचारधाराएं एवं कार्य करने के तरीके को भी दिखाया गया है।[6]

'मैला आंचल' की भूमिका में फणीश्वरनाथ रेणु जी कहते हैं "इसमें फूल भी है, शूल भी, धूल भी है, गुलाब भी है, कीचड़ भी है, चंदन भी, सुन्दरता भी है, कुरुपता भी…. मैं किसी से दामन बचाकर नहीं निकल पाया। कथा की सारी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ साहित्य की दहलीज पर आ खड़ा हुआ हूँ, पता नहीं अच्छा किया या बुरा। जो भी हो, अपनी निष्ठा में कमी महसूस नहीं करता।[7]

फणीश्वरनाथ रेणु ने मेरीगंज गांव का बहुत ही जीवंत चित्रण किया है।वहां के लोगों हसीं-मजाक, प्रेम-घृणा, सौहार्द वैमनस्य ईर्षा-द्वेष , संवेदना करुणा, संबन्ध-शोषण अपने समस्त उतार-चढ़ाव के साथ प्रस्तुत किया गया है। पूरे उपन्यास में एक संगीत है, गाँव का संगीत, लोक गीत- सा जिसकी लय जीवन के प्रति आस्था का संचार करती है। एक तरफ यह उपन्यास आंचलिकता को जीवंत बनाता है तो दूसरी तरफ उस समय का, बोध भी दृष्टिगोचर होता है। भूत-प्रेत, टोना टोटका, झाड-फूक में विश्वास करने वाली अंधविश्वासी परंपरा गनेश की नानी की हत्या में दिखती है। साथ ही जाति-व्यवस्था का कट्टर रूप भी दिखाया गया है। मैला आंचल में नारी की स्थिति के बारे में भी बताया गया है। उपन्यास में एक प्रसंग ऐसा है जहाँ रोगग्रस्त युवती के पिता इस अंतर को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं-- "हुजूर, लड़की की जात बिना दवा दारू के ही आराम हो जाती है।"

मेरीगंज में मठों का भी वर्णन किया गया है जिसमें महंत साहब धर्म के प्रतिनिधि हैं। अत: माया से मुक्त रहना उनके लिए आवश्यक है। अजीब कशमकश में है महंत, यदि वे विवाह करते हैं तो सुविधा भरी महंती हाथ से निकलती है और अगर विवाह नहीं करते तो भौतिक सुविधाओं के बावजूद कुंठित जीवन जीने को अभिशप्त हैं। अन्त में समाधान निकालते हैं कि मठ के पुराने सेवक की बेटी लक्ष्मी को कानूनी लड़ाई के बाद अपने मठ पर ले आते हैं। यह रास्ता महंत जी के जीवन में भले ही

प्रसन्नता लाने वाला हो पर, अबोध बालिका का जीवन बरबाद हो रहा है। यादव टोली का किशनू कहता है- "महन्थ जब लछमी को मठ पर लाया था तो वह एकदम अबोध थी एकदम नादान एक ही कपड़ा पहनती थी। कहाँ वह बच्ची और कहाँ पचास बरस का बुढा गिद्ध ! रोज रात में लक्ष्मी रोती थी-ऐसा रोना कि जिसे सुनकर पत्थर भी पिघल जाय। इस पर व्यंग्य करते हुए रेणु जी लिखते हैं" चढ़ती जवानी में सद्गुरू साहेब की दया से माया को जीतकर ब्रह्मचारी रहे। बुढौती में तो आदमी की इन्द्रियां शिथिल हो जाती है, माया के प्रबल घात को नहीं संभाल सकती है।..... यह तो महन्थ साहब का दोख नहीं। उसका भाग ही खराब है। यदि वह नहीं होती तो महन्थ साहेब सतगुरु के रास्ते से नहीं डिगते। यह ध्रुव सत्त है। दोख तो लक्ष्मी का है। एक ब्रहमचारी का धरम भ्रष्ट करने का पाप उसके माथे हैं।[8]

रेणु जी ने मेरीगंज गांव में सामाजिक रुप से प्रचलित अंधविश्वासों पर भी टिप्पड़ी की है। यह स्वाभाविक सी बात है कि जिस क्षेत्र का आर्थिक विकास कम हुआ होगा, आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षा का प्रसार नहीं हुआ होगा, वहाँ सामाजिक जीवन में अंधविश्वासों की प्रमुख भूमिका होगी। उपन्यासकार ने बार-बार दिखाया है कि अंधविश्वासो के कारण गांव का विकास कैसे रूक जाता है? डाक्टर प्रशांत गांव को बचाना चाहते हैं। किन्तु गांव के ही जोतखी काका अंधविश्वासों के कारण उनका सक्रिय विरोध करते हैं। उनका कहना है "डॉक्टर लोग ही रोग फैलाते हैं, सुई भोंककर देह में जहर दे देते हैं। आदमी हमेशा के लिए कमजोर हो जाता है। हैजा के समय कूपों में दवा डाल देते हैं, गांव का गांव हैजा से समाप्त हो जाता है।" ऐसे अंधविश्वास के खतरनाक परिणाम क्या होते हैं, यह रेणु ने कमली और पारवती की मां के माध्यम से दिखाया। है। कमली को इसलिए बीमारी हो गयी है कि तीन बार उसका रिश्ता टूट गया है तथा लोग उसे अपशकुनी मानने लगे हैं। यदि सारा समाज किसी व्यक्ति को अपशकुनी मानने लगे तो वह व्यक्ति मनोरोगी हो ही जायेगा। यही स्थिति कमली की है। पारवती की मां का जीवन ही अंधविश्वासो ने ले लिया है। रेणु ने विशेष रूप से बताया कि पारवती की माँ स्नेह, करुणा, वात्सल्य के भावों की प्रतिमूर्ति है, किन्तु समाज उसे डायन घोषित करके उसकी हत्या कर देता है।[9]

'मैला आंचल' में लेखक का सर्वाधिक ध्यान अंचल की जन-चेतना को चित्रित करने पर केन्द्रित है। गांव में अस्पताल बनने की प्रक्रिया, राष्ट्रीय आंदोलन की पृष्ठभूमि, राष्ट्रीय आन्दोलन के संदर्भ में औपनिवेशिक-दमन और दमन के सामने सामान्य जन का कुछ झुकना व कुछ प्रतिरोध करना। इन सभी स्थितियों को रेणु ने पूर्णिया जिला के जन सामान्य के प्रति हार्दिक संवेदना महसूस करते हुए चित्रित है। साथ ही साथ मिथिला अंचल की लोक संस्कृति भी सहज रूप से अंकित होती चलती है। रेणु जी ने मैला आंचल के बाद परती परिकथा (1958) में भी अंचल विशेष को पुन: नयी कथा के माध्यम से चित्रित किया है। यहाँ 'परानपुर गाँव केन्द्र में है, जो स्वातंत्र्योत्तर संक्रमणकालीन भारतीय गांवों का प्रतीक है। रेणु के एक अन्य उपन्यास 'जुलूस' में गोडियार गांव की कथा है जहाँ पूर्वी बंगाल से आए शरणार्थी बसे हैं। रेणु के 'दीर्घतपा' 'कलंक मुक्ति' व 'पलटू बाबू रोड' उपन्यासो में भी बिहार के अंचल की ही कथा का विस्तार मिलता है।[10]

मैला आंचल के बाद हिन्दी उपन्यास परम्परा में एक स्वतन्त्र प्रवृत्ति के रूप में आंचलिक उपन्याओं की रचना हुई। नागार्जुन की रचना 'बलचनमा' में भी आंचलिकता का समावेश हुआ है। इस उपन्यास में बिहार के मिथिला को आधार बनाया गया है। इसमे बलचनमा नवयुवक है जिसके जीवन वृत्त को अंचल विशेष के सामाजिक राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक स्तर को चित्रित किया गया है। नागार्जुन के अन्य उपन्यास- 'रतिनाथ की चाची' नयी पौध, बाबा बटेसरनाथ, वरुण के बेटे, दु:ख मोचन आदि प्रमुख है।

आंचलिक उपन्यासो में उदयशंकर भट्ट भी कई उपन्यास लिखे हैं जिनमे - 'सागर लहरें और मनुष्य' में मुम्बई के बरसोवा के मछुआरों का बहुत ही मार्मिक चित्रण किया है। इनके अन्य उपन्यास 'लोक-परलोक' में पश्चिमी उत्तर प्रदेश के तीर्थ ग्राम का हृदयस्पर्शी चित्रण मिलता है।

इसी परम्परा में रांगेय राघव कृत 'कब तक पुकारु' में राजस्थान और ब्रज क्षेत्र पर बसे गांव के करनट का चित्रण किया गया है। इस उपन्यास में आंचलिकता, के लिए क्षेत्र की सजीव भाषा का चित्रण दिया गया है। इनके अन्य उपन्यास 'मुर्दो का टीला' मे भी आंचलिकता का पुट मिलता है।

शिवप्रसाद सिंह के 'अलग-अलग वैतरणी' मे करैता गांव का जीवन है तो श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' में शिवपाल गंज की कथा का वर्णन मिलता है। राम दरश मिश्र के 'पानी की प्राचीर' में गोरखपुर क्षेत्र के जनजीवन का आंचलिकता के साथ चित्रण मिलता है। राजेन्द्र अवस्थी कृत- 'जंगल के फूल' शैलेश माटियानी के 'हौलदार' और शिवपूजन सहाय कृत 'देहाती दुनियां' मे भोजपुरी अंचल का मनोहारी चित्रण मिलती है।

अमृत लाल नागर कृत उपन्यास- 'बूंद और समुद्र', केशव प्रसाद मौर्य- 'कोहबर की शर्त' राही मासूम रजा का 'आधा गाव' , भैरव प्रसाद गुप्त की- 'गंगा मैया' व 'सती मैया का चौरा' , विवेकी राय कृत- लोकऋण, हिमांशु जोशी कृत- 'कगार की आग', धूमकेतु कृत- 'माटी की महक' आदि भी आंचलिक उपन्यास की श्रेणी में गिने जाते हैं। पंजाब के जनजीवन का चित्रण कृष्णा सोबती कृत- 'जिंदगीनामा' व 'मित्रो मरजानी' एवं जगदीश चन्द्र माथुर कृत- 'धरती धन न अपना' एवं 'नरक कुंड में वास' 'कभी न छोड़े खेत' में हुआ है।[11] उपन्यास लेखन में आंचलिकता प्रमुख रूप से फणीश्वरनाथ रेणू के उपन्यासों से माना जाता है।

निष्कर्ष :-

रेणु के उपन्यास 'मैला आंचल' में आंचलिकता का पूर्ण रूप से विस्तार हुआ है। क्षेत्रीय भाषा, बोली, रहन-सहन, अंधविश्वास किस तरह से पूरे गांव को जकड़े हुए है। इसकी सुन्दर परिणति हमें इस उपन्यास में देखने को मिलती है। इस उपन्यास में 'राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक स्वरूप भी पूर्ण रूप से हमें देखने को मिलते हैं। शिक्षा के अभाव में किस तरह पाखण्ड, अंधविश्वास लोगों में भरा हुआ है। इसमें लोकगीतो और त्यौहारों का की चित्रण मिलता है। कई भिन्नता के बावजूद की आंचलिक उपन्यास में राष्ट्रीय एकता की भावना हमें देखने को मिलती है।

संदर्भ :-

1. सिंह, ओमप्रकाश. हिन्दी उपन्यास का विकास. In *हिन्दी साहित्य का इतिहास* (e-Adhyayan). Retrieved from https://e-adhyayan.com/
2. हिंदीकुंज. हिन्दी उपन्यास का उद्भव एवं विकास. Retrieved from https://www.hindicunj.com/
3. सिंह, ओमप्रकाश. हिन्दी उपन्यास का विकास.
4. यादव, अभिषेक. आंचलिक उपन्यास की बहुआयामी अवधारणा.
5. सत्यकाम, & दूबे, रीता. हिन्दी गद्य साहित्य: कथा साहित्य, आंचलिकता की अवधारणा हिन्दी उपन्यास. e-Adhyayan. Retrieved from https://e-adhyayan.com/
6. कुमारी, अंशु. मैला आंचल: एक विवेचन. Retrieved from https://media.neliti.com/media/publications/
7. रेणु, फणीश्वरनाथ. (1954). *मैला आंचल*. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.
8. रेणु, फणीश्वरनाथ. (1954). *मैला आंचल*. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.
9. अपनी मांटी पत्रिका. संवेदना के धरातल पर मैला आंचल [विनीत कुमार वर्मा एवं डॉ. राजेश कुमार तिवारी द्वार]. *अपनी मांटी*. Retrieved from https://www.apnimaati.com/
10. मैला आंचल और आंचलिक उपन्यास की अवधारणा. eGyanKosh. Retrieved from https://egyankosh.ac.in
11. मैला आंचल और आंचलिक उपन्यास की अवधारणा. eGyanKosh. Retrieved from https://egyankosh.ac.in

Received: 23.01.2026 | Accepted: 25.01.2026 | Published: 30.01.2026

रमा पाण्डेय कृत लल्लन मिस एक किन्नर संघर्ष

डॉ. स्वाती सुरेश खळेकर*
khalekar.s2@gmail.com

सारांश (Abstract)

रमा पाण्डेय कृत 'लल्लन मिस' नाटक किन्नर समाज के जीवन-संघर्ष, सामाजिक उपेक्षा और अस्तित्व की खोज का सशक्त चित्रण प्रस्तुत करता है। यह नाटक समाज के उस उपेक्षित वर्ग की पीड़ा, अकेलापन, अस्मिता संकट और संघर्षशील जीवन को उजागर करता है जिसे मुख्यधारा से अलग कर दिया गया है। लेखिका ने सूत्रधार शैली का प्रयोग करते हुए न केवल किन्नर जीवन की वास्तविकताओं को सामने रखा है, बल्कि समाज की रूढ़िवादी मानसिकता, लैंगिक असमानता और संवेदनहीनता पर भी प्रश्नचिह्न लगाया है। लल्लन का चरित्र संघर्ष, शिक्षा के प्रति समर्पण और सामाजिक बदलाव की आकांक्षा का प्रतीक है। नाटक का अंत करुण और विचारोत्तेजक है, जो पाठकों/दर्शकों को आत्ममंथन के लिए बाध्य करता है।

मुख्य शब्द (Keywords)

किन्नर, तृतीय लिंग, स्त्री विमर्श, अस्मिता, सामाजिक बहिष्कार, संघर्ष, हिंदी नाटक, रमा पाण्डेय

प्रस्तावना:-

साहित्यकार अपनी सूक्ष्म दृष्टि से समाज अनेक पहलुओं को अपने साहित्य के द्वारा प्रस्तुत करता है। हिंदी नाट्य साहित्य लेखन में महिला नाटककार "रमा पाण्डेय" जी ने किन्नर जीवन के यर्थाथ को अपने साहित्य का विषय बनाकर उसी से वास्तविक जीवन से जोड़ ने का प्रयास किया है - नाटक "लल्लन मिस" नाम भी उल्लेखनिय है। 21 वीं सदीं के हिंदी नाट्य साहित्य में "रमा पाण्डेय" जी का भी योगदान रहा है।

रमा पाण्डेय निर्माता, निर्देशक और लेखक हैं। उन्होंने राजस्थान विश्वविद्यालय से इतिहास विषय में एम. ए. किया है। फिल्म व टेलीविजन डायरेक्शन-प्रोडक्शन में डिप्लोमा (अंतरराष्ट्रीय स्कॉलरशिप पर) हॉलैंड से। राजस्थान की पहली महिला मीडियाकर्मी है। मंच, फिल्म, टेलीविजन, दूरदर्शन और बी.बी.सी. लंदन की एक जानी-मानी हस्ती है। रेडियों की एक बड़ी आवाज रही है। खुद कहानी लेखन किया और अपनी लिखी कहानियों को निर्देशित, प्रस्तुतकर्ता और रंगमंचित करके उनमें अभिनय भी किया है। रमा पाण्डेय जी स्वनिर्मित सभी फिल्मों हेतु कहानी एवं पटलेखन भी करती है।

शोध प्रविधि (Research Methodology)

इस शोध में मुख्यतः **गुणात्मक (Qualitative) एवं विश्लेषणात्मक (Analytical) पद्धति** का उपयोग किया गया है।

- प्राथमिक स्रोत के रूप में रमा पाण्डेय के नाटक *'लल्लन मिस'* का अध्ययन किया गया है।
- पाठ-विश्लेषण (Textual Analysis) के माध्यम से किन्नर जीवन के विभिन्न पक्षों का विवेचन किया गया है।
- समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण (Sociological Approach) अपनाकर किन्नर समुदाय की सामाजिक स्थिति, संघर्ष और उपेक्षा का विश्लेषण किया गया है।

* **सहायक प्रोफ़ेसर, भारतीय जैन संघटना कला विज्ञान, वाणिज्य वाघोली, पुणे–412207**

- साथ ही स्त्री-विमर्श एवं जेंडर स्टडीज़ के परिप्रेक्ष्य में भी नाटक का अध्ययन किया गया है।

'लल्लन मिस' रमा पाण्डेय का नाटक है। हमारे समाज में स्त्री और पुरुष ऐसे दो रूप है जिनके परस्पर सहयोग से ही समाज का विकास होता है। इनसे अलग एक और लिंग है जिसे हम हिजड़ा, किन्नर, शिखण्डी, छक्का और तीसरा लिंग कहते हैं। ये लोग हमारे समाज, घर और परिवार से अलग हाशिए पर रखे गए है। इस पर रमा पाण्डेय कहती है- "एक विचित्र नाटक है यह। जहाँ मैं खुद को, खुद की नजर से देखकर, खुद के शब्दों में, खुद की कलम से औरों के सामने खोल रही हूँ।"[1] नाटक के दृश्य के लिए सीन शब्द का प्रयोग किया है। कुल मिलाकर 31 सीन है। पात्र की संख्या अधिक नहीं है। एक ही कलाकर ने दो से तीन पात्रों का अभिनय किया है। नाटक की शुरुआत कोरस गीत से हुई है। नाटक सूत्रधार शैली में लिखा गया है। लेखिका स्वयं इस नाटक की सूत्रधार है और नाटक की शुरुआत ही उनसे ही होती है। जो एक प्रोड्यूसर के रूप में काम करती है।

लेखिका हॉलैंड़ से टी.वी. प्रोड्यूसर की ट्रेनिंग लेकर भारत लौटी और दूरदर्शन में नौकरी करने लगी तब डॉक्यूमेंट्री बनाने के लिए मसूदपुर गई वहाँ पर शूटिंग के दौरान झुग्गी-झोपड़ी के एक कोने में ये लोग मिले। तब रमा ने उनपर डॉक्यूमेंट्री बनाने का सोचा और सर से कहने पर उन्होंने ऊपर से नीचे तक देखा और कहा- "दिस विल क्रिएट हिस्ट्री, सर बोले-हिस्ट्री तो क्रिएट हो ही जाएगी जब तुम उनकी बॉडी की ज्योग्राफी जनता को बताओगी, इनके शरीर का भूगोल सामने लाओगी। वी आर ऐ सोशल टेलीविजन फैमिली वॉच इट टूगैदर-तुम क्या समझती हो कोई भी परिवार के साथ बैठकर ये प्रोगाम देखेंगे। सिली गर्ल।"[2] अतः 21वीं सदी में सभ्य समझने वाला हमारा समाज कुछ रूढ़िगत परंपराओं से आज भी बाहर नहीं आया है।

आगे के सीन में रमा अपने गाड़ी में जाते समय ट्रैफिक लगती है तभी सोनल और पुलिस को सुलभ शौचालय से बाहर आते दिखाई देती है सोनल जोर-जोर से चिल्ला रही थी कि हवलदार ने उसकी इज्जत पर हाथ डाला है। तब लेखिका अपने पति के मदद से हवलदार की बदली करवाती है। सभ्य समाज की तरह ही किन्नर समाज में भी कुछ मान्यताओं का ध्यान रखा है। ये अपनी किसी भी कार्य के लिए अपने गुरुओं की आज्ञा लेते हैं तथा इनके बनाये नियमों का पालन करते हैं। रुपाली के एड़मीशन के लिए सोनल रमा से सहायता चाहती है। तब रमा को मालूम होता है कि सोनल पटना की गुरु माँ की बेटी है। जो सोनल के जिद्द करने पर मसुदपुर वाली गुरु माँ ने खरीदकर सोनल को दिल्ली लाया है। रमा कहती है कि- "रमा: समाज की त्यागी एक रूह...समाज को बचाने में लगी है उसके टुकड़े-टुकड़े चुनकर उठा रही है...एक मुकम्मल आकार देने- खुद उसके वजूद आईना टूट चुका है..., वो अकेली है इस लड़ाई में, सब हिजड़े, किन्नर अकेले ही होते हैं, मन से बेहद अकेले, अगर वो चाहे 70 आदमियों से रहें, किसी ने सच ही लिखा...आईन के सौ टुकड़े कर के हमने देखे हैं एक में अकेले थे सौ में भी अकेले हैं...।"[3]

लालच के बिना कोई आदमी पास नहीं आता है। इस तरह एक अधूरे सपने की तामीर पूरी हुई। लल्लन की गुरु माँ चल बसी। रमा ने कहा तुम लोग मौत पर बहुत बुरा हाल करते हो ना। इस बात पर लल्लन ने बताया- "लल्लन: जब गुरु माँ मर गईं, उसके बाद उस रात सिर्फ हम और एक दूसरे मठ वाले हिजड़े आए और चुपचाप अँधेरे में ले गए जैसी काली अँधेरी हमारी जिंदगी... वैसी काली अँधरी हमारी मौत... गुरु माँ चुपचाप अकेली जंगल के किसी कोने में जलायी गई... श्मशान भी नहीं ले जायी गईं और रास्ते भर हमने रामधुनी भी नहीं गायी। उस गुरु माँ को जिसने हमें माँ की तरह पाला... उनके ऊपर हम थूकते-थूकते गए... उनको हमने चप्पलों से मारा... और कहा... फिर ऐसा जनम न हो... फिर ऐसा जनम न हो... फिर ऐसा जनम न हो...आज मैं बिना चप्पलों के भी थू...थू कर कहती हूँ फिर ऐसा जनम न हो।"[4] लल्लन को बच्चों के लिए स्कूल खोलने में बड़ी दिक्कत आयी पर बस्ती के सामने वाली बहनजी के सहयोग से स्कूल शुरू हुआ। बच्चों को पढ़ने के लिए सब मुफ्त था यहाँ तक की रिक्शा भी। लेकिन कुछ भूमाफियों ने स्कूल को जला डाला तब लल्लन उस दिन बहुत रोयी थी। फिर भी उसने हार नहीं मानी अपने जान पहचान वालों से चन्दा इक्कठा करके फिर से स्कूल खड़ा कर दिया। यही नहीं डांस और म्यूजिक की शिक्षा शुरू की।

भू-माफिया बहुत दिनों से स्कूल के जमीन के पीछे पड़े थे। इस बार जो ठोकर लगी तो लल्लन बिखर गई किसी ने भी नहीं सोचा था कि ऐसे भी होगा। सरकार ने बिल्डर को जज की कोठी बनाने के लिए जो जमीन दी वह जमीन लल्लन के स्कूल की जगह थी। स्कूल पर बुलडोजर चला तो लल्लन उसके सामने लेट गई। रात के अँधेरे में लल्लन को तीन-चार लोगों ने मार

दिया। लल्लन को अस्पताल ले जाने लगे पर तब सभी ने राम का जप शूरू किया इस जप पर लल्लन ने चिल्लाकर कहा- "लल्लन: चुप रहो, चुप रहो! खबरदार जो अल्लाह का नाम लिया, मुझे नहीं सुनना किसी भगवान का नाम... मुझे जो बनना था उन्होंने बना दिया... ले जा रहे हैं ले जाए तुम लोग अगर कुछ कहना चाहते हो तो कहो....बोलो लल्लन मिस....।"[5] लल्लन की मृत्यु हो गई बच्चें केवल लल्लन मिस लल्लन मिस ही बोलते हैं। यहाँ पर लेखिका सोचने के लिए मजबूर कर देती है कि- "स्कूल बिखर गया, लल्लन का ख्वाब भी बिखर गया तो क्या लल्लन मर गई? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले एक सवाल आप से पूछती हूँ... अगर आप लल्लन होते तो क्या करते?...चलिए... आपके नहीं...उनके किसी के भी हो सकते हैं? तो क्या इन बच्चों को समाज के बाहर फेंका जाना उनकी सजा है? पैदा हम लोग करते हैं, और कचरे पर लोगों को फेंकते हैं। एक अनजानी सजा भुगतने के लिए... क्यों... आखिर क्यों? इस पूरे नाटक में यही एक प्रश्न आप से करना है- "आखिर क्यों? आखिर क्यों? आखिर क्यों?"[6]

निष्कर्ष (Conclusion)

नाटक *'लल्लन मिस'* किन्नर समाज की दयनीय स्थिति, सामाजिक बहिष्कार और पहचान के संघर्ष को अत्यंत मार्मिक रूप में प्रस्तुत करता है। यह स्पष्ट होता है कि किन्नर समुदाय को समाज में समान अधिकार और सम्मान प्राप्त नहीं है। लल्लन का चरित्र शिक्षा, संघर्ष और आत्मसम्मान का प्रतीक है, जो विपरीत परिस्थितियों में भी हार नहीं मानता। नाटक यह संदेश देता है कि समाज को अपनी संकीर्ण मानसिकता से बाहर निकलकर तृतीय लिंग को समान अधिकार और अवसर प्रदान करने चाहिए। अंततः यह कृति मानवता, संवेदना और सामाजिक समावेशन की आवश्यकता पर बल देती है।

संदर्भ :

1. पाण्डेय, रमा. (2021). लल्लन मिस. दिल्ली : वाणी प्रकाशन. (अन्तर कथा से)
2. पाण्डेय, रमा. (2021). लल्लन मिस. दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. 30-35
3. पाण्डेय, रमा. (2021). लल्लन मिस. दिल्ली : वाणी प्रकाशन.पृ. 46
4. पाण्डेय, रमा. (2021). लल्लन मिस. दिल्ली : वाणी प्रकाशन.पृ. 56
5. पाण्डेय, रमा. (2021). लल्लन मिस. दिल्ली : वाणी प्रकाशन.पृ. 68
6. पाण्डेय, रमा. (2021). लल्लन मिस. दिल्ली : वाणी प्रकाशन.पृ. 70

Received: 23.01.2026 | Accepted: 25.01.2026 | Published: 30.01.2026

प्रथम विश्वयुद्ध और महात्मा गांधी

अक्षय कुमार अंजनी*
akshaykranjani9@gmail.com

सार (Abstract)

"प्रथम विश्वयुद्ध और महात्मा गांधी" विषयक यह शोध-पत्र गांधी जी के भारतीय राजनीतिक जीवन के प्रारंभिक चरण तथा प्रथम विश्वयुद्ध के संदर्भ में उनके योगदान और रणनीति का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। दक्षिण अफ्रीका से लौटने के पश्चात गांधी जी ने भारतीय परिस्थितियों को समझते हुए सत्याग्रह, अहिंसा और असहयोग जैसे सिद्धांतों का प्रयोग प्रारंभ किया। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान उन्होंने ब्रिटिश सरकार का सहयोग किया, किंतु साथ ही इस अवसर का उपयोग भारतीय समाज में अपने राजनीतिक और नैतिक प्रभाव को स्थापित करने के लिए किया। इस काल में चम्पारण सत्याग्रह (1917), खेड़ा सत्याग्रह (1918) और अहमदाबाद मिल हड़ताल (1918) जैसे आंदोलनों के माध्यम से गांधी जी ने किसानों और मजदूरों की समस्याओं को उठाया तथा सत्याग्रह की प्रभावशीलता सिद्ध की। इन आंदोलनों ने न केवल स्थानीय स्तर पर समस्याओं का समाधान किया, बल्कि राष्ट्रीय आंदोलन के लिए एक नई दिशा भी प्रदान की।

अतः यह शोध स्पष्ट करता है कि प्रथम विश्वयुद्ध की परिस्थितियों ने गांधी जी को भारतीय राजनीति में स्थापित होने का अवसर दिया और उन्होंने अपने सिद्धांतों का सफल प्रयोग कर स्वतंत्रता आंदोलन के लिए मजबूत आधार तैयार किया।

मुख्य शब्द (Keywords)

महात्मा गांधी, प्रथम विश्वयुद्ध, सत्याग्रह, चम्पारण सत्याग्रह, खेड़ा आंदोलन, अहमदाबाद मिल हड़ताल, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन, अहिंसा, असहयोग, किसान आंदोलन

प्रस्तावना (Introduction)

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में महात्मा गांधी का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण और युगांतरकारी रहा है। गांधी जी ने न केवल राजनीतिक संघर्ष को नई दिशा प्रदान की, बल्कि उसे नैतिकता, सत्य और अहिंसा जैसे उच्च मानवीय मूल्यों से भी जोड़ा। दक्षिण अफ्रीका में अपने संघर्ष के दौरान विकसित किए गए सत्याग्रह के सिद्धांतों को उन्होंने भारत में सफलतापूर्वक लागू किया।

प्रथम विश्वयुद्ध (1914–1918) का काल भारतीय इतिहास में एक संक्रमणकाल के रूप में देखा जाता है, जब वैश्विक राजनीतिक परिस्थितियों ने भारत के राष्ट्रीय आंदोलन को भी प्रभावित किया। इस समय एक ओर ब्रिटिश सरकार युद्ध में व्यस्त थी, वहीं दूसरी ओर भारत में राजनीतिक चेतना का विकास हो रहा था। गांधी जी ने इस परिस्थिति को समझते हुए एक संतुलित नीति अपनाई—उन्होंने ब्रिटिश सरकार को युद्ध में सहयोग दिया, साथ ही भारतीय जनता के बीच अपने विचारों और नेतृत्व को स्थापित किया।

चम्पारण, खेड़ा और अहमदाबाद जैसे आंदोलनों के माध्यम से गांधी जी ने भारतीय समाज के शोषित वर्गों—किसानों और मजदूरों—की समस्याओं को केंद्र में लाकर सत्याग्रह की शक्ति का परिचय दिया। इस प्रकार, प्रथम विश्वयुद्ध का

* **सहायक प्रोफेसर/इतिहास विभाग, टी. एन. बी. विधि महाविद्यालय, भागलपुर (बिहार)**

काल गांधी जी के राजनीतिक जीवन में प्रयोग और स्थापना का काल सिद्ध हुआ, जिसने आगे चलकर भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को व्यापक जनआंदोलन का स्वरूप प्रदान किया।

शोध प्रविधि (Research Methodology)

प्रस्तुत शोध-पत्र में **गुणात्मक (Qualitative) एवं विश्लेषणात्मक (Analytical) शोध प्रविधि** का प्रयोग किया गया है।

- इस अध्ययन के लिए मुख्यतः **द्वितीयक स्रोतों (Secondary Sources)** का उपयोग किया गया है, जिनमें इतिहास संबंधी ग्रंथ, जीवनी, शोध-पुस्तकें एवं प्रामाणिक लेख शामिल हैं।
- विभिन्न ऐतिहासिक ग्रंथों का **पाठ-विश्लेषण (Textual Analysis)** करते हुए गांधी जी के कार्यों, विचारों एवं आंदोलनों का अध्ययन किया गया है।
- **ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)** के अंतर्गत प्रथम विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि तथा उस समय की राजनीतिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया गया है।
- साथ ही **तुलनात्मक दृष्टिकोण (Comparative Approach)** अपनाते हुए चम्पारण, खेड़ा और अहमदाबाद आंदोलनों के प्रभाव एवं परिणामों का मूल्यांकन किया गया है।
- अध्ययन में **वस्तुनिष्ठता (Objectivity)** बनाए रखते हुए तथ्यों का क्रमबद्ध एवं तार्किक विश्लेषण किया गया है।

इस प्रकार, प्रस्तुत शोध प्रविधि के माध्यम से गांधी जी के प्रारंभिक आंदोलनों तथा प्रथम विश्वयुद्ध के संदर्भ में उनकी भूमिका का सम्यक् अध्ययन किया गया है।

भारत में शिक्षा पूरी करने के बाद गांधी जी उच्च शिक्षा के लिए इंगलैण्ड गए। वहाँ से बैरिस्टर की पढ़ाई समाप्त करने के बाद वह 1891 में स्वदेश वापस आ गए। भारत लौटने के बाद उन्होंने राजकोट एवं बम्बई में वकालत शुरू की। किन्तु इसमें उसे विशेष सफलता नहीं मिली। इसी समय (1893) दादा अब्दुल्ला के मुकदमें के सिलसिले में गांधीजी दक्षिण अफ्रीका चले गए। दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने सरकार की रंगभेद नीति के खिलाफ वर्षों तक सत्याग्रह आंदोलन चलाया जिसमें उन्हें व्यापक सफलता प्राप्त हुई।[1] 9 जनवरी 1915 ई. को गांधीजी दक्षिण अफ्रीका से भारत वापस लौटे।[2] यह समय विश्वयुद्ध का था। उन्होंने युद्ध कार्यों में सरकार का पूरा सहयोग और समर्थन किया और लोगों को बड़ी संख्या में सेना में भर्ती होने की अपील की। गांधीजी उस रणनीति के खिलाफ थे कि "अंग्रेजों पर कोई भी मुसिबत एक अवसर है, एक मौका है"।[3] परंतु उन्होंने भी अंदर ही अंदर यह महसूस किया की यही वह समय है जब दक्षिण अफ्रीका में प्रयुक्त सत्याग्रह रुपी तरकश के सभी तीरों (सत्य, अहिंसा, असहयोग, अवज्ञा, अनशन आदि) का परीक्षण भारतीय परिस्थितियों में किया जाय। प्रथम विश्वयुद्ध (1914-18) के दौरान गाँधी जी द्वारा तीन सत्याग्रह आंदोलन चलाए गए जो निम्नलिखित है-

(1) चम्पारण सत्याग्रह(1917):- 19 वीं सदी के आरंभ में गोरे बागान मालिकों ने किसानों से एक अनुबंध कर लिया था, जिसके तहत किसानो को अपनी जमीन के 3/20 वें हिस्से में नील की खेती करना अनिवार्य था। स्थानीय लोग इसे तिनकठिया पद्धति कहते थे।[4] इस व्यवस्था में, घनघोर शोषण व्याप्त था, जिससे किसानों में भोरी असंतोष का माहौल था। 19 वीं सदी के अंत में जब सस्ती जर्मन रसायनिक रंग बाजार में आई तो नील यूरोपीय बागान मालिकों के लिये घाटे का सौदा साबित होने लगा। अब वे नील की खेती बंद करना चाहते थे।[5] दूसरी ओर किसान भी नील की खेती करना नहीं चाहते थे ऐसे में गोरे बागान मालिकों ने किसानों की मजबूरी का फायदा उठाना चाहा। उन्होंने किसानों को अनुबंध से मुक्त करने के लिए लगान की दर एवं अन्य गैर करों में मनमाने ढंग से बढ़ोतरी कर दी। किसानों ने इसका कड़ा विरोध किया लेकिन बागान मालिकों की मनमानी चलती रही। इन परिस्थितियों में जब गांधी जी राजकुमार शुक्ल, के निमंत्रण पर 1917 में चंपारण पहुंचे तो वहाँ के कमीश्नर ने उन्हें यह आदेश दिया कि वे यहाँ से शीघ्र वापस चले जाएँ। परंतु, गांधी जी ने उस आदेश को मानने से इंकार कर दिया और सजा की परवाह न करते हुए सत्याग्रह का निश्चय किया।[7]

औपनिवेशिक हूकूमत गांधी जी को अबतक बगावती नहीं मानती थी और वह इस मसले को इस वक्त ज्यादा हवा देना नहीं चाहती थी। अतः सरकार ने कमिश्नर को अपना हुक्म वापस लेने के तथा गांधी जी को चंपारण के गाँवों में जाने देने का निर्देश

जारी किया। यह निर्देश गांधी जी की जीत थी। इसके बाद वे अपने कार्यों में जुट गये। इस कार्य में उन्हें ब्रज किशोर, राजेन्द्र प्रसाद, अनुग्रह नारायण सिंह, महादेव देशाई, नरहरि पारेख, जे. बी. कृपलानी आदि से भरपुर सहयोग मिला। इन्होंने हजारों किसानों के बयान को दर्ज किया।[8] बाद में जब सरकार ने सर Frank Slai की अध्यक्षता में एक जांच कमिटी गठित की तो उसका एक सदस्य गांधीजी को भी बनाया गया इस समिति ने सर्वसम्मति से न केवल तीनकठिया पद्धति समाप्त करने की बात की बल्कि बागान मालिकों द्वारा अवैध वसूली का 25 प्रतिशत किसानों को वापस करने, का भी निर्देश दिया।[9] इस प्रकार गांधी जी द्वारा भारत में प्रारंभ किया गया प्रथम सत्याग्रह सफल रहा।

इस समय सरकार द्वारा अवज्ञा के बावजूद गांधी जी के प्रति दिखाई गई उदारता का मूल कारण युद्ध जनित नाजुक परिस्थितियां थी। सरकार इस समय इस प्रकार के किसी भी उलझनों से जितना हो सके उससे बचना चाहती थी। अन्यथा, ज्यादा संभावना इस बात की थी की गांधी जी को समिति का सदस्य बनाना तो दूर उन्हें चम्पारण प्रवेश की ही अनुमति नहीं दी जाती। जैसा कि प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात रॉलट सत्याग्रह के दौरान गांधीजी के पंजाब प्रवेश के संबंध में देखने को मिला था।

(2) खेड़ा सत्याग्रह (1918):- युद्ध काल में महंगाई, खेतिहर मजदूरी में वृद्धि, प्लेग आदि से किसानों की हालत खराब थी। 1917 ई. में गुजरात के खेड़ा जिले में अनावृष्टि के कारण फसल बर्बाद हो गयी थी। किसान सरकार से मालगुजारी माफी की माँग कर रहे थे, जबकि सरकार किसानों से जबरन लगान की वसूली कर रही थी। नियमानुसार फसल का उत्पादन 25 प्रतिशत से कम होने की दशा में लगान माफी का प्रावधान था।[10] परंतु स्थानीय अधिकारी इस नियम का खुल्लम खुल्ला उल्लंघन कर रहे थे। इसके विरुद्ध, कठलाल कस्बे में नवम्बर 1917 से दो स्थानीय नेता मोहनलाल पांड्या और शंकरलाल पारिख ने एक लगानबंदी आंदोलन प्रारंभ कर दिया था। इन्होंने जनवरी 1918 में आंदोलन का नेतृत्व करने के लिये गांधी जी को आमंत्रित लिया। गांधी जी ने इस आमंत्रण को स्वीकार करते हुए 22 मार्च 1918 को आंदोलन का बागडोर अपने हाथों में ले लिया और सरकार के विरुद्ध "कर नहीं दो" आंदोलन चलाने का निश्चय किया।[11] गांधी जी ने इंदुलाल याज्ञनिक, बल्लभभाई पटेल, शंकरलाल बैंकर, अनसूया बैन, महादेव देसाई आदि के साथ खेड़ा जिले के विभिन्न गांवों का दौरा किया। इसी बीच गांधी जी को सूचना मिली कि सरकार ने अपने मातहतों को गुप्त निर्देश दिया है कि लगान उन्हीं किसानों से वसूला जाये जो देने की स्थिति में हैं।[12] ज्यूडिस ब्राउन के अनुसार लगभग 93 प्रतिशत लगान वसूल लिया गया था।[13] यद्यपि इस आंदोलन को पूर्णरूप से सफल नहीं कहा जा सकता परंतु फिर भी यह सत्याग्रह की विजय थी।

3.) अहमदाबाद मिल-हड़ताल (1918):- अहमदाबाद में जब प्लेग की समाप्ति हुई तो मिल मालिक मजदूरों को 1917 से दिए जा रहे "प्लेग बोनस" को समाप्त करना चाहते थे। मजदूरों ने इसका कड़ा विरोध किया, क्योंकि विश्वयुद्ध की वजह से कीमतों में लगातार बढोतरी हो रही थी। मज़दूर 'प्लेग बोनस' के बदले मजदूरी में 50 फीसदी बढ़ोत्तरी की मांग कर रहे थे[14] परंतु, मिल-मालिक इसके लिए तैयार नहीं थे। उन्हौने 20 प्रतिशत बोनस की घोषणा की और यह धमकी दी कि जो मजदूर उसे स्वीकार नहीं करेगा, इसे नौकरी से निकाल दिया जाएगा। ऐसे में मालिको के इस व्यवहार से क्षुब्ध होकर मजदूरों ने मार्च 1918 में गांधी जी के नेतृत्व में हड़ताल कर दी।[15] इस आंदोलन में अनुसूया बेन गांधी जी की मुख्य सहयोगी रही। इसी आंदोलन में गांधी जी ने सर्व प्रथम भारत में अनशन रूपी हथियार का प्रयोग किया था।[16] अनशन के चौथे दिन (18 मार्च 1918) ही मिल-मालिकों ने गाँधी जी की शर्तों को मानते हुए वेतन में 35 फीसदी बढ़ोतरी को स्वीकार कर लिया। यद्यपि यह आंदोलन भारतीय मिल-मालिकों के विरुद्ध था, तथापि इसमें जीत के लिए जिस अनशन रूपी हथियार का प्रयोग गांधी जी के द्वारा किया गया, वह आने वाले समय में सरकार के विरुद्ध प्रयुक्त की जाने वाली सबसे घातक और अचूक हथियार साबित हुई।

निष्कर्ष:-

इन तमाम पहलूओं को बारीकी से अवलोकन करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि प्रथम विश्वयुद्ध से उत्पन्न वैश्विक परिस्थितियों ने जहां एक ओर भारत में 'गदर' और 'होमरुल' आंदोलन का वातावरण तैयार किया वहीं दूसरी

और इसी समय गांधी जी ने, बड़ी खूबसूरती से चम्पारण, खेड़ा और अहमदाबाद से सत्याग्रह के माध्यम से दक्षिण अफ्रीका में प्रयुक्त अपने सत्य और अहिंसा रूपी कारगर हथियारों का भारतीय परिस्थितियों में सफल परीक्षण कर आने वाले समय के लिए खुद को पूरी तरह से तैयार कर लिया। अगर इस समय ब्रिटेन प्रथम विश्वयुद्ध में उलझा हुआ नहीं रहता तो इस बात की संभावना ज्यादा थी की शायद इस तरह के राजनीतिक हलचल भारत में देखने को नहीं मिलते।

संदर्भ :-

1. भास्कर, अरविन्द. *भारत का स्वतंत्रता संग्राम*. कमल पब्लिकेशन, सीकर (राजस्थान), 2022, पृ. 139–140.
2. शीन, विंसेंट. *गांधी जी: एक महात्मा की संक्षिप्त जीवनी*. प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, तृतीय संस्करण, नई दिल्ली, 2019, पृ. 89.
3. चंद्र, बिपिन. *भारत का स्वतंत्रता संघर्ष*. हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 2015, पृ. 154.
4. राय, हिमांशु. *भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद: एक अध्ययन*. हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, नई दिल्ली, 2013, पृ. 127.
5. वही, पृ. 127.
6. कुमार, प्रभात. *स्वतंत्रता संग्राम और गांधी*. हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 2015, पृ. 32.
7. श्रीवास्तव, कुमार उदय. *नील की खेती और चम्पारण सत्याग्रह*. प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, प्रथम संस्करण, नई दिल्ली, 2019, पृ. 79.
8. चंद्र, बिपिन. *भारत का स्वतंत्रता संघर्ष*. हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 2015, पृ. 156.
9. भास्कर, अरविन्द. *भारत का स्वतंत्रता संग्राम*. कमल पब्लिकेशन, सीकर (राजस्थान), 2022, पृ. 142.
10. वही, पृ. 143.
11. बंद्योपाध्याय, शेखर. *पलासी से विभाजन तक और उसके बाद: आधुनिक भारत का इतिहास*. ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्रा. लि., हैदराबाद (तेलंगाना), द्वितीय संस्करण, 2015, पृ. 291.
12. चंद्र, बिपिन. *भारत का स्वतंत्रता संघर्ष*. हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 2015, पृ. 158.
13. भास्कर, अरविन्द. *भारत का स्वतंत्रता संग्राम*. कमल पब्लिकेशन, सीकर (राजस्थान), 2022, पृ. 143.
14. सरकार, सुमित. *आधुनिक भारत 1885–1947*. राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, 2015, पृ. 205.
15. भास्कर, अरविन्द. *भारत का स्वतंत्रता संग्राम*. कमल पब्लिकेशन, सीकर (राजस्थान), 2022, पृ. 142.
16. कृपलानी, कृष्ण. *गांधी: एक जीवनी*. राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नई दिल्ली, 2019, पृ. 103.
17. कुमार, प्रभात. *स्वतंत्रता संग्राम और गांधी*. हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 2015, पृ. 34.

NOTES FOR AUTHORS

PADCHINHA: A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal

1. Submissions

Authors should send all submissions and resubmissions to padchinha@muditeducation.com some articles are dealt with by the editor immediately, but most are read by outside referees. For submissions that are sent to referees, we try to complete the evaluation process within one month. As a general rule, Padchinha operates a double-blind peer review process in which the reviewer's name is withheld from the author and the author's name is withheld from the reviewer. Reviewers may at their own discretion opt to reveal their name to the author in their review, but our standard policy is for both identities to remain concealed.

Absolute technical requirements in the first round are: ample line spacing throughout (1.5), an abstract, adequate documentation using the author-date citation system and an alphabetical reference list and a word count on the front page (include all elements in the word count). Regular articles are restricted to an absolute maximum of 8,000 words, including all elements (title page, abstract, notes, references, tables, biographical statement, etc.).

2. Types of articles

In addition to Regular Articles, Padchinha publishes the Viewpoint column with research-based policy articles, Review Essays, Book Review and Special Data Features.

3. The manuscript

The final version of the manuscript should contain, in this order:

(a) title page with name(s) of the author(s), affiliation and Email

(b) Abstract

(c) Main text

(d) List of references

(e) Biographical statement(s)

(f) Tables and figures in separate documents

(g) Notes (either footnotes or endnotes are acceptable)

Authors must check the final version of their manuscripts against these notes before sending it to us.

The text should be left justified, with an ample left margin. Avoid hyphenation. Throughout the manuscripts, set line spacing to 1.5.

The final manuscript should be submitted in MS Word for Windows.

4. Language

Padchinha is a Bilingual Journal, i.e. English and हिंदी. The main objective of an academic journal is to communicate clearly with an international audience.

Elegance in style is a secondary aim: the basic criterion should be clarity of expression. We allow UK as well as US spelling, as long as there is consistency within the article. You are welcome to indicate on the front page whether you prefer UK or US spelling.

5. The abstract

The abstract should be in the range of 200-300 words. For very short articles, a shorter abstract may suffice. The abstract is an important part of the article. It should summarize the actual content of the article, rather than merely relate what subject the article deals with. It is more important to state an interesting finding than to detail the kind of data used: instead of 'the hypothesis was tested', the outcome of the test should be stated. Abstracts should be written

in the present tense and in the third person (This article deals with...) or passive (... is discussed and rejected). Please consider carefully what terms to include in order increasing the visibility of the abstract in electronic searches.

6. Title and headings

The main title of the article should appear at the top of pg. 1, followed by the author's name an institutional affiliation. The title should be short, but informative. All sections of the article (including the introduction) should have principal subheads. The sections are not numbered. This makes it all the more important to distinguish between levels of subheads in the manuscripts – preferably by typographical means.

7. Notes

Notes should be used only where substantive information is conveyed to the reader. Mere literature references should normally not necessitate separate notes; see the section on references below. Notes are numbered with Arabic numerals. Authors should insert notes by using the footnote/endnote function in MS Word.

8. Tables

Each Table should be self-explanatory as far as possible. The heading should be fairly brief, but additional explanatory material may be added in notes which will appear immediately below the Table. Such notes should be clearly set off from the rest of the text. The table should be numbered with a Roman numeral, and printed on a separate page.

9. Figures

The same comments apply, except that Figures are numbered with Arabic numerals. Figure headings are also placed below the Figure. Example: Figure 1.

10. References

References should be in a separate alphabetical list; they should not be incorporated in the notes. Use the APA form of reference.

11. Biographical statement

The biosketch in Padchinha appears immediately after the references. It should be brief and include year of birth, highest academic degree, year achieved, where obtained, position and current institutional affiliation. In addition authors may indicate their present main research interest or recent (co-)authored or edited books as well as other institutional affiliations which have occupied a major portion of their professional lives. But we are not asking for a complete CV.

12. Proofs and reprints

Author's proofs will be e-mailed directly from the publishers, in pdf format. If the article is co-authored, the proofs will normally be sent to the author who submitted the manuscripts. (Corresponding author). If the e-mail address of the corresponding author is likely to change within the next 6–9 months, it is in the author's own interest (as well as ours) to inform us: editor's queries, proofs and pdf reprints will be sent to this e-mail address. All authors (corresponding authors and their co-authors) will receive one PDF copy of their article by email.

13. Copyright

The responsibility for not violating copyright in the quotations of a published article rests with the author(s). It is not necessary to obtain permission for a brief quote from an academic article or book. However, with a long quote or a Figure or a Table, written permission must be obtained. The author must consult the original source to find out whether the copyright is held by the author, the journal or the publisher, and contact the appropriate person or institution. In the event that reprinting requires a fee, we must have written confirmation that the author is prepared to cover the expense. With literary quotations, conditions are much stricter. Even a single verse from a poem may require permission.

R.N.I. - UPHIN/2011/37086

भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली द्वारा प्रायोजित तथा महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा द्वारा आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी (24, 25 फरवरी 2025) में प्रस्तुत शोध पत्रों का संकलन 'पदचिन्ह' पत्रिका के विशेषांक में प्रकाशित हुआ। इस विशेषांक का लोकार्पण संगोष्ठी के समापन सत्र में सम्पन्न हुआ।

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा द्वारा आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी (अक्टूबर 2024) में प्रस्तुत शोध पत्रों का संकलन 'पदचिन्ह' पत्रिका में प्रकाशित हुआ, जिसका लोकार्पण संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र में किया गया।

के. एस. ई. संस्था, कर्नाटक द्वारा 10 जुलाई 2024 को आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-पत्रों का संकलन 'पदचिन्ह' पत्रिका के विशेषांक में प्रकाशित किया गया, जिसका लोकार्पण संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र में संपन्न हुआ।

पदचिन्ह के लिए प्रकाशक अजय परमार, बी.- 30/239, नगवां, लंका वाराणसी द्वारा प्रकाशित और सूर्या आफसेट, 30, विवेकानंद कालोनी, मलदहिया, वाराणसी में मुद्रित।

संपादक : डॉ. अजय परमार एवं सह-संपादक : डॉ. पंकज कुमार सिंह

Contact: 9823696685 *E-mail: padchinha@muditeducation.com*